कमला प्रसाद

वरिष्ठ आलोचक कमला प्रसाद का जन्म 14 फरवरी 1938 को गांव धौरहरा, सतना (मध्य प्रदेश) में हुआ। अध्यापन के क्षेत्र में वर्षों जुटे रहने वाले कमला प्रसाद मध्य प्रदेश कला परिषद् भोपाल के निदेशक और केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा के उपाध्यक्ष भी रह चुके हैं। साहित्य शास्त्र, छायावाद-प्रकृति और प्रयोग, छायावादोत्तर काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, साहित्य और विचारधारा, आधुनिक हिन्दी कविता और आलोचना की द्वंद्वात्मकता, मध्ययुगीन रचना और मूल्य जैसी अनेकों आलोचना की पुस्तकों के अतिरिक्त अभी हाल ही में 'यात्री की डायरी' नाम से डायरी प्रकाशित हुई है। वर्षों 'पहल' के संपादक रहे हैं। वर्तमान में राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव और प्रगतिशील वसुधा, त्रैमासिक पत्रिका का संपादन कर रहे हैं।

सम्पर्क : एम-31, निराला नगर, मौसम कॉलोनी के पास, भदभदा रोड, भोपाल

फोन : 0755-2772249

मो. : 09425013789

मूल्य : 150.00 रुपये (साधारण)
: 225.00 रुपये (सजिल्द)

ISBN 978-81-7007-217-1

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ (2000 - 2010) - कमला प्रसाद

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ

(2000 – 2010)

सम्पादक

कमला प्रसाद

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.

प्रकाशकीय

पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि. नई दिल्ली की श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशन योजना के अन्तर्गत आज़ादी के बाद छय संकलनों में हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है। संकलनों में लेखकों का क्रम कहानी दशकों के अनुसार किया गया है, पर उनकी कहानियों को दशकों से मुक्त रखा गया है। संपादकों ने कोशिश की है कि लेखकों की यथासंभव श्रेष्ठ कहानियाँ चुनी जायें और संकलन में सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व हो सके। संकलनों की पृष्ठ संख्या को अतिविस्तार से बचाने के आग्रह में कुछ और महत्वपूर्ण लेखकों को शामिल नहीं किया जा सका। इसके लिए हमें खेद है।

आशा है ये संकलन पाठकों के लिए उपयोगी और सार्थक प्रमाणित होंगे।

–प्रकाशक

भूमिका

समकालीन युवा कहानी लेखक तथाकथित उदारीकरण की कोख से जन्म ले रहे समाज की एक झलक पेश करते हैं। लोग अनुभव करते हैं कि इस समय में मानवीय संबंधों की दीर्घकालिक समर्पणशीलता टूट रही है। परम्परागत संबंधों में सबसे टिकाऊ होता था–प्रेम संबंध। स्त्री–पुरुष प्रेम तथा उसके बाद परिवार के अन्य सदस्यों का परस्पर प्रेम। गाँव–शहर से लेकर दुनिया के बीच बिखरा मानवीय प्रेम। इस समय में संबंधों को जोड़ने वाले गहरे, सदियों से चले आए, रसायन सूखते जा रहे हैं। सम्प्रति प्रेमी–प्रेमिका के बीच सौदेबाजी होती है। यौन–शुचिता आड़े नहीं आती। युवा–पीढ़ी की परस्पर निकटता और फिर जासूसी अपनी–अपनी चालों की कूटनीतिक गोपनीयता– सब कुछ जायज है। जासूसी के लिए कंपनियाँ बन गई हैं। कहानियाँ केवल एक मनोव्यापार पर नहीं लिखी जातीं। कम कहानियाँ होती हैं जिन्हें निखालिस प्रेम कहानी कहा जाए। एक बार हुआ तो जीवन न्योछावर। लेखक पाठकों को सूचनाओं–जानकारियों के सहारे दूर तक ले जाता है। स्थितियों के आस–पास मंडराते हुए लेखक, पाठकों को स्थितियों के भीतर धंसने के लिए छोड़ता है। वह विमर्शकार है। नतीजों की हड़बड़ी नहीं है। कहानी के अंत के लिए उसकी प्रतिज्ञाएं कम हैं। लेखक कहता है–यही दृश्य है इसे देखो और जानो। बाज़ार से गुजरते हो, ठहरकर जरा इसका सामना तो करो। अपने और बाजार के सामने आइना तो लगाओ। अब कलम मशाल नहीं है सूचनाओं का घर है, चित्र बनाने की कूची है। ध्यान रखने की बात है कि दृश्य में यही एक प्रवृत्ति नहीं है।

महिला लेखिकाओं के अनुभव केवल महिला समाज के नहीं हैं। वे अपनी

मुक्ति को समाज के साथ मिलाकर देखती हैं। अपने अंतरंग को सामाजिक आजादी से जोड़ती हैं। नागरिक अधिकारों से वंचित रहकर जो त्रासदी भोगी है उससे बाहर आने का संघर्ष सामाजिक संघर्ष का हिस्सा है। जीवन के विविध क्षेत्रों तक इनकी पैठ है। समाज के अनेक आलम्बन कहानियों में आते हैं। हिंदी भाषा के ये लेखक बाज़ारवादी समय के आगे समर्पण नहीं करते। उसके प्रति निषेध का भाव भी नहीं रखते। टकराते हैं और पार पाने की कोशिश करते हैं। समय के लक्षणों को समय की भाषा में लिखते हैं। ग्लोबल प्रसंगों को स्थानीय बनाते हैं। अनावश्यक विस्तार से परहेज नहीं करते। इन्टरनेट से जुड़े हैं। इसलिए जानकारियों से भरे हैं। ज्ञान–विज्ञान के नए–नए प्रयोगों की भाषा जानते हैं। इसीलिए जब भाषा से खेलते हैं तो चलन में नए–नए शब्दों को लाते हैं। सूचनातंत्र के शब्दों को चलाते हैं। अब तक चलन से बाहर वर्जनामूलक शब्दावली का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। भावुकता का तिरोभाव इस कहानी दृश्य का सामान्य लक्षण है। कहीं–कहीं सेक्स आबजेक्ट बन जाता है। महिला लेखिकाएं पुरुषों की सेक्स कुण्ठाओं को लिखती हैं। सामाजिक जीवन में–यात्रा करते, दफ्तर में काम करते या किसी भी मोर्चे में पुरुषों की कुण्ठित हरकतों को महिलाएं खेलते हुए झेलती और कहानियों में ब्योरे देती हैं। बलात्कार के दृश्य ऐसे आते हैं जैसे खेल के विषय हों। इस दौर में व्याप्त साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा पर श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी गई हैं। इन कहानियों में लेखक अतीत की रूढ़ियों से जूझते हें। नंगे यथार्थ से टकराते हुए आक्रामक हो जाते हैं। भूत–प्रेत, जन्म पुनर्जन्म पूजा–पाठ और कर्मकाण्ड जैसी प्रवृत्तियों का मज़ाक उड़ाते हैं। पुराकथाओं का नया पाठ करते हैं। रोग के जड़ों पर प्रहार करते हैं। प्रतीक और फैन्टसी का इस्तेमाल बखूबी होता है। लोककथाओं का अपनी जरूरत के अनुसार पाठ करते हैं। यथार्थ से निकलकर कल्पना के सहारे यथार्थ से मुक्त हो जाते हैं। कहीं–कहीं अति यथार्थवाद या जादुई यथार्थ की झलक मिलने लगती है। परम्परा से सीखते हुए परम्परा को भी बदलते हैं। नया अर्थ पैदा करते हैं। भाषा के परम्परागत अर्थों को खोकर कूट अर्थ के लिए भाषा उपकरण का काम करती है। मनुष्य के सामने बिछे दु:स्वप्नों को व्यक्त करने के लिए अतिशयोक्तियों का सहारा लेते हैं। इनके लिए कहानी स्वत:स्फूर्त न होकर आविष्कार होती है। आविष्कार में इच्छाएँ–आकांक्षाएँ और सपनों को बुनना आसान हो जाता है।

इक्कीसवीं शताब्दी ने कहानी के क्षेत्र में एक नई शुरुआत की है। इसकी अन्तर्वस्तु और संरचना–दोनों में परम्परा से विलगाव है। विशेष बात लक्षित हो रही है कि कुछ लेखक लम्बी कहानियाँ लिख रहे हैं। लम्बी कहानियों की उल्लेखनीय

शुरुआत उदयप्रकाश और अखिलेश ने विशेष रूप से की है। इसी पीढ़ी के कई कथाकारों ने अपनी संगति और प्रेरणा उदयप्रकाश से व्यक्त की है। लम्बी कहानियों के रेखाकन योग्य पक्ष हैं–ब्योरों की भरमार। छोटी-छोटी चीजों, घटनाओं, स्थितियों में इतने ब्योरे छिपे हैं। पढ़ते हुए लगे कि पहले इन ब्योरों पर ध्यान क्यों नहीं गया। इन स्थितियों में कितनी बातें छिपी हैं जिन्हें लोगों ने पहले स्पर्श नहीं किया था। कितने अनछुए प्रसंग हैं। कितना सूक्ष्मपर्यवेक्षण है। इनकी कहानियों के ब्योरे सपाट नहीं होते। ये ब्योरे नया-नया आख्यान बनाते हैं, प्रतीक हमारे समय लक्षणों को तीव्रता से उजागर करते हैं। कहानी की यह नई संरचना है। बचपन में चौपाल में सुने किस्से याद आते हैं। रात-रात सुने जाते थे। इतने ब्योरे, इतनी शाखाएं और श्रोता के लिए इतना कथारस किस्से याद आते हैं। रात-रात सुने जाते थे। इतने ब्योरे, इतनी शाखाएं और श्रोता के लिए इतना कथारस कि नींद उड़ जाए। किस्सा तोता मैना, पंचतंत्र, कथा सरितसागर आदि की कहानियाँ लोक में अपने-अपने स्थानीय रंग में डूबकर तैरती रहती थीं। पुराणों के श्रोता इसलिए खूब होते थे–क्योंकि उनमें कथारस होता था। लोक की यह परम्परा कथारस के आधार पर असमापनशील तथा रचनात्मक रही है। इस दौर की कहानियों में इतना आत्मीय कथा रस तो नहीं है–पर कई कहानियाँ किस्सागोई की तरफ़ झुकती हुई हैं। चीजों के आर-पार जाने का यह अंदाज इन लेखकों को अगली कड़ी में ले जाता है। कहानियों की संरचना में आए बदलाव को देखते हुए प्राय: पूंछा जा सकता है कि ये कहानियाँ क्या उपन्यास का लघुत्तम रूप हैं, क्या उपन्यास का पूर्वाभ्यास हैं, क्या लम्बी कहानी जैसा कोई अलग रूप है। इस प्रश्न के आलोक में पूरा कहानी यात्रा की देखें तो स्पष्ट होगा कि कहानी का विधागत रूप हमेशा बदलता रहा है। निबन्ध और कहानियाँ तो हमेशा एक-दूसरे को समृद्ध करते रहे हैं। उपन्यास और कहानी का रिश्ता गहरा है। इस दौर की ये लम्बी कहानियाँ पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें निश्चय औपन्यासिक लक्षण हैं। बदली तकनीक ने देश काल की दूरियाँ मिटा दी हैं। काल बोध-अनेक कालों के साथ सिमट आता है। कई काल और कई समय एक साथ देखे जा सकते हैं। इंटरनेट में बैठकर कितनी कहानियाँ-उपन्यास पढ़ सकते हैं। सूचना के विस्फोट और इलेक्ट्रानिक प्रौद्योगिकी का यह सकारात्मक प्रयोग है। ज्यादातर शहरों में बसे ये कहानीकार इस प्रोद्योगिकी के पाठक हैं। वे दुनिया को हजार आँखों से देखते हैं। कई लोग तो कहानियाँ भी कम्प्यूटर में ही लिखते हैं। स्मृति भी कम्प्यूटर में है। इसलिए इनकी कहानियों में किन्हीं अन्य लेखकों या कहीं से प्राप्त सूचनाओं की छायाऐं तैरती दिख जाएँ तो आश्चर्य नहीं होना

चाहिए। रचना दोष तब होता है जब उन सबको नई रचना संरचना का हिस्सा न बनाया जा सके। ऐसे लेखक हैं जो सूचनाओं का, रचना का हिस्सा नहीं बन पाते। गौर कीजिए इधर हमारे भीतर भूगोल के भाव का तिरोभाव हो रहा है। राष्ट्रवाद की संकीर्णता भीतर तक नहीं धंसती। संकीर्णताएँ इधर लेखकों के मिज़ाज़ में नहीं हैं। विचारधारा से परहेज सभी लेखकों को नहीं है। विज्ञान की प्रगति को ये लेखक सकारात्मक ढंग से ग्रहण करते हैं। गतिशील जीवन दृष्टि के हिमायती हैं। परम्परा से टकराकर नया कुछ करने के आग्रही हैं। इनकी अभिव्यक्तियाँ-उक्तियाँ भाषा को अद्यतन रूप देती हैं। इनकी भाषा औद्योगिक समाज की भाषा है। इन्होंने फिल्मी तकनीक से दृश्य भाषा का विकास किया है। इससे कई कहानियों का इस्तेमाल फिल्मों या रंगमंच के अनुकूल हैं। लांग-शार्ट शार्ट्स की प्रविष्टियां मौजूद हैं। कहानियों का विकास ऐपिक की तरह करते हैं। कुल मिलाकर इनकी कहानियों के संरचनात्मक लक्षणों में रचना की नई सौंदर्यदृष्टि मौजूद है। यह अभी आरंभिक अवस्था में है–इसलिए भविष्य का प्रारूप निर्धारित करना जल्दबाजी होगी। इन्हें फतवों से खारिज करना उचित नहीं है। इनके प्रस्थान का स्वागत किया जाना चाहिए।

मोहम्मद आरिफ़ बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आई सांस्कृतिकवाद और बाज़ारमुखी जीवन प्रणाली के गंभीर पारखी लेखक हैं। उनके दो कहानी संग्रह 'फिर कभी' और 'फूलों का बाड़ा' काफ़ी चर्चित रहे हैं। बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने के बाद अल्पसंख्यकों की जिन्दगी में मनोवैज्ञानिक रूप से आए बदलाव को उपन्यास 'उपयात्रा' गहरी मानवीय संवेदना के साथ चित्रिता करता है। 'कागज का जहाज', 'लू', 'मौसम', 'फूलों का बाड़ा' तथा 'तार' विशेष उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

मोहम्मद आरिफ़ की कहानी 'तार' विभाजन के अब तक मौजूद परिणामों की न केवल पहचान करती है, वरन् लोकतंत्र के नियामकों पर कटाक्ष भी करती है। इस कहानी में मुख्य रूप से दो पात्र हैं कहानी का वाचक मैं और रहमान! कहानी-दोनों के ज़रिए कही गई है। कहानी के बीच का गद्य का एक टुकड़ा है 'मोर छाप चिब्बी के नीचे लिखा होता था-यह तेल दिल्ली, श्रीनगर, अमृतसर, लाहौर और पेशावर तक जाता है। जबकि बंटवारे के बाद यह तेल पाकिस्तान नहीं जाता था, लेकिन चिब्बी पर इबादत बरकरार थी। पिछले साल की ही बात है। रात में पुलिस और एस.टी.एफ. ने धावा बोला और सबको उठाकर ले गए। इलज़ाम लगाया कि शीशियों में यहाँ से तेल भरकर जाता है और वहीं से तवाही का लिक्विट आता है।' सरकारी हस्तक्षेप के कारण पुरखों-से चला आता तेल का व्यवसाय रहमान ने बंद कर दिया। नया

व्यवसाय सोचा–लॉटरी का। कम्पनी का नाम रखा–'अलफ़ावदा लॉटरी सेंटर'। महज़ ध्यान खींचने के लिए यह नाम चुना। पुलिस द्वारा फंसाए जाने का दूसर आधार बना। कहानी विभाजन के जिस आधार को खोजती है उसकी जड़ें 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम तक जाती हैं। आरिफ़ ने सधी भाषा में वर्ग समाज के इसी विभाजनकारी अमानवीय स्रोत की गंभीर पड़ताल की है।

पंकज मित्र युवा पीढ़ी के अपेक्षाकृत प्रौढ़ कथाकार हैं। उनके दो कहानी संग्रह–'क्विज मास्टर और अन्य कहानियाँ' तथा 'हुडुकलुल्लू' प्रकाशित हैं। उनकी अनेक कहानियाँ–जैसे 'बिलौती महतो की उधार फिकिर', 'क्विज मास्टर', 'हुडुकलुल्लू' 'क्विज मास्टर' और 'निकम्मों का कोरस'–विशेष रूप से रेखांकित की गई हैं। पंकज ने आमतौर ग्राम जीवन में प्रवेश करते शहरों की पड़ताल की है। एक जूठा जीवन गाँवों को बदरंग बना रहा है। 'विलौती महतो की उधार फिकिर' में इस प्रवृत्ति को अच्छी तरह से पकड़ा गया है।

'क्विज मास्टर' कहानी किंचित भिन्न कहानी है। हमारे समय में अंग्रेजी भाषा ने एक हीनग्रंथि और आभिजात्य पैदा किया है। इसी का शिकार एक छोटे शहर का एक क्विज मास्टर है। उसकी अंग्रेजी बोलने की क्षमता और क्विज़ प्रतियोगिता का अदाकारी के साथ संचालन, उसे सस्ती लोकप्रियता का कृत्रिम संतोष देता है। 'क्विज मास्टर्स डिसीजन इस फाइनल' वाक्य बोलकर बहुत गर्वीला हो जाता है। बचपन में कलेक्टर हसवंश सिंह की बेटी गुरप्रीत कौर की प्रतियोगिता में उसने अंग्रेजी तो ठीक कर ली थी–पर और कितनी बराबरी करता। उसने तो अन्ततः उसे 'ओ पुअर चैप' ही कहा था। कॉलेज में अंग्रेजी का अध्यापक होकर क्विज़ मास्टर 'क्विज ग्रैण्ड शो' का आयोजन कर सकता है, पर बाल–बच्चों की ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकता। उसे क्विज़ मास्टर की जिन्दगी को लॉक कर दिया था। जैसे और आगे बढ़ने का हौसला ही नहीं बचा। यहाँ तक कि ट्यूशन पढ़ाने वालों तक के सामने हँसी का पात्र बनता है। आर्थिक सीमाएं समझ में आने पर वह स्वयं ट्यूशन पढ़ाने लगता है। कुल मिलाकर कहानी सस्ती लोकप्रियता के अहंकार तथा अभिजन समाज की नकली उदारता की समीक्षा करती है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ कथित उत्तर आधुनिक समाज की जाँच–पड़ताल करने वाली प्रसिद्ध लेखिका हैं। उनके तीन कहानी संग्रह–'बौनी हुई परछाईं', 'कठपुतलियाँ' और 'कुछ भी तो रूमानी नहीं' प्रकाशित हैं। 'कठपुतलियाँ' कहानी इसी शीर्षक के संग्रह से ली गई है। मनीषा अपनी कहानियों में ऐसे चरित्रों की तलाश करती हैं जिनका

जीवन और आवाज़ व्यापारिक समाज में अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वे पात्रों की रचना के समय उनके व्यक्तित्वों के अनेक स्तरों का उद्‌घाटन करती हैं। कठपुतलियाँ, 'स्वॉग' और 'कुरजॉ' मनीषा की उल्लेखनी कहानियाँ हैं। इस संकलन में 'कठपुतलियाँ' संकलित हैं। यह कहानी मुख्यरूप से जैसलमेर के ग्रामीण परिवेश की है। तीन पात्र हैं–सुगना, रामकिसन और जोगिन्दर। सुगना का विवाह पिता ने जोगिन्दर से तय किया पर पिता की मृत्यु के बाद माँ ने लेन-देन के कारण तोड़कर कठपुतलियों का खेल–दिखाने वाले लँगड़े तीस वर्ष की उम्र के दो बच्चों वाले विधुर से करा दिया। सुगना की माँ को किसी और के साथ जिन्दगी बसानी थी इसलिए जल्दी–जल्दी उसने लड़की का ब्याह निपटा दिया। रामकिसन के घर में पहले की औरत के दोनों बच्चों को सम्हालना, पूरे दिन पति की अनुपस्थिति में घर का कामकाज और प्रतीक्षा करना, रेगिस्तानी क्षेत्र के कारण पानी की किल्लत से दूसरे गाँव कुलधरा के कुयें से पानी लाना दिनचर्या थी। रामकिसन के अलावा नयी व्याहता जवान औरत के सपनों को समझने वाला और कौन होता? पर उसके लिए तो वह बच्चों को सँभालाने वाली और जरूरत के मुताबिक यौन सुख देने वाली औरत मात्र थी। इसी दिनचर्या में कुधरा कुयें से पानी लेने आते–जाते उसकी भेंट जोगिंदर से हुई, जिसके साथ उसकी शादी टूट गई थी। दोनों की देखा–देखी भावनात्मक आत्मीयता स्थापित हो गई। रामकिसन ने भाँप लिया। सुगना गर्भवती हुई तो पति को संदेह हुआ। रामकिसन की माँ ने जाति दण्ड दिलवाने की ठान ली। जाति पंचायत हुई। सुगना ने बयान में दृढ़ता से कहा कि पेट का बच्चा रामकिसन का ही है। सुगना अग्नि परीक्षा में सफल हुई। पंचायत होते समय जोगिन्दर वहाँ मड़राता रहा। सुगना से अनुरोध करता रहा कि वह उसके साथ भाग जाए। गर्भ के बच्चे को जोगिन्दर से जोड़ दे। हर्जाने की राशि व दे देगा। सुगना ने अपने प्रेम और शारीरिक जरूरतों को किनारे कर दिया। दो छोटे–छोटे बच्चों नंद–वंशी के लिए रामकिसन के साथ रहना पसन्द किया। वह ऐसी समूची औरत बन गई जो केवल देह मुक्ति के लिए आजाद नहीं होना चाहती।

संजय कुंदन इस पीढ़ी के विशिष्ट कथाकार हैं। उनका व्यक्तित्व अनेक आयामी है। दो काव्य संग्रह तथा कहानी संग्रह–'बॉस की पार्टी' प्रकाशित है। कहानियों में राजनीति, संस्कृति, विचारधारा, सूचना–संचार आदि का मंथन मिलता है। इनकी कहानियाँ उत्तर आधुनिक छलावों को प्रकट करती हैं तथा मुठभेड़ की नए प्रतीकों–बिम्बों–मुहाबरों से भाषा को समृद्ध करते हैं। कहानी की पठनीयता बनाए रखना इनकी विशेषता है। 'गाँधी जयन्ती', 'मेरे सपने वापस करो', 'बॉस की पार्टी', 'ऑपरेशन

माउस' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय रही हैं। संकलन में 'बॉस की पार्टी' ली गई है।

एक निजी कम्पनी में असिसटेंड मैनेजर-देवेश कुमार मुख्य पात्र हैं। देवेश को चुपचाप काम करना आता है, अपने बॉस को खुश करना नहीं। इसी कारण उसके पीछे वाले पदोन्नति पाकर आगे बढ़ गए और वह जहाँ का तहाँ बना रहा। इस बार उम्मीद थी। उम्मीद से पत्नी-बच्चे तथा उसके स्वयं के सपने जुड़े थे। पदोन्नति सूची जारी हुई तो उसे छोड़ दिया गया। पूँछने पर बॉस ने बताया कि उसकी बॉडी लैंग्वेज/व्यवहार ठीक नहीं। हँसता नहीं। कम्पनी में इन्वाल्ब नहीं है। अच्छी हिन्दी में लिखने के कारण बॉस उसे 'कवि जी' कहकर मज़ाक करता। फिर चूक जाने पर देवेश ने बॉस की खुशामद करने की सोची। हँसने का अभ्यास करने लगा। बाँस के जन्म दिन की पार्टी में अनामंत्रित गया और बधाई दी। मेहमानों की माँग पर कविताएँ सुनाकर वाह-वाही पाई। बॉस तथा मेहमानों की हँसी के साथ हँसने लगा तो लोग उससे विदकने लगे। दो चार बार हँसा तो चिढ़कर उसे स्टोर रूप में बन्द कर दिया गया। पार्टी समाप्त होने पर उसे कार में बैठाकर बस अड्डे तक बॉस के ड्राइवर ने पहुँचा दिया। ड्राइवर ने बताया कि वह हँसते हुए कुत्ते-सुअर की आवाज निकालता है। बॉस ने समझा कि वह बदले की भावना से पार्टी खराब कर रहा है। हँसी के कुत्ते-सुअर की आवाज निकालता है। यह सुनकर देवेश को अच्छी उन्मुक्त आ गई। लेकिन बॉस के सामने देवेश यहाँ भी असफल सिद्ध हो गया। उसने याद किया कि बचपन के एक गहरे आघात ने उसकी हँसी गायब कर दी थी। उसमें स्वाभाविक हँसी नहीं बची है। 'बॉस की पार्टी' कहानी हमारे तथाकथित समाज की विकास यात्रा में शामिल मध्यवर्ग की दीनदशा का चित्रण होने के कारण मार्मिक बन पड़ा है।

कुणाल सिंह अपनी पीढ़ी के प्रतिभा सम्पन्न कथाकार हैं। कुणाल का कहानी लिखने का हुनर, भाषा और कथ्य का अनोखापन, विशिष्ट बनाता है। कथनभंगिमा निराली है। एक कहानी संग्रह 'सनातन बाबू का दामपत्य' अपने समय में महत्त्वपूर्ण ढंग से रेखांकित हुआ है। 'इति गोंगेशपाल', 'सनातन बाबू का दामपत्य', 'इतवार नहीं', 'रोमियो, जूलियट और अंधेरा'-चर्चित कहानियाँ हैं। इस संकलन में 'इतवार नहीं' संकलित है। आकार में इनकी और कहानियों से छोटी है। कहानी में, वाचक 'मैं' अखबार का सीनियर प्रूफरीडर है। कई कर्मचारी उससे नीचे पायदान में हैं। हफ्ते में छह दिन की बंधी दिनचर्या है। अलार्म से सुबह उठना-कल्याणी फास्ट एक्सप्रेस पकड़ना, सही समय दफ्तर पहुँचना और काम में लग जाना। टाईपिस्ट ने स्क्रिप्ट टाइप की। दो लोगों ने रीडिंग की। तीसरी और अंतिम रीडिंग सीनियर प्रूफरीडर ने की।

उसके बाद सीधे छपाई। सुबह जागने से रात के सोने तक के समय और काम में कोई अन्तर नहीं। सब कुछ निर्धारित नीरस काम में। इस जिन्दगी में फिसते-फिसते प्रूफ रीडिंग के संकेत-अंदर तक धंस गए हैं। स्क्रिप्ट में काटना, जोड़ना, घटाना, बदलना, पीछे देखो, ऊपर नीचे करो, स्क्रिप्ट से मिलाओ और फिर डेडलाइन आदि सबके संकेत। प्रूफ रीडर ही जानें। संकेतों की रगड़ ने जिन्दगी के अपने आजाद पलों में भी अपनी जगह बना ली है। वाचक के शब्दों में, 'उस नीम अंधेरे गौरी (पत्नी) कई बार मेरे हाथ आते-आते बची। अंधेरे का फायदा उठाकर मैं उसे अपने हाथों से फिसलता देखता रहा। अंत में सूर्योदय की डेडलाइन ने लुका छिपी का खेल खत्म करा दिया। गौरी की ढेर सारे काम निपटाने थे। (ऊपर के पैरे की अंतिम पंक्तियाँ यहाँ शिफ़्ट करें-सीनियर प्रूफ रीडर) वह रसोई में चली गई।'

कहानी में नौकरी पेशा लोगों की ढर्रों में ढली ज़िन्दगी का सटीक चित्रण है। रविवार का दिन मुक्ति का ज़रूर है-पर पहले के छह दिन तब भी गूँजते रहते हैं। रविवार को पत्नी हँसती है। मज़ाक करती है। मुक्त करना चाहती है। वाचक को रोमैंटिक बनाना चाहती है-पर अवचेतन तक धंसी नीरवता-जड़ता हटने का नाम नहीं लेती। वाचक पति इसी मनोदशा में खुद को नालायक पति कहता है। अपनी क्रूरताएँ याद करता है। पुरुषोचित्त वर्चस्व की आदत पहचानता है। कुल मिलाकर कहानी मध्यवर्गीय गैर रचनात्मक जीवन-दशाओं का चित्रण करती है।

प्रभात रंजन युवतम पीढ़ी के समृद्ध कथाकर हैं। उनका पहला कहानी संग्रह 'जानकी पुल' प्रकाशित है। 'जानकी पुल', 'बदनाम बस्ती', 'ईजीमनी' और 'डिप्टी साहब' उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। प्रभात ने गाँवों-कस्बों और शहरों में आ रहे उपभोक्तावादी परिवर्तनों को गहराई से परखा और लिखा है। गाँव-शहर तथा पुरानी-नई पीढ़ी के सम्बन्ध मूल्यगत तनावों को अच्छी तरह से कहानियों में रेखांकित किया है।

'जानकी पुल' नेपाल-हिन्दुस्तान की सीमा में बसे गाँव मधुवन और शहर-सीतामढ़ी के सम्बन्धों की कहानी है। मधुवन-सीतामढ़ी को नदी बागमती विभाजित करती है। आने-जाने के लिए लोगों को 1 कि.मी. का फासला तय करना होता है। इसलिए गाँव के लोगों का सपना है-पुल। मधुवन की तरफ़ एक जगह है जिसे सीता की जन्मभूमि कहा जाता है। कहानी के मुख्य दो पात्र, वाचक-मैं और नन्दू भाई हैं। नन्दू भाई वाचक की मौसी का लड़का बचपन का साथी पढ़-लिखकर वह विदेश-इंडोनेसिया-हांगकांग चला गया और वाचक मैं दिल्ली। गाँव से थे-तब बागमती में जानकी पुल का शिलान्यास हुआ था। अगले बीस वर्षों तक हर चुनाव में पुल केवल

वादे में जीवित रहा। योजनाएँ बनीं और अगले बजट में पुल शामिल होने की घोषणा हुई। संयोग से सीतामढ़ी एक ऐसे कलेक्टर आए जिनकी पत्नी रोज जानकी की जन्मभूमि आती थीं। उनकी इच्छा से पुल का काम आगे बढ़ता कि तबादला हो गया। समय के फेर में मैं और नन्दू भाई के अलावा तमाम रिश्तेदार–लखनऊ, नागपुर आदि जगहों में चले गए पर सबकी जिज्ञासा का केन्द्र जानकी पुल और सपनों में पली उम्मीद एक जानकी पुल। रिश्तेदारी निभाने और सूचनाएँ जानने के नए साधन मोबाइल, ईमेल, इंटरनेट आदि हैं। इसी के ज़रिए दूर बसे लोग तथा गाँव के लोगों को लगता रहता है कि पुल बन जाए तो गाँव की तरक्की होने लगे। रोजगार बढ़ जाएँ और भी रास्ते खुल जाऐं। इस तरह यह कहानी कथित लोकतंत्र के वादों में भटकते रहने की त्रासदी को व्यक्त करती है।

नीलाक्षी ङ्कसह प्रतिभाशाली युवा कथाकार हैं। उनका कहानी संग्रह–'परिन्दों का इन्तजार सा कुछ' चर्चित रहा है।'एक था बुझवन', कहानी पर रमाकांत स्मृति कहानी उन्हें पुरस्कार मिला है। 'शुद्धि पत्र' उपन्यास प्रकाशित है।

नीलाक्षी सिंह कहानियों में विषयों के चयन से लेकर उनकी भाषा तक काफ़ी काम करती रहती हैं। भाषा के जादुई खेल से कई बार कहानियाँ आंतरिक गति को चक्करदार बनाती हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के कारण आभासी दृश्य परिवर्तनों का इस्तेमाल करती हैं। नीलाक्षी प्राय: लम्बी कहानियाँ लिखती हैं।'परिन्दे का इन्तजार सा कुछ' व आदमी औरत और घर–जैसी कहानियों में युवा पीढ़ी के जीवन–व्यापार, संवाद, चंचल धारणाएँ, सम्बन्धों विखराव दिखते हैं। उत्तर आधुनिक समाज की अगंभीर जिज्ञासाएँ यहाँ प्रतिबिम्वित हैं। 'रंगमहल में नाची राधा' किंचित भिन्न कहानी है। यह सुदामा प्रसाद और दीवान बाई के दुखांत जीवन की कहानी है। सुदामा प्रसाद के पिता बचपन में चल बसे। माँ ने घर की इज्जत बचाते हुए रात के अंधेरे में रेलवे प्लेट फार्म पर मूंगफली बेंचकर उन्हें पढ़ाया। लगनशील सुदामा प्रसाद ने छोटी सी नौकरी से शुरुआत कर शहर के प्रतिष्ठित वकील का दर्ज़ा हासिल किया। दो बेटे–बहुएँ तीन पोतों का परिवार बना। दीवानबाई ने इसी परिवार को बनाने में जीवन लगा दिया। बुढ़ापा आया, थोड़ी फुरसत मिली तो बचपन के सोये राग–विराग जागने लगे। उसी शहर में मायका था। मायका के घर से तीन मकान बाद कॉलेज के दिनों के विजातीय प्रेमी का घर। प्रेमी की पत्नी मर गई। बच्चों का परिवार दुर्घटना में चल बसा। दीवान बाई ने पत्नि जीवन तो जी जिया पर प्रेम के आदान–प्रदान की ललक बनी रही। उन्हें आभास हुआ कि अब परिवार में उनकी जरूरत नहीं है पति को और न बच्चों को।

दीवान बाई ने पति को पहली बार पुराने प्रेम की बात बतायी इस पर पति ने उनकी पिटाई कर दी। दीवान बाई ने प्रेम की पुकार सुनी। रात के अंधेरे में घर छोड़ प्रेमी के घर आ गईं। क्यों 'हर औरत के मन के एक कोने में कोई रंगमहल होता है और हर औरत के मन में राधा होती है।' दीवान बाई रूपी राधा अपने रंगमहल (प्रेमी के घर) नाचने आ गईं। औरत के मन के रंगमल की तलाश ही इस कहानी का अन्तर्यात्रा है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महिला कथाकारों की समर्थ पीढ़ी कहानी के क्षेत्र में सक्रिय हुई है। वंदना राग उनमें से विशिष्ट हैं। वन्दना का कहानी संग्रह अभी नहीं आया है, पर जो कहानियाँ छपी हैं, वे सभी चर्चित रही हैं। 'शहादत और अतिक्रमण' तथा 'यूटोपिया' उल्लेखनीय हैं। वन्दना की रचनादृष्टि इन पंक्तियों में झलकती है–

'क्या क्षेत्र, प्रान्त, देश, जाति, सम्प्रदाय, जेउर के पक्ष में सतत होते संघर्ष उस रूपीय वैश्विक प्रभाव को चुनौती दिए बगैर संभव है, क्या एक ऐसे गड्डमड्ड होते परिवेश में हम एक स्थिर माइन्ड सेट विकसित कर सकते हैं। जो मदान्धता और स्टीरियो टाइप से अलग नवीन ताजा खालों में तैयार करने में सफल हो पाएगा'। वन्दना को। उज्जवल और अंधेरे पक्ष की गड्डमड्ड नहीं करतीं। सामाजिक हिस्सेदारी से उनकी कहानियों का सृजन होता है।

'यूटोपिया' वन्दना की बहुप्रशंसित कहानी है। इसका कथानक साम्प्रदायिक समस्या है। नवदुर्गा समिति के कर्ताधर्ता पार्षद राममोहन ऊर्जावान युवकों की भर्ती करते हैं। उनके भीतर हिन्दु–मुस्लिम भेद की जड़ें जमाते हैं। मुस्लिम समाज को अपमानित तक करने तथा महिलाओं का शीलभंग करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसी कार्यशाला में कहानी का प्रमुख पात्र अच्युतानंद गोसाईं प्रशिक्षित होकर पड़ोस की पारिवारिक सम्बन्धों से जुड़ी लड़की नज्जो को अगवा कर उसके साथ बलात्कार करता है। बलात्कार बाबरी ध्वंस करने वाले कार सेवकों की स्मृति में तथा एक–दूसरे समाज को पराजित कर शौर्य दिवस का प्रतीक कहा गया है। कहानी में मुस्लिम समाज की ओर से प्रतिक्रिया, मौलवियों का हस्तक्षेप, बच के रहने की हिदायतों को भी रेखांकित किया गया है। इस तरह से कहानी एक रैखिक नहीं रह जाती। कहानीकार बने बनाए फार्मूलों का इस्तेमाल करने के वज़ाय–साम्प्रदायिकता के समाजिक–आर्थक स्रोतों–पद्धतियों को निर्भीकता से स्पष्ट करता है। इसकी भाषा में विदग्धता और पैनापन निरन्तर मौजूद है।

अजय नावरिया–हिन्दी दलित आन्दोलन के प्रमुख युवा हस्ताक्षर हैं। उन्होंने पिछले दिनों 'हंस' के दलित अंक का संपादन किया है। दलित–विमर्शों में उनकी

वैचारिक हिस्सेदारी होती है।

'पटकथा तथा अन्य कहानियाँ' उनका पहला कहानी संग्रह है। उनकी कहानियाँ प्राय: दलित जीवन की दारुण-दशाओं का चित्रण करती हैं। दलित पात्र संघर्ष के लिए तत्पर दिखते हैं। प्रखर लोकतांत्रिक पहचान बनाते हैं। सवर्ण समाज की शोषण प्रणाली तथा जातिगत अहंकार पर चोट करती कहानियाँ ध्यान खींचती हैं। 'यस सर' अजय की महत्वपूर्ण कहानी है।

इस कहानी में एक सरकारी कार्यालय है जिसमें एक दलित अधिकारी नरोत्तम सरोज के मातहत ब्राह्मण जाति का रामनारायण तिवारी चपरासी है। चपरासी होने के कारण रामनारायण बॉस के आदेशों से खूँटे की तरह बँधा है। डाँट खाता है। गलतियों के लिए दण्डित होता है। सामने 'यस सर' कहने को बाध्य है।

रामनारायण मन-ही-मन कुड़मुड़ाता है गाली देता है आरक्षित वर्ग के अन्य कर्मचारियों के प्रति भी उसकी घृणा प्रकट है। उसे आत्मग्लानि होती है। संस्कार तोड़ते हैं तथा नौकरी मजबूर करती है। कार्यालय के अन्य अधिकरी मिश्रा को भड़कता है-पर सहानुभूति के अलावा कुछ नहीं। जब नरोत्तम कर्तव्य परायणता के आधार पर उसकी पदोन्नति की सिफ़ारिश कर देता है तो उसमें बदलाव इस हद तक दिखता है कि वह नरोत्तम के संडास तक को ठीक करने लगता है। कहता है-'क्यों सर। क्या हमारे घर में बाथरूम नहीं होता, बस दो डंडे मारता हूँ सब ठीक।'

उमाशंकर चौधरी सजग कवि, आलोचक और कहानीकार हैं। उनका एक कविता संग्रह कुछ दिन पहले प्रकाश में आया है। इन्होंने जो कहानियाँ लिखी हैं वे चर्चित रही हैं। 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं', 'स्वीट होम' और 'शेक्सपियर क्या तुम उससे मिलना चाहोगे' जैसी कहानियाँ भलीभाँति रेखांकित हुई हैं। उमाशंकर समकालीन युवा चंचल मनोदशा ग्रहण-त्याग की दृष्टि से समीक्षा करते हैं। 'स्वीट होम' कहानी में ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं।

स्वीट होम कहानी मध्यवर्गीय समाज के उन युवकों की है जो नौकरी-व्यवसाय की तलाश में लगे हैं। प्रतियोगी परीक्षाएँ देते हैं तथा उपभोक्तावादी समाज के रंग-ढंग में शामिल रहते हुए मज़ा लेते हैं। खाओ, पियो, ऐश करो उनकी ज़िन्दगी के सूत्र हैं। कहानी को सजीव करने वाले युवक-एक मुस्लिम परिवार के मकान की ऊपरी मंजिल में किराए से रहते हैं। आपस में मन बहलाने की बौद्धिकता करते हैं। बाबरी ध्वंस, गुजरात दंगे, बेस्ट बेकरी काण्ड जैसे प्रसंगों में उलझते हैं। लड़कियाँ पटाने की

बातें होती हैं। इस परिवार की युवा लड़की अतिया-किराए के मकान को स्वीट होम बनाती है। युवक अपने-अपने तरीके से लड़की को प्रभावित करने में इस शर्त के साथ लगे हैं कि वह जिसकी ओर झुकती नज़र आएगी, उसे उसके लिए छोड़ दिया जाएगा। उनका एक साथी कुछ दिन ऐसा भ्रम पालता है। लड़की की हर गतिविधि को अपने पक्ष से जोड़ता है। लड़की मकान के ऊपरी कमरे में रहने वाले किरायेदार आशीष के पक्ष में अपनी भावनाएँ जल्दी ही स्पष्ट कर देती है। उसके निष्ठापूर्वक शादी का प्रस्ताव करने पर आशीष विदक जाता है। अस्वीकार कर देता है। अतिया अन्य किरायेदार और आशीष के मित्र से समझाने को कहती है। प्रतिक्रिया में आशीष के भीतर का कलुष झरता है-'सारे मुसलमान साले ए.एस.आई. के एजेंट होते हैं। सबका सम्बन्ध पाकिस्तान से है। XXX इसके चक्कर में मैं भी एक दिन आतंकवादी ठहरा दिया जाऊँगा/प्यार करना और बात है, घूमना फिरना और बात है। आशीष अतिया से पीछा छुड़ाने के लिए घर छोड़ देता है। यह घटना मकान की मिठास समाप्त कर देती है। फिर काहे का स्वीट होम।

सभी किराएदार लड़के बिखर जाते हैं। इस तरह यह कहानी भूमण्डलीकृत समाज के मूल्यहीन युवा भावबोध को व्यक्त करती है।

इक्कीसवीं सदी में जिन कथाकारों ने अपनी पहली ही कहानी से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है उनमें चन्दन पाण्डेय प्रमुख हैं। इनका कहानी संग्रह 'भूलना' प्रकाशित हुआ है। चन्दन कहानियाँ प्राय: लम्बी लिखते हैं जिनमें कई स्तरों पर वर्णन कौशल चमत्कृत करता है। भूमण्डलीकरण के प्रश्नों से जूझते हैं। सकारात्मक प्रभावों का इस्तेमाल करते हैं-और निषेध से टकराते हैं। 'भूलना', 'परिन्दगी है कि नाकामयाब है', 'नकार', 'शहर की खुदाई में क्या कुछ मिलेगा' जैसी कहानियों की खूब चर्चा हुई है। कहानियों का फलक व्यापक है इसके लिए फैन्टसी का उपयोग करते हैं।

प्रस्तुत संकलन में 'भूलना' कहानी शामिल है। कहानी का स्रोत एक परिवार है अन्तर्वस्तु वैश्विक। परिवार में बहन है, जिसे भयानक सिर दर्द होता है। दर्द के समय सिर रस्सी से बाँधना पड़ता है। पिता की दरबान की नौकरी थी। सिक्योरिटी कम्पनियों के आने से छूट गई। एक लड़का छोटी-मोटी नौकरी करता है। आर्थिक हालत खराब है। छोटा लड़का गुलशन होनहार है। अनिच्छा पूर्वक परिवार के दबाव से कमाई वाली बड़ी नौकरी पाने की पढ़ाई में लग गया। दीवार की ओर मुँह करके पढ़ता है। घर की हलचल से दूर है। एक ओर परिवार के लोगों की उम्मीदें उस पर टिकी हैं, दूसरी ओर जनगणना वाले आए तो लोग उसका नाम भूल गए। आतंकवादी की खोज में उसका

नाम न बता पाने के कारण संदेह में गुलशन को ही पुलिस उठा ले गई। आर्थिक तंगी इतनी कि बड़ा भाई पैसे के लिए कुछ भी करने को तैयार। राज्य के बूढ़े सर्वेसर्वा जवान प्रेमिका के चेहरे की फुंसी का इलाज कराने जिस शताब्दी एक्सप्रेस से सफ़र कर रहे थे, उसकी हेडलाइट फूट गई। रेल विभाग हेडलाइट लेकर पटरी के आगे-आगे दौड़ने पर प्रति मिनिट दस हजार रूपये देने की घोषणा की, तो बड़ा भाई मिनिटों और घंटों की दौड़ का हिसाब लगाने लगा। पैर कट जाए या धड़ कट जाए-इसके बदले इतना पैसा तो मिलेगा। यह कहानी तथाकथित उदारीकरण के युग में बेरोजगारी के तांडव, मनुष्य से अधिक पैसे का मूल्य और सम्बन्धों के क्षरण को मार्मिक ढंग से विदग्ध भाषा में संयोजित करती है। यह सारा प्रभाव बाजारवादी उपभोक्तावादी व्यवस्था का है।

रणेन्द्र ने झारखण्ड के आदिवासी जीवन का गहरा अध्ययन और अनुभव किया है। उनकी कहानियों में आदिवासी-गैर आदिवासी संघर्ष की त्रासदी मौजूद है। आदिवासियों के इलाकों में विकास और व्यवसाय के नाम पर गैर आदिवासियों का कब्जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने उनके आपके स्रोत का भरपूर दोहन किया है। पुलिस के भयानक जुल्म इन्हें झेलने पड़े हैं। पूरी व्योरोक्रेसी गैर आदिवासियों की रही है। रणेन्द्र के लेखन में इस जमीन के तीखे अन्तर्विरोधों के चित्र मिलते हैं। उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। पत्र पत्रिकाओं में छपी कहानियों ने ध्यान खींचा है। 'चम्पागाछ, अजगर और तालियाँ', 'बारिश में भीगती गौरैया' कहानियों की पिछले दिनों चर्चा रही है। इस संग्रह में 'वह बस धूल' थी संकलित है। 'वह बस धूल थी' आदिवासी समाज में लाए जा रहे बदलाव और नई पीढ़ी के सपनों की हत्या की कहानी है। कहानी के केन्द्र में हैं-होनहार युवक सोमनाथ और लड़की सोमाकुजुर। निवासी महुलाटोली थाना गोविन्दपुर, जिला-शीतला। उराँव जाति के लोगों की बस्ती। कोयल और शंख नदियों के बीच का गाँव। जनश्रुति के अनुसार कोयल और शंख दोनों आदिवासी बहनें नदी बन गईं। उन्होंने अपने अराँव लोगों से कहा कि उनके किनारे बस जाएँ। यहीं की लड़की रोजलीन के नेतृत्व में महिला हाकी टीम ने एशियाई प्रतियोगिता में स्वर्ण पदक जीता। फारवर्ड खिलाड़ी सोमा कुजुर थी। सोमाने अपने इलाके में स्कूल खोलने और बच्चों के भविष्य सँवारने का सपना देखा। सोमनाथ का सहयोग लेकर। सोमनाथ ने भी आदिवासी क्षेत्र की तरक्की का सपना देखा। एन.जी.ओ. बनाया। ऐसा सोचते हुए उन्हें मालुम था कि यहाँ तैनात कमीशन जीवी नौकरशाही-प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके मुनाफा कमाने वाली बड़ी-

बड़ी कंपनियाँ, पुलिस और जनमत खरीदते आए नेताओं की मिली भगत आदिवासी समाज की शत्रु हैं। जिसने इस गठजोड़ के खिलाफ आवाज उठाई उसे नक्सल का समर्थक घोषित कर इनकाउंटर के बहाने हत्या करवा दी जाती रही है। अनिल लकड़ा जैसा इलाके का निवासी भी शत्रु वर्ग में शामिल। आदिवासी समाज के विश्वासों का आधार प्राय: जनश्रुतियाँ होती हैं। इन्हीं के सहारे वे स्थितियों को समझते और फैसला करते हैं। अनिल लकड़ा में आए बदलाव को भी एक लोककथा के जरिए व्यक्त किया। यह कि एक राजा शिकार के लिए गया। महकते फूलों के बीच दीपक की वामी से देह रगड़ गई तो बाघ बन गया। बाघ ने तमाम जानवरों को खाया और फिर 'होश' से टकराया तो राजा के वनस्पति मूल रूप में आ गया। अनिल लकड़ा कमीशनों से ही टकराकर बाघ बन गया है।

सोमनाथ और सोमा ने अपने सपनों के अनुसार काम शुरू किया। कमीशन खोरी-घूँसखोरी का विरोध होने लगा। उधर सोमा ने सोमनाथ से ही शादी की प्रतिज्ञा की। जैसे एक राजकुमारी ने प्रतिज्ञा की थी कि बाग में लगे सुंदर आम को जो तोड़ पाएगा उसी से शादी करेगी। डाल में बैठी कोयल ने आम का फल टपका दिया तो राजकुमारी ने उसी से शादी की। सोमा-सोमनाथ की शादी हो गई। एक बेटी हुई। अधिकारियों के बदनीयत रास्ते के बाधक सोमनाथ को नक्सल कहकर हत्या करा दी गई। सोमा-सोमनाथ की शादी को अवैधानिक सिद्ध कर सोमा के उत्तराधिकार को छीन कर जिन्दगी तवाह कर दी गई। अन्तत: सोमा बच्ची को छोड़कर संघर्ष झेलती-झेलती धरती में समा गई। इस तरह कहानी का करुण अंत आदिवासी समाज की करुण कहानी कहता है।

- कमला प्रसाद

अनुक्रम

तार

—मो. आरिफ

पहले इन साहब को जरा आप जान लीजिए। इन्हीं की जुबानी। इसके बाद मेरी सुनिएगा। इनसे जो कुछ छूट जाएगा मैं बताने की कोशिश करूँगा। मुझसे कुछ छूटा तो आप जोड़ने घटाने के लिए स्वतंत्र हैं। तो पहले यह सज्जन स्वयं।

मैं, श्रीमानजी, मौलाना अजीबुर्रहमान के खानदान में पैदा हुआ और मेरा नाम सिर्फ रहमान है। ये मौलाना वही हैं, जिन्हें शायद आप नहीं जानते। अट्ठारह सौ सत्तावन की गदर में ये बीस साल के थे लेकिन न तो ये अँग्रेजों की तरफ से थे न ही बहादुरशाह जफर की तरफ से। इनके वालिद साहब भी, जिनका नाम हमें नहीं मालूम, मौलाना थे और बड़े शौक से अपने साहबजादे को मौलानागिरी सीखने के लिए दिल्ली से सटे शाहजहानाबाद के एक मदरसे में रख छोड़ा था जहाँ इनका रहना-सहना, खाना-पीना और पढ़ना-लिखना होता था। उस मदरसे में ट्रेनिंग करते-करते, श्रीमान जी, इनकी नजर अपने ही मौलवी साहब की इकलौती साहबजादी रोकैय्या बानो पर पड़ी। किसी साथी ट्रेनिंग-याफ्ता नौजवान ने समझाया कि मौलवी साहब तुम्हें कच्चा चबा जाएँगे, हड्डी समेत। मौलाना अजीबुर्रहमान यानी कि हमारे मौलाना, जिद्दी आदमी थे, बस ठान लिए। यही रोकैय्या बानो आगे चलकर हमारी पर-पर-परदादी बनीं। यानी ग्रेट-ग्रेट-ग्रेट-ग्रैंडमदर।

खानदानी शजरे को पढ़कर ऐसा लगता है कि जब सन् 57 में फैसले की घड़ी आई होगी तो हमारे मौलाना न इधर गए न उधर। जिस समय जोगिया वस्त्र धारण करके साधु के वश में घूम-घूमकर षड्यंत्रकारी अँग्रेजों की सुपारी दे रहे थे, बिगुल

और नगाड़े से विचित्र-विचित्र ध्वनियाँ निकाल रहे थे, चारों ओर तीर-तलवार बरछी-भाले तैयार किए जा रहे थे, हमारे मौलाना अजीबुर्रहमान अपने उत्साद मोहतरम की बेटी रोकैय्या बानो को किसी तरह उड़ा लेने की फिराक में मशगूल थे। परिवार में वर्षों-वर्षों से चली आ रही किंवदन्तियों से पता चलता है कि जिस दिन मेरठ में कुछ स्वदेशी जवानों ने अपने अँग्रेज हुक्मरानों की नाफरमानी करते हुए हल्ला-बोला और गदर का बिगुल फूँका, बीस साल के मौलाना अजीबुर्रहमान एक हिन्दू की वेशभूषा-मिर्जई, धोती, पगड़ी और लाठी धारण कर नंगे पैर हमारी होने वाली पर-पर-परदादी को घाघरा-चोली पहना भगाकर कहीं लिए जा रहे थे। आगे कहानी और है, श्रीमानजी, लेकिन पहले विनम्रतापूर्वक मन का भेद खोल दूँ कि अपने पुरखों की यह कारस्तानी मुझे अपने परिवार के इतिहास की सर्वश्रेष्ठ घटना लगती है। मौलाना के लिए मन श्रद्धा और गर्व से भर जाता है। जब चहुँदिश खून-खराबा मचा हुआ था, जब बिना किसी उद्देश्य और योजना के लोग एक अन्तहीन जंग में उलझे हुए थे और जिसमें पराजय निश्चित थी, हमारे मौलाना ने प्रेम का रास्ता चुना और उस पर चल पड़े। वीरगति का अवसर हाथ से जाने देकर मौलाना ने बहुत अच्छा किया-इसके लिए न मुझे शर्म है, न दुःख।

दूसरी बात और सुन लें-और यह भी मेरे मन का भेद है। उस दृश्य को-जिसमें बीस साल के मौलाना एक हिन्दू की वेशभूषा में अठारह साल की हमारी परदारी को भगाए लिए जा रहे थे-मैंने कई बार देखा है। वह दृश्य मुझे पुलकित कर देता है। गुदगुदाता है। मेरे मन मस्तिष्क के तन्तुओं को ऊर्जा से भर देता है। मेरा सन्तुलन बनाये रखने में मेरी मदद करता है। मेरा विश्वास है कि उस दृश्य ने मुझे ही नहीं बल्कि मौलाना अजीबुर्रहमान के बाद उनके खानदान की छह पीढ़ियों में से कई को आनंदित और प्रेरित किया है।

कभी-कभी मैं उनके उस सफर और उस दौरान उनके बीच हुई सम्भावित वार्तालाप को विजुअलाइज करने का प्रयास करता हूँ तो मन रोमांच से भर उठता है। परदादा ने कहा होगा जल्दी से गरारा समीज उतारकर घाघरा चोली पहन लो। ऊँटगाड़ी बाग में तैयार है। तुम्हारे अब्बा मस्जिद में नमाज पढ़ने गए हैं, आते ही होंगे। दादी बोली होंगी तुम तो पहचान में ही नहीं आ रहे हो काफिरों के भेष में। क्या अब इसी तरह रहेंगे? दादा बोले होंगे, हाँ अब इस तरह भी रहेंगे। तुम जल्दी करो नहीं तो पकड़ी जाओगी। तुम्हारे अब्बा तुम्हारा सर कलम करवा लेंगे। हमारे खानदान में यह भी रिवायत है कि दादी निकलीं तो, लेकिन घाघरा चोली में नहीं। वे समीज और गरारा में ही भागीं और हमेशा वहीं पहनीं।

मैं जरा गौर से फिर वहीं लौटता हूँ तो पाता हूँ कि दादा-दादी ऊँटगाड़ी पर बैठे हिलते-डुलते चले जा रहे हैं। रोकैय्या बानो रो रही हैं और मौलाना से लौट चलने की जिद्द कर रही हैं। दरअसल दादी को अपने अब्बा की याद आ रही है। लेकिन दादा उनसे भी ज्यादा जिद्दी थे, कहते हैं अब निकल पड़ा हूँ तो निकल पड़ा हूँ, साथ चलना है तो चलो। दादी कहती है चारों ओर आग लगी है और आपको यह सूझी है। वह बोले होंगे मेरे दिल में उससे भी ज्यादा आग लगी है, पहले इसे बुझा लूँ तो गदर की खबर लूँगा। दादी ने चौंकते हुए कहा होगा वह देखो फिरंगी आ रहे हैं। लालकोट, नीला टोप, काली पतलून और सफेद जुराबे पहने वे घोड़ों पर सवारी हमारी ओर ही आ रहे हैं। उनके हाथों में नंगी तलवारे हैं, काँधे में बन्दूक टंगी हैं और कमर में करौली लटक रही है। कहीं वे हमें ही तो नहीं खोज रहे हैं। दादा बोले होंगे नहीं वे बागियों को ढूँढ़ रहे हैं। हमें तो हाथ में तस्वीर लेकर तुम्हारे अब्बा ढूँढ़ रहे होंगे। फिर तनकर बोले होंगे अगर फिरंगियों ने तुम्हारी ओर नजर उठाकर भी देखा तो उन्हें कत्ल कर दूँगा। तो दादी ने बनावटी गुस्से पूछा होगा खंजर कहाँ है। दादा ने मुस्कराते हुए उनकी आँखों की ओर इशारा किया होगा-यहाँ। वह धत करके रह गई होंगी।

यह बात तो है कि दादी समझ प नाई होंगी कि आखिर उनके प्रेमी की मंशा क्या है और वह दरअसल फिरंगियों और दिल्ली के शहंशाह के बारे में आखिर क्या कुछ सोचता है। मेरा अनुमान है कि वह थककर चुप हो गई होगीं और फिर दादा के कँधे से लगकर सो गई होगीं। गाड़ीवान ने कई कोस का सफर पूरा करके किसी बाजार के बाहरी इलाके में एक छायेदार पेड़ के निकट स्थित कुएँ के पास पड़ाव डाला होगा। ऊँट ने पानी पिया होगा, गुड़ खाया होगा, पत्ता खाया होगा। गाड़ीवान ने पानी पिया होगा, बीड़ी पिया होगा, सत्तू खाया होगा। दादा ने फिरंगियों, बागियों, बहादुरशाह जफर और रोकैय्या बनानो के बारे में सोचा-विचारा होगा। फिर सर को झटककर रोकैय्या बानो की ओर प्रेमासक्त होकर देखने लगे होंगे। उसके बाद अपनी मिर्जई, अपनी धोती, अपनी पगड़ी और लाठी को देखा होगा और मुस्करा पड़े होंगे। मेरा मनना है कि काल, स्थान और परिस्थितियों पर ध्यान दें तो पाएँगे कि मौलाना अजीबुर्रहमान ने हिम्मत का काम किया था। इसीलिए शायद हमारे खानदानी तस्किरों में उन्हें कहीं अजीब मौलाना, अजीब जाँबाज बेताज बादशाह, दिल का पहला मरीज तो कहीं अजीब शागिर्द अजीब इन्सान जैसे उनवानो से नवाजा गया है। लेकिन जो नाम पारिवारिक अभिलेक्षों, रिवायतों, किंवदन्तियों और चुटकुलों में सबसे अधिक आता है वह है

अजीब जिद्दी।

एक बात और। बाद की हमारी कुछ पीढ़ियों और उनके लम्बरदारों के बारे में हमारी जानकारी उतनी पुख्ता और पक्की नहीं है जितनी मौलाना अजीबुर्रहमान के बारे में। मौलाना जिद्दी, सिरपिुरे, दिल के मरीज या कुछ भी रहे हों वह थे मजेदार आदमी। यह बात फेमिली रिसर्च के दौरान मेरे सामने आई। वह स्वांत: सुखाय शायर भी थे। उनकी दोयम दर्जे की तमाम गजलों और शेर जबानी और तहरीरी शक्ल में बिखरे पड़े हैं। एक ऐसे ही शेर में वह कहते हैं–

'हँगामा बरपा है तलवारें चमचमाई है।
घायल पड़ा अजीब रोकैय्या की गोद में।'

दूसरा शेर कुछ यूँ है–

'बागी खड़े हैं बाग में बगावत के नशे में
इक बागी यह रहा उल्फत के सफर में।'

लगता है यह सब गदर और बगावत के माहौल में डरी–सिमटी अपनी प्रेयसी को ढाँढस बँधाने के लिए तुरत–फुरत में इन्हें गढ़ लिए होंगे। यह भी हो सकता है कि रास्ते से गुजर रहे तलवार भाँजते फिरंगियों या विद्रोहियों को देखकर रोकैय्या बानो ने मौलाना को ताने मारे होंगे और मौलाना ने यह बानगी दिखाई होगी। लेकिन शेर सच्चे हैं, दमदार हैं।

कुएँ के नजदीक घण्टा दो घण्टा आराम करने के बाद गाड़ीवान ने गाड़ी हाँक दी होगी।

ऐसा जिक्र आता है कि सूरज डूबते–डूबते ये लोग मेरठ पार करके किसी कस्बे के नजदीक पहुँच गए। और वहीं पहुँचकर ऊँटगाड़ी खराब हो गई। दोनों एक सराय में शरण लेने पहुँचे। यह भी सुनने में आता है कि ऊँटगाड़ी नहीं खराब हुई थी। बल्कि गाड़ीवान की नियत खराब हो गई थी और वह गाड़ी को वहीं रोककर कुख्यात ठग अमीर अली के गिरोह के कुछ ठगों को बुलाने गया ताकि मौलाना को ठिकाने लगाकर रोकैय्या बानो को लेकर फूट सके। मौलाना तेज आदमी थी, झट ताड़ किए कि गाड़ीवान उस्ताद बनना चाहता है। तो गाड़ीवान के लौटने से पहले ही दोनों चुपचाप खिसक लिए और सराय पहुँचे। सराय मालिक को शक हो गया कि ये भटके हुए नौजवान हैं। कुछ बागी उस सराय में गुप्तरूप से डेरा जमाए हुए थे। सराय मालिक ने उनके नजदीक जाकर फुसफसा दिया। एक–एक बागी मिर्जई और धोती वाले छोकरे

और समीज गरारा वाली छोकरी को ताक गए। कुछ देर के लिए फिरंगियों का भूत उनके सर से उतर गया। उनमें से एक ने कहा हम सब बाहर सोते हैं तुम दोनों अन्दर जाकर सो जाओ। मौलाना ने रोकैय्या बानो का हाथ पकड़ा और अन्दर गए और मौका ताड़कर पीछे वाले चोर दरवाजे से बाहर निकल गए।

और यात्रा के इसी मोड़ पर इतिहास ने खुद को दोहराया। अन्तत: उन्हें एक ब्राह्मण पुजारी के घर आश्रय मिला, और शायद प्रेम भी, क्योंकि एक अपुष्ट पारिवारिक उपकथा के अनुसार वे लोग वहाँ दो वर्ष तक रहे। मेरा मानना है कि वह ब्राह्मण खाली पुजारी रहा होता तो मौलाना अपनी प्रेयसी के साथ इतने लम्बे समय तक वहाँ न टिक पाते। वास्तव में वह छोटा–मोटा व्यापारी भी था और खुशबूदार तेलों की तिजारत करता था। यह बात मौलाना के एक शेर से खुलती है। खैर...। प्रेमी मौलाना ने उसके तेल के व्यापार में मदद करना शुरू किया और जम गए। और यहीं उन्होंने फिर से इतिहास रचा। वह मुख्तसर में यह कि जहाँ शरण मिली थी वहीं किसी और पर नजर पड़ी। रोकैय्या बानो ने ताना मारा–ये हिन्दू छोकरी मेरे जैसी बेवकूफ न निकलेगी जो तुम्हारे साथ मरने–जीने को तैयार हो जाए। मौलाना फिर ठान लिए। आले दर्जे के जिद्दी तो थे ही। खुशबूदार तेल के सौदागर पुजारी की राजदुलारी सुमन्ती देवी को रातों रात ले उड़े, मुसलमान बनाया और शहरी काजी के पास जाकर, रोकैय्या बानो की रजामंदी से, निकाह को अंजाम दिया।

एक अरसे के बाद, जब मुल्क और गदर का वारा न्यारा हो गया, और उम्र भी हो गई, तो मौलाना अजीबुर्रहमान घर लौटे। दोनों बीवियों ने उन्हें कई औलादों से नवाजा था। इन्हीं में से किसी से हम हैं। पर हमारी असली दादी कौन है हमारे खानदान में किसी को नहीं मालूम–यकीन के साथ कोई भी नहीं बता सकता। वैसे सरहद के इस पार से उस पार तक फैले हमारे खानदान के अधिसंख्य लोग अपने आपको रोकैय्या बानो के पेट या उनके सिलसिले से मानते हैं। सुमन्ती देवी, जिनका इस्लामी नाम भी किसी को नहीं पता, का हवाला कोई नहीं देता। लेकिन बिला सुबहा वे मौलाना की चहेती थीं। यह इस बात से पता चलता है कि मौलाना की हस्तलिखित उर्दू–हिंदवी शेरों का जो जखीरा कीड़े–मकोड़ों से बचा रह गया है उसमें सुमन्ती देवी का नाम और सन्दर्भ कई बार आता है जबकि रोकैय्या बानो का सिर्फ दो बार। एक मजाहिया शेर में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है–

रोकैय्या के बाप ने क्या काम कर दिया
इल्मों अदब के नाम पर बरबाद कर दिया

देवी सुमन्ती आई किस्मत में जब से हैं
तेली बने, आबाद हुए, और घर बसा।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने सुमन्ती देवी को कुछ इस तरह याद किया है–

एक बामन की बेटी ने घर–बार छोड़कर अपना
हमदम हमें बनाया ईमान छोड़कर अपना।

वैसे सुमन्ती देवी कम जिद्दी न रही होंगी। नहीं तो एक म्लेच्छ को जिसकी भगाई गई प्रेयसी उसके साथ हो, अपना जीवन–साथी कैसे चुन लेती और अपना अपने पिता का सबकुछ उसके ऊपर लुटा देती। इस रहस्य का खुलासा मौलाना के एक दोहानुमा शेर में कुछ इस प्रकार हुआ है–

जिद्दी को जिद्दी मिली मिला इश्क को हुस्न
बानो देखती रह गई देवी आई संग।

लेकिन हमारे बाबा–ए–खानदान की ये कारस्तानियों ने कभी हमार पीछा नहीं छोड़ा। हमारे परिवार का कोई सदस्य जब कभी दकियानसी से दूर भागता, मजहब से कुछ बेरुखी दिखाता या तथाकथित गैर–इस्लामिक बातों में दिलचस्पी लेता तो गाँव मुहल्ले में कहने वाले कहते हैं–वहीं पंडिताइन का खून है और क्या...मौलाना की जो पहली रहीं...उनकर औलादन तो सब पाकिस्तान चले गयेन...ऊ सब रोजा नमाज के पाबन्द हैं...इनकी तरह काफिर नाय होय गयेन।

तो, श्रीमानजी, मौलाना अजीबुर्रहमान के कुनबे में आगे चलकर कई कठमुल्ले, कई आलिम, कई हिन्दुस्तानी, कई पाकिस्तानी और कई महाजिद्दी आशिक पैदा हुए। हाँ कोई नामचीन देशभक्त नहीं पैदा हुआ। जंगेआजादी में, या उसके पेशतर, या उसके बाद, किसी ने भी देश के लिए सर नहीं कटाया। सन् 57 में पहला और अन्तिम मौका आया था लेकिन बाबा–ए–खानदान ने उसे जाने दिया था। उसके बाद तो उस नेक काम के लिए किसी को फुर्सत ही नहीं मिली।

मौलाना ने हमारी हिन्दू दादी के साथ मिलकर खुशबूदार तेलों का कारोबार जमाया। इसकी सौदागरी के गुर तो उन्होंने अपने हिन्दू ससुर से ही सीखे थे। कारोबार ऐसा चला कि यह हमारा पुश्तैनी धन्धा बन गया–सरहद के दोनों तरफ। दूर–दूर से लोग खरीदने आते, दूर–दूर तक हमारे पुरखे खुशबूदार तेल बेचने जाते। हम कई तरह का शुद्ध खुशबूदार तेल बनाने और बेचने के लिए मशहूर रहे। कई पीढ़ियों तक तो हमारे खानदान में किसी ने कोई दूसरा काम ही नहीं किया।

लेकिन बाद में वक्त बदलने के साथ कुछ लोगों ने दीगर धन्धों में हाथ आजमाना शुरू किया। क्योंकि खुशबूदार तेल की सौदागरी अब फायदे की सौदागरी नहीं रह गई थी। कई तरह के तेल बाजार में आ गए थे और हमारे ग्राहक और प्रशंसक कम होने लगे। कई लोग हमारे दुश्मन बन गए। कई बार मिलावट का इल्जाम भी लगा जबकि मिलावट हम करते न थे। टैक्स और चुंगी बढ़ा दी गई और फिर कई बार छापे पड़े। फिर इधर आकर बड़े घिनौने इल्जाम लगे कि हम अपनी दौलत का बेजा इस्तेमाल कर रहे हैं, मुल्क के दुश्मनों का साथ दे रहे हैं। थाना–पुलिस कोर्ट कचहरी आए दिन की बात हो गई। अन्ततः हमारे वालिद मरहूम ने खुशबूदार तेलों के कारोबार से हाथ खींच लेने का फैसला कर लिया।

मैंने कुछ दिन तक हाथ–पैर मारा लेकिन सफल न हो सके। तेल बनाने की मशीन बेच दी। तेल की खास शीशियाँ जहाँ से बनकर आती थीं वे लोग भी बेकार हो गए। जो लोग शीशी का कार्क बनाकर देते थे उनके खाने के लाले पड़ गए। मोर छाप चिब्बियाँ जहाँ से छपकर आती थीं उनका बिजनेस आधा हो गया। अगर, श्रीमानजी, आप हमारे घर में आएँ तो आपको लगेगा ही नहीं कभी यह घर मोरछाप खुशबूदार तेलों का अड्डा था। आज तो आपको घर की आलमारियों में, कोनों में,और गोदाम में अलग–अलग आकार–प्रकार की खाली शीशियाँ ही दिखाई देंगी।

अब मैं एक नए धन्धे के बारे में सोच रहा हूँ। मेरे एक दोस्त ने सलाह दी है कि लॉटरी की टिकटें बेचूँ। देखिए, हम लोग जमाने से तेल का ही काम करते आए...कुछ और सीखा नहीं...कुछ और किया ही नहीं। घर का बच्चा–बच्चा इस कारोबार की बारीकियों, इसके मिजाज उसके उतार–चढ़ाव से वाकिफ है। कहें कि यह तो हमारे खून में है। हमने घर के आँगन में, सेहन में, बारादरी में, कोने–कोने में फूलों के ढेर देखते हैं, खुशबूदार पत्तियों, जड़ी बूटियों, और नायाब पौधों के बेशकीमती खजाने देखे हैं। सैकड़ों कारीगरों को एक साथ फूलों से अर्क निकालते, पत्तियों की लुग्दी बनाते और इमामदस्ते में जड़ी–बूटियों, को कूटते–पीटते देखा है। पूरा घर, घर के सारे लोग, घर के अगल–बगल का पूरा माहौल खुशबू से गमकता था। जैसे–जैसे खरीदार व्यापारियों के आमद की तारीखें नजदीक आती थीं, काम दो–गुना बढ़ जाता था। रात–दिन कारीगर एक कर देते थे...उनके रहने खाने का इन्तजाम बारादरी में हो जाता था...सुबह शाम खानसामे जुटे रहते। शीशियों की खनटन में और कुछ सुनाई न पड़ता। रात में पेट्रोमैक्स की रोशनी में शीशियों पर चिब्बियाँ चिपकाई जातीं। वालिद मरहूम इस पर खास नजर रखते। जिन शिशियों पर चिब्बियाँ टेढ़ी–मेढ़ी चिपकी होती उन्हें

हटा दिया जाता। काम का बोझ इतना होता...माल की माँग इतनी होती कि इन हटाई गई शीशियों की ओर किसी का ध्यान ही न जाता। वे वैसी ही खाली पड़ी रहतीं। घर में सैकड़ों ऐसी शीशियाँ इधर-उधर पड़ी हुई आज भी देख सकते हैं। दूर दराज से आने वाले व्यापारी पहले एक-दो दिन तो बारादरी के ऊपर वाले कमरों में आराम करते। वहीं वे अपना खाना खुद बनाते जिसके लिए पूरा इन्तजाम रहता। फिर वे अपनी शीशियाँ गिनवाते, और शीशियाँ गिनवाते-गिनवाते शिकवा शिकायत करते, नफा-नुकसान बताते, हँसी-मजाक करते, कीमत को कम-बेश करवाते और फिर उनके हाथ अपनी धोतियों, लुंगियों की टेंटों या मिर्जई और सदरियों की अन्दरूनी जेबों की तरफ बढ़ जाते। पंडित हरिनारायण, जो हमारे यहाँ खानदानी मुंशी थी, अपने चश्मे के अन्दर से सबकुछ देखते रहते, बात बिल्कुल न करते। कलम को दावात में डुबोते, दीवाल पर छिड़कते और अपनी लाल पोथी में दर्ज कर लेते।

व्यापारी चले जाते, कारीगरों की एक महीने की छुट्टी हो जाती, बारादरी में ताला लग जाता, पेट्रोमैक्स का तेल निकालकर टाँग दिया जाता, लेकिन खुशबू हमारा पीछा न छोड़ती। अब, श्रीमान जी, खुशबूदार तेलों को छोड़कर कागज के टुकड़ों का व्यापार करूँ, मन तैयार नहीं होता है। लेकिन मरता क्या न करता! अब यही करूँगा। एक बार बात अगर मन में जम गई तो बिजनेस जमा लूँगा। ठान लूँगा तो कर लूँगा। बस ठानने भर की बात है। रात भर सोचने का मौका दीजिए।

अभी-अभी मौलाना अजीबुर्रहमान के पड़पोते साहब ने, जिनका नाम रहमान है, अपना परिचय समाप्त किया है। इसमें उन्होंने खुशबूदार तेल का धन्धा बन्द करके लाटरी-टिकट बेचने का कारोबार शुरू करने की बात कही है। मैं इस कहानी को वहीं से पकड़ता हूँ।

ऐसे तो रहमान भाई को मैं बचपन से जानता हूँ। लेकिन करीब से तब से जानता हूँ जब से खुशबूदार तेलों के धन्धे में उन्हें घाटा होना शुरू हुआ। घाटा तो पहले से शुरू हो गया था और रही सही कसर पुलिस वालों ने ढेर सारे संगीन इल्जाम लगाकर पूरी कर दी। रहमान मियाँ को तो याद नहीं लेकिन सच्चाई यह है कि लाटरी के नए धन्धे के बारे में मैंने ही उन्हें राय दी थी। अब जबकि लाटरी वाला धन्धा वे शुरू करने वाले हैं, कभी-कभी मुँह में पान दबाकर...बाल खुजलाते हुए याद करने का बहाना करते हैं-अमा राइटर साहब, तेल का काम बन्द होने के बाद तो लगता था फाके करने पड़ेंगे। लेकिन एक हमदर्द दोस्त ने इस नए काम के बारे में बताया...और ऊपर वाले का करम है कि मन में बात जम गई है। मैं उन्हें बीच में टोकता हूँ-भई सारे जहाँ का दर्द मेरे जिगर में है, मैंने ही तुमसे कहा था तेलीपना छोड़ो, लाटरी का कारोबार शुरू करो। किस्मत का क्या भरोसा..फिर से चमक सकती है। वे पान थूकते हुए कहते हैं-

बस यही तो याद नहीं कि कौन बन्दा था। तुम्हीं थे क्या? मैं हँसने लगता हूँ। दरअसल ऐसा कई बार हो चुका है। और इसी मरहले पर आकर बात खत्म हो जाती है। ये नेकदिल लोग हैं। इनके वालिद भी अच्छे इन्सान थे। बस ये लोग थोड़ा अकड़ू हैं। कोई बात लग गई तो ठान लेते हैं। हाँ अगर ठान लिया तो कर दिखाते हैं। जाने कहाँ से यह सिफत आई है इनमें। तेल का धन्धा ऐसा खराब नहीं हुआ था कि उसे बन्द ही कर दें। बस किसी ने शिकायत कर दी कि मोर छाप तेल वालों ने मदरसों में चन्दा बढ़ा दिया है। बस क्या था सी.आई.डी. वाले पीछे पड़ गए। नुकसानदेह केमिकल मिलावट की शिकायत तो अलग से चल ही रही थी। रहमान भाई के वालिद ऐसे कि घूस देने को तैयार नहीं। कोर्ट-कचहरी करते-करते, सी.आई.डी. वालों को जवाब देते-देते पिछले साल चल बसे।

रहमान भाई ने कारोबार सँभाला ही था...ठीक-ठाक चल भी रहा था कि वह कश्मीर वाली बात हो गई। वहाँ के कुछ व्यापारी मोर छाप तेल लेने आए थे। आते ही रहते थे। जाड़े में ऊधर से ऊनी सामान लाते और इधर से मोरछाप तेल की शीशियाँ ले जाते। मोर छाप चिब्बी के नीचे लिखा होता था-यह तेल दिल्ली, सिरीनगर, अमृतसर, लाहौर और पेशावर तक भेजा जाता है। जबकि बँटवारे के बाद यह तेल पाकिस्तान नहीं जाता था लेकिन चिब्बी पर इबारत बरकरार थी। पिछले साल की ही तो बात है। रात में पुलिस और एस.टी.एफ. ने धावा बोला और सबको उठाकर ले गए। इल्जाम लगाया कि शीशियों में यहाँ से तेल भर कर जाता है और वहाँ से तबाही का लिक्विट आता है। कश्मीरियों और उनके कम्बलों और चादरों का तो कुछ पता न चला। हाँ एक महीने बाद रहमान भाई शकल सूरत बिगाड़कर वापस लौटे। बस तभी से तेल के धन्धे से हीक हो गई। लेकिन चोट भी पहुँची थी। ठीक दिल पर लगी थी। लेकिन कर क्या सकते थे। सी.आई.डी का मामला था। पीले झण्डे वालों ने घर के सामने ही धरना दे दिया...नारे लगाने लगे...पोस्टर छाप डाले...पोस्टर में रहमान भाई के मुँह पर कालिख पोत डाला...गद्दार और आतंकवादी बना डाला।

अभी पिछले ही महीने यही मुकाम था जब मैं एक शाम उनके साथ बैठा लाटरी की टिकटों के बारे में सोच रहा था। जब मैंने उन्हें यह सुझाव दिया तो वह भी सोचने लगे। फिरे मैंने उन्हें एक नाम भी सुझाया भारत माता लॉटरी केन्द्र या फिर हिन्दुस्तान लॉटरी सेंटर जैसा कुछ रख लें...नहीं तो गाँधी या नेहरू के नाम पर...। वे हँसते हुए पूछे मोर छाप लॉटरी सेंटर नहीं चलेगा क्या? मोर तो हमारा राष्ट्रीय पक्षी है। मैंने संजीदगी से कहा, देखिए एक बार बदनामी हो जाने के बाद...। वे और जोर से हँसने लगे फिर बोले नाम के बारे में मुझे सोचने दो।

दो दिन बाद रहमान भाई ने मुझे बुलाया। मैं समझ गया नाम के बारे में ही कुछ होगा। बात वही थी। चाय पिलाने के बाद वे मुझे अन्दर वाले कमरे में ले गए और

अभी–अभी अपने हाथों से पेन्ट किया हुआ साइनबोर्ड दिखाया। जो कुछ मैंने देखा उसे तो मैं आपको बताऊँगा ही लेकिन पहले यह सुन लीजिए कि उस साइनबोर्ड को देखते ही मुझे कैसा महसूस हुआ, मुझ पर क्या बीती, मैंने क्या सोचा। देखिए, पहले तो कुछ समझ न आया। फिर माथे में कुछ सरसराया। अरे...अह...ओऽऽऽ...यह क्या...! यह क्या रहमान भाई... मैं बुदबुदाया फिर हँस पड़ा। हँसी रुकी ही नहीं। रोके नहीं रुक रही थी। कभी–कभी सिम्पल–सी बातों में कितना तीखा व्यंग्य, कितना सटीक अर्थ, कितना भेदक ह्यूमर छिपा होता है...छिपा नहीं बल्कि उसमें से टपक रहा होता है...छलछला रहा होता है कि आप बस शब्द–मुक्ति की परमस्थिति में पहुँच जाते हैं। उसका आस्वाद क्षणिक होते हुए भी परमानन्ददायी होता है। इस सादगी और सीधेपन में जो व्यंजना होती है वह किसी प्रश्न या छद्म प्रविधि के प्रयोग के कारण नहीं बल्कि यह उसकी अन्तर्निहित शक्ति के कारण घटित होती है। हाँ उसकी अपनी एक नेचुरल टाइमिंग होती है जो कभी–कभी ही सेट बैठती है। और जब बैठती है तो लगता है जैसे किसी ने आपकी आत्मा में गुदगुदी लगा दी हो...या फिर सर में...जहाँ से सारी क्रियाएँ और विचार संचालित होते हैं, एक हथोड़ा दे मारा हो...या कि आपकी प्रेयसी या प्रेमी ने किसी के सामने आपका चुंबन ले लिया हो। आप मुग्ध या भयभीत होने से लेकर चौंकने, अचम्भित होने, आश्वस्त होने या सशंकित होने जैसी प्रक्रियाओं से एक साथ या अलग–अलग गुजर सकते हैं। उस साइनबोर्ड को देखने के बाद मैं कई भावों से गुजरा लेकिन जो अन्ततः मुझे याद रह गया है वह है सनसनी। जी हाँ एक प्रकार की सनसनी ने मेरे पूरे शरीर को, मेरी सम्पूर्ण चेतना को धर दबोचा। और, अब आपसे कैसे बताऊँ, यह सनसनी न तो पूरी तरह सकारात्मक थी न पूरी तरह नकारात्मक। मन–मुदित...मन–व्यथित जैसी स्थिति थी। एक विशेष प्रकार का भाव मेरे मुँह में, मेरे दिमाग में, मेरे पूरे शरीर में शुरू हुआ और फिर बन्द हो गया। इन सबसे जब मैं सँभला तो बेतहशा हँसने लगा। रहमान भाई की पीठ थपथपाता हुआ बस हँसता ही जा रहा था। फिर उनके ऊपर कुछ असर नहीं। वे चुपचाप खड़े थे। बिल्कुल चुपचाप।

वह एक चार बाइ तीन का टिन का टुकड़ा था। पहले उसे सफेद रंग से रंग दिया गया था। ठीक बीच में लाल पेन्ट से लाटरी की टिकटें बनाने की कोशिश की गई थी। वे किसी तरह बन गई थीं। उसके दाईं और बाईं ओर गाँधी छाप नोटों का ढेर बनाने की कोशिश थी...और कोशिश नाकाम नहीं थी। पीले रंग से एकदम नीचे छोटे–छोटे अक्षरों में लिख हुआ था–अब मोर छाप खुशबूदार तेल की जगह यहाँ से लॉटरी की टिकटें खरीदें। सबसे ऊपर मेरी नजर सबसे बाद में गई। वहाँ हरे रंग से साफ–साफ

बड़े अक्षरों में लिखा था–'अल–फायदा लॉटरी सेन्टर।'

रहमान भाई अभी भी चुपचाप खड़े थे। अचानक मुझे लगा जैसे उन्हें लम्बी–लम्बी दाढ़ी उग आई है, वे पतले और लम्बे हो गए हैं...सर पर पगड़ी...और कन्धे में एक.के. 47 टँग गई है। मैंने उनके उसी कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा–अच्छा बनाया है...पर इतनी मेहनत क्यों की...किसी पेन्टर से बनवा लेते। वे मेरे हाथ को धीरे से हटाते हुए बोले, साले तैयार ही नहीं हुए...तो खुद करना पड़ा...नाम कैसा है? मैं फिर हँसने लगा, मेरे मुँह से निकला, रहमान भाई, चीजों को हल्के–फुल्के ढंग से लेना छोड़िए समय को देखिए..यह पैरोडी महँगी पड़ सकती है...सोच लीजिए।

मैं जानता था रहमान भाई जिस माटी के बने हैं वे अपने निर्णय पर अडिग रहेंगे। जो ठान लिया सो करेंगे। कल जरूर यह बोर्ड उनके घर पर टँगा मिलेगा। मुझे यह भी पता था अगर रहमान भाई ने मेरी चेतावनी पर ध्यान न दिया तो मुश्किल में अवश्य पड़ जाएँगे। वही हुआ। ठीक वही। अल–फायदा लॉटरी सेन्टर का बोर्ड रहमान भाई ने अपने घर पर टाँगा और दूसरे ही दिन सी.आई.डी. और एस.टी.एफ. के लोग उनके दरवाजे पर आ धमके। मुझे खबर मिली तो मैं भी घबराया हुआ वहाँ पहुँच गया। यद्यपि कि रहमान भाई ने कोई अच्छा काम नहीं किया था और मेरे सुझाव की अनदेखी करके उन्होंने और बुरा किया था, फिरभी मेरी सच्ची सहानुभूमि उनके साथ थी। जब मैं पहुँचा तो बाहर से ही मामले की गम्भीरता का एहसास हो गया। मुहल्ले के लोग दर्शक बने कुछ फासले पर खड़े थे। पहले मैंने उन्हें ही देखा और पाया कि कई लोग पुलिसिया हरकत से नाखुश थे। रहमाई भाई अपने ही बरामदे में जमीन पर बैठाए गए थे। एस.टी.एफ. और सी.आई.डी. वाले कुर्सियों पर विराजमान हो उनसे पूछताछ कर रहे थे। सिपाहियों को कुर्सी नहीं नसीब हुई थी और वे बन्दूकें लटकाए इधर–उधर टहल रहे थे। वह कसूरवार साइनबोर्ड नीचे कोने में पड़ा था। मैं चलता–चलता वहाँ तक चला गया जहाँ से मैं पुलिसवालों और रहमान भाई के सवाल–जवाब आसानी से सुन सकता था। मैं इस तरह खड़ा हुआ कि जमीन पर बैठे रहमान भाई मुझे न देख सकें।

''महीने भर जेल की हवा खाकर लौटा था...अब यह सब करने की क्या जरूरत थी बे?'' पूछने वाला सादी वर्दी में था।

–''क्या किया?'' रहमान भाई ने भी प्रश्न पूछा। स्वर कहीं से कमजोर नहीं था।

–''यह बोर्ड घर पर क्यों टाँगा?''

–"बिजनेस के लिए।"

–"इस तरह का नाम क्यों रखा?"

–"मुझे तो इसमें कोई बुराई नजर नहीं आती।"

–"बुराई नजर नहीं आती?"

–"जी नहीं।"

–"तूने क्या नाम रखा है पता है?"

–"आल-फायदा लॉटरी सेन्टर। मेरे यहाँ से जो टिकट खरीदे, उसका फायदा होगा।"

–"तुझे और कोई नाम नहीं सूझा?"

–"सूझा था लेकिन यही चुना।"

–"क्यों?"

–"देखने में, सुनने में, यह ध्यान खींचता है। बिजनेस के लिए यही जरूरी है।"

–"साले, उच्चारण पर ध्यान दिया है, कितना मिलता जुलता है?"

–"वही तो कह रहे हैं, लोगों का ध्यान खिंचेगा।"

–"ठीक कहता है, हमारा भी ध्यान खिंच गया। अच्छा बोल, इसे हरे रंग से क्यों लिखा?"

–"ध्यान खींचने के लिए।"

–"तो बिजनेस के लिए तुम देश-द्रोह का काम करोगे?"

–"इसमें देश-द्रोह कैसा?"

–"अच्छा सुन, यह काला पेंट है। मिटा अपने हाथ से। छोड़ देंगे तुझे।"

–"यह कोई गाली नहीं है जो मिटा दूँ।"

–"बहुत बड़ी गाली है बे।"

–"आप बिना वजह भयभीत हो रहे हैं। यह बोर्ड किसी का कुछ नहीं बिगाड़ेगा। यह मेरी दुकान का नाम है बस।"

–"अच्छा चल मिटा, तेरा पाप धुल जाएगा।"

–"बड़ी मेहनत से तैयार किए हैं इसे। यह कोई पाप नहीं है।"

–"बड़े जिद्दी हो भाई।"

–"आप सही फरमा रहे हैं।"

–"अबे!"

–"जी हाँ मैं बड़ा जिद्दी हूँ। मेरा मानना है कि चिढ़ाना किसी को गाली बकने से अलग है। इसलिए यह मेरे फ्रीडम ऑफ एक्सप्रेशन के अधीन है।"

–"अँग्रेजी मत बोल। और जिद के पेड़ से नीचे उतर। चला ब्रश।"

–"हम जिद नहीं करेंगे तो मर जाएँगे। जिद हमारे लिए आक्सीजन है। ब्रश नहीं चला सकते।"

–"देशहित में भी नहीं?"

–"नहीं। मेरा भी कोई हित है। कोई सुन रहा है कि नहीं?"

–"पूरे सनकी हो भाई।"

–"आप बड़े लोग हैं कुछ भी कहें।"

–"अबे तुझ जैसे सनकियों से हिन्दुस्तान को खाली कराना पड़ेगा।"

–"तब हिन्दुस्तान सूना हो जाएगा।"

–"अजीब आदमी है। पागल।"

–"जी मैं सही में अजीब आदमी हूँ। मेरे पूरे खानदान में सभी हैं।"

–"तू सुधरेगा नहीं?"

–"वह भी नहीं सुधरे थे।"

–"कौन?"

–"कोई नहीं।"

–"तुम्हें हम अन्दर करके आजीवन सड़ा सकते हैं। यहाँ तक कि तुम्हारा काउंटर भी हो सकता है।"

–"किस जुर्म में?"

–"तुम्हारे कारनामे से पूरी फाइल भरी पड़ी है। हमें पता है तुम्हारे तार कहाँ-कहाँ से जुड़े हैं।"

–"यह आप कभी भी पता नहीं कर सकते।"

–''जबान लड़ाता है। साले, दस साल से तुम लोग यही कर रहे हो। कहो तो बताएँ कहाँ–कहाँ से तुम्हारे तार जुड़े हैं?''

–''इसके लिए आपको बहुत पीछे जाना होगा। बहुत पीछे। आप तो बस नाक की सीध पर देखते हैं।''

–''बेसिर पैर की बात मत करो, अच्छा बता, कहाँ से पढ़ा–लिखा है?''

–''अलीगढ़।''

–''और तुम्हारे बच्चे?''

–''मदरसा दाखल ईमान में नाम लिखवाया है। मौलाना बनाना चाहते हैं।''

–''हवलदार, इसे जीप में बैठाओ। साला पक्का आतंकवादी बन गया है। बैठाओ साले को।''

सुनकर मैं काँप उठा। मेरे पाँव थरथराने लगे। वहाँ खड़ा होना दूभर हो गया। याद नहीं कैसे मैं घर पहुँचा। बाद में घर पर किसी ने बताया कि एस.टी.एफ. वाले रहमान भाई को साथ ले गए। मैं बेचैन हो उठा। क्या करूँ, किससे कहूँ। आखिर क्या जरूरत थी रहमान भाई को इतनी अकड़ दिखाने की? पहले ही समझाया था...लेकिन उनकी जिद के आगे कुछ न कर सका।

रात में बहुत देर तक करवट बदलते रहने के बाद नींद आई तो सपने में रहमान भाई को देखा। उन्हें तीन गोलियाँ मारी गई थीं। एक सर में, एक सीने में और एक मुँह में। उनकी लाश जहाँ पड़ीं थी वहीं मोरछाप तेल की असंख्य खाली शीशियाँ बिखरी पड़ी थी। और पुलिस वाले उन पर लाठियाँ बरसा रहे थे। मुझे डर है कि यह सपना कहीं सच न हो जाए। आखिर आजकल सपनों के सच होने में वक्त ही कितना लगता है।

मो. आरिफ

मो. आरिफ का जन्म सन् 1961 में सुल्तानपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आरिफ ने पहले अंग्रेजी में लिखना शुरू किया। उनका अंग्रेजी में उपन्यास छप कर आया–'द ड्रीमी ट्रैवलर'। इस उपन्यास को हिन्दी में 'उपयात्रा' शीर्षक से लाए। एक कहानी संग्रह फिर कभी शीर्षक से प्रकाशित हो चुका था, दूसरा कहानी संग्रह 'फूलों का बाड़ा' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ। आरिफ प्राय: लम्बी कहानियाँ लिखते हैं और कहानियों के विषय पर बहुत ध्यान देते हैं।

क्विज़ मास्टर

–पंकज मित्र

वह एक छोटे से शहर का बड़ा क्विजमास्टर था। छोटा इसलिए कि अभी भी इस शहर में अंग्रेजी में बात करने को 'गिटिर–पिटर करना' कहा जाता था और अंग्रेजी बोलने वाले का मुँह भकर–भकर देखा जाता था। हालाँकि कुछ वर्षों में हर छोटे शहर की तरह कुछ बदलाव भी आए थे जिन्हें कुछ लोग 'पॉजिटिव चेंज' कहते थे और कुछ का मानना था कि 'सबकुछ तेलहंडे में जा रहा है'। एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री के नाम वाले कॉलेज की छात्राएँ बातचीत में 'ओ शिट' आदि का प्रयोग करने लगी थीं, शायद बिना शाब्दिक अर्थ समझे, वरना स्नानादि की भी नौबत आ सकती थी। हर बड़े बनते शहर की तरह यहाँ भी गणेश जी ने दूध पीने की कृपा की थी और इससे साबित हुआ था कि सूचना क्रांति ने अब यहाँ भी द्वार पर दस्तक दे दी। सूचनाओं के महत्त्व को इस शहर के लोग भी समझने लगे थे–खासकर इंग्लिश मीडियम वाले स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के माता–पिता और उसकी स्कूल को शानदार और जानदार माना जाने लगा था जिसकी फीस हो तगड़ी और जहाँ क्विज काम्पीटिशंस में बुद्धि जाती हो रगड़ी। खैर साहब, तो कुछ ऐसे ही माहौल में उसने यकायक पाया कि उसका नाम शहर के एक प्रतिष्ठित क्विजमास्टर के रूप में स्थापित हो चुका है। लोग कहते हैं (विशेष रूप से उन स्कूलों, कॉलेजों के प्रिंसपिल साहिबान जिन्हें उसमें एक मुक्त का क्विजमास्टर नजर आता था) कि उसकी अंग्रेजी की फ्लूएंशी के सामने सिद्धार्थ बसु फेल हैं और उसकी अदाओं के सामने ओब्रायन भाई पानी भरेंगे और क्विज के बीच–बीच में पंच किए गए उसके विटी रिमार्क्स, चुटकुलों और सस्पेंस पैदा करने की उसकी क्षमता का तो कोई जोड़ ही नहीं है–'इस बार जरा पिछली बार से भी जोरदार शो हो, खर्चे की

कोई फिकर नहीं, जरा बोर्ड के चेयरमैन आ रहे हैं और वी.सी. भी रहेंगे–हें...हें...हें...' अपना एकमात्र सूट पहनकर एकमात्र टाई लगाए–'ए वेरी गुड इवनिंग टु यू लेडिज एंड जेण्टलमैन...' फरर्राटेदार अंग्रेजी, चुस्त–दुरुस्त उच्चारण...वर्षों के अभ्यास से बनाई हुई, साधी गई...और 'क्विज मास्टर्स डिसीजन इज फाइनल' तक आते–आते तो गर्दन उसकी तनकर अकड़ जाती थी। लोगों की तालियों के बीच उसे लगने लगता कि बस उसकी बात ही 'आखिरी बात' है। उस शहर के कार्यक्रमों के बीच में अचानक बिजली चली जाना, किराए के माइक में घरघराहट शुरू हो जाना जैसी दुर्घटनाएँ अक्सर होती थीं, लेकिन जरा भी नहीं घबराता था वह।

अब उसी दिन की घटना लीजिए...झकझक रोशनियों के बीच उसने कॉलेज में बस शुरू ही किया था कि भक्...बिजली गुल...अब कॉलेज के लड़के, शुरू हो गए।

हा! हा! खी! खी! हू! हू

'जाने दीजिए सर!' तब तक कुछ गाना उना लगाइए'... तरह–तरह की फब्तियों के बीच उसने सँभाला माइक–'गाना भी है मेरे पास दोस्तो'। गनीमत थी कि माइक ठीक था–'गाने के साथ–साथ सवाल भी है आप आडिएंस के लिए कि सारा दिन सताते हो/रातों को जागते हो/तुम याद बहुत आते हो।... इस फिल्मी गाने की याद तो होगी आपको, लेकिन सवाल आपके लिए कि ये याद किसकी है?

'जय प्रदा।' लड़के चिल्लाए।

थोड़ा पाज... 'जी नहीं, इसका जवाब है बिजली, और लगता है आज शहर में कोई मंत्री नहीं है।' लड़के हँसते रहे। धक–धक जेनरेटर चालू हो चुका था। शो फिर शुरू हो चुका था–आज के क्विज का ग्रैण्ड शो। आयोजक पसीना पोंछ रहे थे। थोड़ी देर होती तो लड़के तो तोड़–फोड़ शुरू कर देते। फिर जब अंग्रेजी की बीन बजनी शुरू हो गई उसकी तो लड़के उसके सम्मोहन से कैसे निकलते। लेकिन सिर्फ अंग्रेजी की ही बात नहीं। बक्सर के अब उसी कॉलेज की बात लीजिए। कहने को क्विज था कॉलेज का, हजारों हजार लोग जमा हो गए। बीच में कस दी किसी ने फब्ती... 'जादे अंगरेजी मत झाड़ कुछ भोजपुरियों में होखे के चाही।'

पुलिस कप्तान थे मुख्य अतिथि, सो पुलिस वाले दौड़े–'कौन बोला रे' 'पकड़ तो रे।'

उसके माइक पर बोलना शुरू किया–'राउर सबके इहे मर्जी बा तो उहे होई' और बाद के क्विज के दो राउंड भोजपुरी में ही हुए सवाल भी जवाब भी। बीच–बीच में 'लोहासिंह' शैली में पंच भी, महिलाएँ थीं नहीं तो कुछ अति भी कर दी उसने। अपने कालेजिया दिनों के कुछ डायलाग्स भी सुना डाले उसी शैली में–'जब हम काबुल के मोर्चा पर गइल रही नूँ तो हुआँ अंगरेज के मिमिन लोग बिलौज सिलाय था तो उस में से कांखी का बार लौकता था, अउर हम जब लंगोट सिलाया तो इसमें भी ओही डिफेट था।' लोग गदगद, आयोजक गदगदायमान। क्विज मास्टर हो तो ऐसा, सिचुएशन के हिसाब से खुद भी ढल जाए और बदल दे पूरा माहौल। घुमा दे आडिएंस का दिमाग...

दिमाग तो घुमा देती थी गुरप्रीत कौर, अपनी नियानशाइन हंसी और अंग्रेजी के चमकदार उच्चारण से।

एक बहुत ही छोटे से कस्बे से आकर शहर के गौरव एक मिशनरियों के कॉलेज में अंग्रेजी आनर्स में एडमिशन लेने को जुर्रत कर चुका था वह। उस दौर में उस कालेज में विदेशी शिक्षक हुआ करते थे जिनकी अंग्रेजी सुनकर वह भकर–भकर मुँह देखा करता था। न जाने कहाँ से शेरवुड से कि दून से आकर इंग्लिश डिपार्टमेंट के बेरंग से कैनवस को रंगों से भर दिया था गुरप्रीत कौर ने। पहले से ही अभिजात समझा जाने वाला विभाग उसके आ जाने से अत्याधुनिक भी माना जाने लगा था। जिधरे से गुजरती, प्रशंसा, आतंक, सवालों के रंगीन बादल लड़कों के बीच छा जाते। 'यही न है वो?' –जब तक एक नजर दूसरे को समझाती तब तक वह फुर्र हो चुकी होती थी, अपनी सफेद एम्बेसेडर में जिसमें लगी थी लाल बत्ती और जो उस रोज पहुँचाने आती थी और क्लास खत्म होने तक रुकी रहती। और यही वह समय था जब उसकी प्रश्नाकुलता का दौर शुरू हुआ था–कहाँ से आई है? घर में कौन–कौन है?...हर दिन एक अदद पुरानी हरक्युलस साइकिल से उस सफेद एम्बेसडर का पीछा करके उसके घर का पता मालूम करने की कोशिश भी करता लेकिन कितनी भी मजबूत साइकिल क्यों न हो, भला एम्बेसडर का मुकाबला क्या करती, वो भी लाल बत्ती लगी हुई। उसकी प्रश्नाकुलता बढ़ती रही और क्लास में पीछे बैठे कुछ ऐसे सवाल भी उसके अंदर उगने लगे थे जिन्हें वक्त के उस दौर में काफी गर्हित माना जाता था। मसलन जो नाइलॉन की टाइट फिटिंग लाल रंग की जर्सी गुरप्रीत पहनती है उसके अंदर के कबूतरों को दाना चुगाने का मौका कभी उसे मिल जाए तो... (उस वक्त तक साफ–साफ पूछने का प्रचलन हुआ नहीं था कि चोली के पीछे क्या है)। इस 'तो' के बाद कान की जड़ु में सनसनाहट सी शुरू हो जाती थी, वह धीरे–धीरे इतनी तेज हो जाती थी कि हलक सूखने लगता और लाल–नीले–पीले सितारों की कहकशां छा जाती

आँखों के आगे। ऐसा ही एक प्रश्नाकुल घड़ी में वह क्लास में ही नीम बेहोश हो गया और उसकी ये नीम बेहोशी इतनी फायदेमंद साबित हुई कि बहुत सारे प्रश्नों के जवाब उसे खुद–बखुद मिल गए। मसलन वह लाल बत्ती लगी सफेद एम्बेसडर गाड़ी सरदार हरबंस सिंह नाम सज्जन के घर जाती थी जो भारतीय सर्वशक्तिमान सेवा (इंडियन अलमाइटी सर्विस या आई.ए.एस.) के अधिकारी थे और गुरप्रीत उन्हीं की एकमात्र बेटी थी। (इसके कुछ दिनों तक उसने सरदारों के बारे चुटकुलों से तौबा कर ली थी। उसी लाल बत्ती लगी एम्बेसेडर में डालकर उसे डाक्टर के यहाँ ले जाया गया, जहाँ लो ब्लडप्रेशर बताकर उसकी छुट्टी कर दी गई और उसे गुरप्रीत के बंगले पर लाया गया था। आखिर साले ब्लड प्रेशर ने भी दगा दिया, यहाँ भी लो, जिन्दगी में हाई कुछ भी नहीं। इसके बाद से गुरप्रीत के चेहरे पर उसे देखते ही च्च...च्च... वाला भाव आ जाता था जिससे उसे काफ्त भी थी पर क्या कर सकता था वह। तभी पहली बार काले, पूंछकटे कुत्ते वहीं देखे थे जिनके बारे में गुरप्रीत ने बताया था, 'डाबरमैन हैं। तुमने देखी है वो फिल्म 'डाबरमैन गैंग' जिसमें इन्हीं कुत्तों को ट्रेण्ड करके बैंक राबरी कराई जाती थी? नहीं देखी? ओ पुअर चैप!' और तभी उसे बड़ी शिद्दत से अहसास हुआ था कि वह सचमुच का 'पुअर चैप' है। अब शहर में वह अंग्रेजी फिल्में क्या देखता! उस समय तक तीन चौथाई अंग्रेजी फिल्में तो उसके पल्ले ही नहीं पड़तीं–तोड़–जोड़ कुछ कल्पना कुछ समझ, मिला–जुलाकर वह फिल्म की कहानी किसी तरह समझ पाता था और इस शहर में लगती भी कहाँ थीं अंग्रेजी फिल्में।

फिर से उसकी प्रश्नाकुलता का दौर शुरू हो गया था। गुरप्रीत उसके बारे में क्या सोचती है, उसे क्या पसंद है क्या नापसंद, किस तरह की नौकरी पसंद करती है या फिर नौकरी एकदम पसंद न हो। अपने और उसके बीच पनपने वाले (एकतरफा ही सही) सम्बन्धों के नामों के आप्शंस पर विचार करता। कोशिश भी की थी उन्हें नाम देने की। एक बड़े से कार्ड पर बड़ा सा G और K लिखकर बीच में जोड़ (+) का निशान बना दिया और नीचे कई आप्शंस दिए–गुरप्रीत + कौर, गुरप्रीत + कुमार (उसका अपना नाम) तथा जेनरल + नालेज (यह साबित करने कि उसमें सेंस आफ ह्यूमर प्रचुर मात्रा में मौजूद है)। तो गुरप्रीत ने उसी आप्शन पर टिककर दिया था। तभी से उसके जीवन के दो मकसद हो गए। एक अंग्रेजी को माँज–धोकर, चुस्त–दुरुस्त करके गुरप्रीत के बराबर चमकादार बनाना तथा जेनरल नालेज पर ज्यादा–से–ज्यादा ध्यान देना जिससे भारतीय सर्वशक्तिमान सेवा (इंडियन अलमाइटी सर्विस यानी आई.ए.एस.) का सदस्य बनकर गुरप्रीत को दिखा सके और बहुत सारे सवालों को

एक झटके में ही हल कर डाले। चैम्बर्स, आक्सफोर्ड, वेब्सटर, बी.बी.सी. के इंग्लिश लेशंस, कीट्स, शेक्सपियर, इलियट, एन.सी.ई.आर.टी. बुक्स, डी.डी.बसु, रायचौधुरी, बाशम, रोमिला थापर सभी सवाल पूछते रहे, वह हल करता रहा, करता रहा, पर सभी मिलाकर भी उसके इस सवाल का जवाब नहीं दे पाए कि सेशन के ऐन बीच में ही गुरप्रीत कहाँ गायब हो गई। जवाब दिया तो डी.डी. साहब के चपरासी ने–'बेबी का तो बियाह हो गया। लड़का भटिण्डा में एस.डी.ओ. है। वहीं चंडीगढ़ से ही हुआ।' उसी दिन सारे चैम्बर्स, आक्सफोर्ड, शेक्सपियर, डी.डी. बसु, रोमिला थापर, बाशम सभी किनारे हो गए। अब आप लोगों से सवाल–जवाब का क्या मतलब है। वही डिफेट तो रहिए गया ना।' लोहासिंह की नकल पर वही जुमला कभी उसका प्रिय जुमला हुआ करता था और वह आश्चर्यचकित था कि पिछले एक साल से वह इस जुमले को भूले हुए था।

सवाल दर सवाल, जवाब दर जवाब का इतना तो असर हुआ ही ही कि अंग्रेजी हो गई उसकी चुस्त मुहावरेदार–छोटे से शहर को आतंकित कर देने, उसे सहमाकर, दुबका देने, भकर भकर मुँह ताकने पर मजबूर कर देने वाली और जेनरल नालेज का लेबल सामान्य के निशाने से काफी ऊपर। हर बार जी.के. टेस्ट (जी.के. का जिक्र उसे हर बार गुरप्रीत + कुमार की याद दिलाता था) में वह काफी नम्बर लाता और क्विज काम्पिटिशंस में काफी हिस्सा लिया करता बतौर शौक। तब शायद जोर भी नहीं था सूचनाओं का और 'इंफारमेशन इज पावर' आदि जुमलों के आने में काफी वक्त था। कौन है मोनिका लेविंस्की, बिल गेट्स की आत्मकथा की कितनी प्रतियाँ बिक चुकी हैं या राष्ट्रपति बुश ने अपनी कुतिया का नाम क्या रखा है इन सवालें पर तब भूत/वर्तमान/भविष्य निर्भर न था। क्विज प्रतियोगिताएँ थीं, पर सिर्फ दिमागी कसरत एवं याद्दाशत की जाँच के लिए, छप्पर फाड़ने और कुछ फड़वाने के लिए नहीं। कालेज के यूथ फेस्टिवल के इसी तरह की कसरत में सोने के पानी चढ़े एक मेडल को जीत कर भी वह खुश नहीं था क्योंकि गुरप्रीत नहीं आई थी वहाँ, गोकि उसका बाप सरदार हरबंस सिंह मुख्य अतिथि बनकर अपनी लाल बत्ती लगी सफेद एम्बेसडर सहित मौजूद था। 'गुरप्रीत इज ए बिट इंडिस्पोस्ड' सूचना मिली पूरे डिपार्टमेंट को, साथ उसे भी।

मेडल लेकर दूसरे ही दिन वह दिखाने पहुँचा, पूरे डाबरमैन गैंग से मुकाबला करता हुआ (मानसिक ही, शारिक तो क्या करता!) उस दिन भी गुरप्रीत ने वही लाल जर्सी पहन रखी थी, जिसके अंदर के कबूतर उसके अंदर दाना चुगाने की हसरत पैदा

करते थे। चेहरा, गाल, नाक सब लाल। 'आय एम सारी' कहते हुए जो नाक सिनकने की अदा थी उसकी...तर्जनी को ऐन नाक से हारिजांटली खींचने की...इज दिस द फेस दैट लांच्ड थाउजैण्ड शिप्स...आदि...आदि याद आए थे उसे। जुकाम की वजह से शायद कुछ डिप्रेस्ड भी थी क्योंकि 'गरीबों से सहानुभूति', 'पैसा हाथ का मैल है', 'मनी इज ए गुड सर्वेंट बट ए बैड मास्टर' आदि विषयों पर बात की उसने और अपने डाबरमैन गैंग को कई बार लतियाता थी–'गो! गो अवे!' उसके अंदरूनी हिस्सों में काफी प्रसन्नता उग आई थी उस दिन पता नहीं क्यों। हलाँकि उन सवालों के जवाब अब ढूँढकर भी क्या होना था...।

नाक सिनकने की उसी अदा–तर्जनी को नाक के ऐन नीचे से हारिजान्टली खींचने की 'आय एम सारी'कहते हुए को छोड़कर ऐसा कुछ भी कामन नहीं था गुरप्रीत और प्रीति में जिसे शादी के बाद पंजाबियों की तरह 'प्रीतो' कहने लगा था। विकल्प तो कई थे पर प्रीति की इसी अदा (लड़की देखने जब गया था वह तो प्रीति शायद जुकाम से पीड़ित थी) को देखकर उसने निश्चय कर लिया था कि वह प्रीति से ही शादी करेगा। सभी विकल्पों को छोड़कर उसने 'प्रीतो' के नाम पर टिक लगा दी थी। एम.ए. कर लेने के बाद 'योर टाइम स्टार्टूस नाऊ' का डंडा लेकर बाबूजी पीछे पड़ गए और कई बार 'नन आफ द अवभ' को टिक करने के बाद वह लेक्चररशिप पा जाने में कामयाब हो गया था। तभी पहली और आखिरी बार गुरप्रीत उसके सपने में आई थी और उसके चेहरे पर वही 'च्च...च्च...च्च...' का भाव था– वही 'पुअर चैप' वाला। सचमुच नौकरी क्या थी, पूरी की पूरी क्विज थी, वो भी सिर्फ माइनस मार्किंग की शर्तों वाली–अगर आप फलां फलां जात के नहीं है तो आपको फलां फलां समस्याएँ भुगतनी पड़ेंगी, अगर आप फलां फलां के चरण चम्पन नहीं करते तो फलां फलां चीजों से हमेशा वंचित रहेंगे। 'क्विज मास्टर्स डिसीजन इज फाइनल' की तरह भी कई प्रतिबंध थे–मसलन समय पर तनख्वाह के बारे में कुछ बोलना 'क्रुफ बकना' था और बनिया हमेशा बदलते रहने पड़ते थे। ये सवाल भी सामने रहता था कि एक दिन जब शहर के सभी बनिए उसे 'उधार का राशन' खिला चुके होंगे तब क्या होगा। एक ही 'डिफेट' का भरोसा था कि तब तक जनसंख्या भी काफी बढ़ चुकी होगी, कुछ और नए बनिए भी पैदा हो चुके होंगे। इस जवाब पर वह खुद को हमेशा पूरे नम्बर दिया करता था दस में दस। लेकिन कई सवाल होते थे जिनके उत्तर उसे एकदम पता नहीं होते थे। कोई गेम नहीं, कुछ नहीं–जैसे, उसके दो बच्चे (एक बेटा, एक बेटी) इतनी तेजी से क्यों बढ़ रहे हैं, हर छह महीने पर ही क्या स्कूलों में रिएडमिशन होने लगा है, हर दूसरे–तीसरे दिन स्कूलों में क्यों तरह–तरह के कार्यक्रम

होते हैं जिसमें दस–बीस रुपए देने पड़ते हैं। शायद समय बोध गड़बड़ा रहा था उसका–बनिया तीन महीने पर पैसा लेता है या छह महीने पर, दूध वाले को हर महीने पैसा देना पड़ता है क्या–ऐसे बहुत सारे सवाल थे जिसमें उसके एकदम नम्बर नहीं आते थे...

फुल मार्क्स तो देते थे उसे श्रीवास्तवजी जिनका एक स्कूल था और जो अपने तालव्य 'श' के आक्रमण से आक्रांत किए रहते थे उसे। बच्चों ने भी उनका नाम 'बहुत शुंदर श्रीवास्तव' रखा था–बहुत शुंदर! बहुत शुंदर...फल मार्क्स टु यू शर! आज का शो, ग्रेट! आपका तो खैर... उसके बाद शब्द नहीं मिल रहे थे, 'बच्चों का जेनरल अवेयरनेश इतना डेवलप करवा देना, आपके शहजोग से कि हमारे बच्चे जहाँ जाए बश...श...श... इसके बाद शायद अंग्रेजी में कुछ कहना चाहते होंगे, बड़ी बात, लेकिन सही शब्द नहीं मिल पाने के कारण 'श' ही खिंचता रहता और बदलती रहती हाथों की मुद्राएँ। हर क्विज के बाद छा जाती थी खुशी की परत, विक्को टर्मेरिक की परत के ऊपर, जिसे श्रीवास्तव बिला नागा लगाया करता था। उसे नफरत थी इस गंध से और श्रीवास्त की अंग्रेजी से भी। अब बच्चों के अभिभावकों को तो झेलनी ही पड़ती थीं अंग्रेजी उसकी, क्योंकि शहर में अंग्रेजी मीडियम स्कूल वही दूसरे नम्बर पर था। नम्बर एक में एडमिशन न हो तो 'जाएँ तो जाएँ कहाँ' और फिर कुमार की चुस्त अंग्रेजी में पूछे गए प्रश्नों का जवाब अपने बच्चों को पटापट देते हुए सुनते, तो परम संतुष्टि का अनुभव करते कि बच्चा ठीक हाथों में है। अत्याधुनिक सूचना समाज का कारगर अंग बन रहा है। इस अंग निर्माण की प्रक्रिया में उनका आर्थिक योगदान दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था और बढ़ती जाती 'बहुत शुंदर श्रीवास्तव' के चेहरे पर विक्को टर्मेरिक की परत की चमक भी। लेकिन वे चेहरे की शिकन को छुपाए रखते, आखिर 'इन्फारमेशन इज पावर' भाई!

आखिर कुमार तैयारी भी तो जबर्दस्त करता था, एक–एक क्विज के लिए। कलेजा निचोड़कर रख देती थी ये तैयारी–हिस्ट्री, ज्योग्राफी, लिटरेचर, करंट अफेसर्य, रोचक सूचनाए, आडियो टेप, वीडियो क्लिपिंग्स...श्रीवास्तव ने कहा भी था–खर्चे की कोई चिन्ता नहीं। दीज आर आल इंटरटेनमेंट। सब कुछ परफेक्ट होना है...दो तीन छात्र उसकी टीक के–टिन्नू, अनवर सभी चाक चौबंद–हर इशारे को समझने वाले, सही टाइमिंग, सही प्रोग्रामिंग। किताबें, पत्रिकाएँ, अखबार, रेडियो, टी.वी, से सूचनाएँ खंगाल कर इकट्ठा कर, धो–पोंछकर रोचकता की चाशनी में लपेटकर पेश करना और साथ ही चुस्त अंग्रेजी में मस्त खुशबू...वाह! क्या कहने...और शुरू हो जाता श्रीवास्तव

जी का 'राग बहुत शुंदर'...स्कूल में बढ़ती जाती छात्रों की संख्या...बहुत शुंदर...बहुत शुंदर, कुमार और उसकी टीम के लिए स्कूल गार्डेन से ही फूलों का बुके, तीन चार सौ रुपल्ली माहवार पर जबरदस्ती मुस्कराती शिक्षिकाओं के हाथों...बहुत शुंदर...बहुत शुंदर।

आखिर ये 'राग बहुत शुंदर' कितने दिनों तक चलता, खटराग होना ही था। हनीमून कब तक–'हनी वाज नाऊ मनी एंड उ मून बर्न्ट आउट शून' फट पड़ी थी प्रीति एक दिन–'उनका स्कूल तो तरक्की कर रहा है, स्टूडेण्ट बढ़ रहे हैं। आपको क्या मिलता है। कभी अठन्नियो मिला है। इतना समय जो देते हैं इस सबमें।'

उसने हैरत से प्रीति को देखा।

'ऐसे क्या देख रहे हो। कुछ गलत कहा?'

'देखो प्रीति (उसने प्रीतो नहीं कहा, ये नोट किया उसने) ये सब पैसे के लिए थोड़े करता हूँ। शौक है बस।'

'शौक बड़े लोगों के लिए होते हैं। दस लोगों ने 'वाह! वाह!' कर दी, बस कुमार साहब फूल के कुप्पा। बहुत बड़े क्विजमास्टर हो गए। पता भी है, पिछले हफ्ते से दूध वाला पैसा माँग रहा है। टरका रही हूँ किसी तरह, कुछ होश है?'

'अच्छा!' कुमार ने दुबारा आश्चर्य से उसकी ओर देखा जैसे दूध वाले का पैसा माँगना कोई अनहोनी घटना हो और उसके बारे में सही सूचनाएँ 'विलीव इट आर नाट' या फिर 'इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में मिलेंगी।

'दूध वाले का पैसा अभी कुछ ही दिनों पहले तो...' कुमार का समय बोध फिर गड़बड़ाने लगा था 'तुम्हारा' अभी कुछ ही दिनों पहले' जो है न, वह तीन महीने पहले बीत चुका है। समझे!'

पूरी तरह तिथियाँ गड्डमड्ड हो चुकी थीं–पानीपत की पहली लड़ाई कब...1588 नहीं...इस साल तो स्पैनिश आर्मडा का आक्रमण हुआ था। हिरोशिमा पर बम तो 6 अगस्त या कि 6 दिसम्बर...नहीं वो तो बाबरी मस्जिद...

'इतना तो कुईज फुईज में समय देते ही फ्री फंड का, इससे अच्छा टयूशन ऊशन पढ़ा लेते तो कुछ काम का होता, अंग्रेजी का तो डिमांड भी बढ़ा है इस कम्प्यूटर का जमाना में। अगल-बगल दिखयो के आँख नहीं खुलता है।'

बड़बड़ाती हुई प्रीति अंदर चली गई थी। उसी अदा से नाक सिनकी थी उसने,

जो बड़ी फूहड़ से लगी थी उसे आज शायद...पहली बार...पड़ोस का छत पर तो देखा तो सिमेज शर्मा थीं। शायद सूख गए कपड़े उठाने आई थीं। ओ! प्रीति की गाइडेड मिसाइल उन्हीं की तरफ फेंकी गयी थी। मि. शर्मा टयूशन की दुनिया के बेताज बादशाह जो थे। कई बार वह मजाक भी उड़ा चुका था–शर्मा जी! टयूशन स्पायल्स इन्टूशन! (टयूशन से प्रज्ञा नष्ट होती है) आदि फिकरे कस कर। लेकिन प्रीति के इस 'रैपिड फायर राउंड' का कोई जवाब नहीं था उसके पास और वह इस राउंड में शून्य अंक पर था। उसे याद आ रहे थे शून्य में ताकते उन छात्रों के चेहरे। उसकी अंग्रेजी क्लास में भकर-भकर देखते हुए, चेहरों पर स्थायी प्रशंसा का भाव...दासत्व की अवशिष्ट स्मृतियों के इश्तहार बने चेहरे...

शर्मा के बिजनेस टिप्स की जरूरत आन पड़ेगी क्या? सेशन की शुरुआत में एक दो कलास पूरे उत्साह के साथ। 'एड क्लास' कहता था शर्मा उन्हें, पूरी बेशर्मी के साथ।

'सर! आखिर आप भी...।' अनवर जो प्रिय छात्र था उसका और क्विज में असिस्ट करता रहा था लम्बे समय से–बेला था।

'यू टू ब्रूटस' की तरह कलेजे पर लगा था उसे। खैर उसे 'एड क्लास' लेने की जरूरत नहीं थी। लड़के उसकी क्षमता से वाकिफ थे। सिर्फ उन्हें खबर मिलनी थी कि अब कुमार साहब भी...

पड़ोसी वाली छत से शर्मा गुटखा खाए दाँतों को निकाल कर दोस्ताना भाव-से मुस्करा रहा था–'क्यों कुमार साहब! स्वागत है, स्वागत है हमारे यूनियन में। आखिर आप भी बन ही गए अंग्रेजी डॉक्टर। हें...हें...अच्छा है, अच्छा है, और हम तो पहले ही बोलते थे कि का किऊज फ्यूज कराते रहते हैं फ्री का। अरे पैसा वैसा कमाने का जुगाड़ लगाइए, पैसा!' कुमार ने दिखने वाले दाँत निकाले–'पैसा ही कमाना होता तो इस नौकरी में क्यों आते, शर्मा जी!' कहीं कोयला का कारोबार करता।'

शर्मा–'इ नौकरी में नहीं आते तो कोई दूसरा रास्ता भी था का आपके पास? और कोयला उयला का कारोबार के लिए कलेजा चाहिए, कलेजा है। आपके पास? न आपके पास है ना हमारे पास। दाय से पेट का छिपाते हैं कुमार साहब।' कुमार ने हल्का सा प्रतिवाद करना चाहा–'वो तो मैं ब्रेनगेम...'

'अरे गोली मारिये गेम उम को...पैसा कमाइए पैसा। बरेन है तो बरेन से कमाइये।

जो चीज है आपके पास उसी से कमाइए। अगल-बगल देखते नहीं है का?... जो है रख दीजिए बाजार में-फटाक देनी उड़ जाएगा...कस्टमर का कमी है कोनो? ...हम भी भेज देंगे कुछ कस्टमर अपने यहाँ से...'

हें...हें करता हुआ शर्मा नीचे उतर चुका था। उसके कस्टमरों का वक्त हो चुका था शायद।

खट्! खट्

ये दस्तक तो उसी के दरवाजे पर थी। देखा एक लड़का है। उसका पहला ट्यूशनिया, या कस्टमर...

'यस? उसने सवालिया भौं उठाई।

'प्रणाम सर!' आय...आय...वांट ट्यूशन। अटक अटक कर बोला।

'ह्विच कोर्स?'

'इंटर कोर्स?'

जोर से चौंका था कुमार। लड़का बेखबर था, शेक्सपियर, इलियट से लेकर अरुंधती राय तक सर पीट रहे थे। विषण्ण हँसी थी कुमार के चेहरे पर। अब तो इस तरह की दुर्घटनाएँ झेलनी ही पडेंगी। कालेजिया दिनों का मुहावरा भी सामने था– 'जब नाम लिखा ही लिया तो मोटा पतला से क्या डरना।' वह खुद से, प्रीति से, सबसे नाराज था मगर प्रीति खुश थी। बार-बार लक्ष्मी गणेश की तस्वीर के सामने हाथ जोड़ रही थी, ये खुशी रात तक कायम रही और उसकी थोड़ी खीझ के साथ शुरू हुआ 'परिचय राउंड' जिसमें हाथों ने सबका परिचय प्राप्त किया। फिर आडियो राउंड में– 'आज का दिन बड़ा अच्छ है न?'

'हूँ।'

'आज दाढ़ी क्यों नहीं बनाई...ऊं...गड़ती है...क्या कर रहे हो...बच्चे जगे हैं उस कमरे में।' इठलाती सी आवाज। आप्शन राउंड में होंणें ने कई आप्शंस पर गौर किए तथा सही-सही टिक मार्क लगाए।

वीडियो राउंड में प्रदर्शन परिदर्शन आदि हुए और फिर रैपिड फायर राउंड के साथ रात्रि क्विज का आनंददायक समापन हुआ जिसमें प्रीति ने सबसे ज्यादा अंक प्राप्त किए।

लेकिन समापन नहीं हुआ इस दिन से शुरुआत हुई बात की। बात निकलती है तो

फिर दूर तलक जाती ही रहती है। सुबह पाँच बजे से जो सिलसिला चालू होता तो कोई स्पोकन, कोई ग्रामर, कोई इंटर तो कोई आनर्स, कोई अंग्रेजी की टूटी टाँग जुड़वाने तो कोई टाँके लगवाने...हम हैं मताए कूचा ओ बाजार की तरह। शर्मा से नजरें मिलाकर बात करना छोड़ दिया था उसने, या पहले की तरह कर नहीं पाता था। हँसी मजाक कुछ नहीं। बल्कि पहले थोड़ा दबनेवाला शर्मा ही कुछ ज्यादा ही खुल गया था।

'क्या कुमार साहब! कल का एपिसोड देखे थे के.बी.सी. (कौन बनेगा करोड़पति) का। एभरेज इंटलीजेंसी का आदमी औरत साला पचास लाख रुपया जीत लिया, एगो साला हम लोग हैं। दिन-रात भेड़-बकरी चराओ तब जाके खाने-पीने भर होता है। सब साला किस्मते हैं।'

'हूँ।' संक्षिप्त सा उत्तर चोरों की तरह कनखियों से देखते हुए। इंटेलीजेंस, ज्ञान आदि की जरूरत कहाँ है। कुछ सूचनाएँ, कुछ भाग्य का तमाशा बस।

'आप भी तो एतना किउज कराते रहते हैं, काहे नहीं कोशिश करते हैं?' एक बार उ हाट सीट पर बैठ गए तो लाइफे सुधर जाएगा। इ सब इस्कूल, कॉलेज, यूनिर्वसिटी में किउज फिउज कराने से कुछों नहीं होगा...झूठे का...'

युनिर्वसिटी में क्विज का जिक्र आते ही उसे याद आ गया कि उसे खुद कुलपति महोदय ने सुबह साढ़े छह बजे ही डेरे पर बुलवाया था। सिक्स थर्टी शार्प मार्निंग वाक करते हुए बातें होंगी। समय पर नहीं पहुँचने पर कुलपति महोदय बड़े ही भूलनशील प्राणी थे। कई कालेजों स्कूलों में क्विज प्रतियोगिताओं में मुख्य अतिथि के रूप में शाबासी दे चुकने के बावजूद वह हमेशा उसका नाम भूल जाते थे। भाषण हमेशा जोश से शुरू करते...और आज के क्विज मास्टर की जितनी भी तारीफ की जाए कम है। हमारे विश्वविद्यालय के गौरव है आप, इसके लिए मैं मिस्टर...।

फिर नकल करने वाले विद्यार्थी की तरह इधर-उधर देखने लगते। अगल-बगल से कोई बताता 'कुमार'... 'जी हाँ मिस्टर कुमार को कांग्रेचुलेट करता हूँ' गनीमत थी उस सुबह वह नाम नहीं भूले थे उसका, शायद सुबह की ताजा हवा वजह रही हो, और घोर आश्चर्य कि काम भी याद था उन्हें। 'हाँ तो मिस्टर कुमार! आप तो जानते ही होंगे आजादी की 55वीं वर्षगाँठ मनाई जा रही है। जानते हैं न...?'

'यस सर!'

हो हो हो करके हँसे, जैसे बहुत खूबसूरत मजाक हो।

'तो एच.आर.डी. की तरफ से सेलेब्रेशन के लिए कुछ पैसा आया था। क्यों नहीं

हम एक ग्रैण्ड क्विज का आयोजन करें। सब्जेकट होगा' 'इंडियन फ्रीडम मूवमेंट'...

उनके चेहरे पर 'बहुत शुंदर श्रीवास्तव' की तरफ ही चमक आ अई थी।

'सो डू इट! खर्चे की कोई चिन्ता नहीं, बट इट शुड बी ए रियली बिग बिग शो।'

इसके बात कुलपति महोदय कुमार के सर के ऊपर का एक खास एंगल बनाते हुए ताकने लगे जैसे अब कुमार वहाँ था ही नहीं या ऊँचाई पर कोई रियली बिग शो हो रहा हो। वक्त का ज्यादातर हिस्सा वह इसी एंगल पर देखते हुए बिताते और खासकर जहाँ दूसरों को सुनने की नौबत आती थी वहाँ यह एंगल और बढ़ता ही जाता, कुमार लौट आया और फिर जुटना ही था ए रियली बिग बिग शो वाला कुलपति महोदय का सपना साकार करने में। ए रियली बिग बिग शो का मतलब ही था बड़े खर्चे का मामला। 'खर्चे की कोई चिन्ता नहीं। दीज आर आल इंभेस्टमेंट' (श्रीवास्तव वचन)। मजाक में वह भी एच.आर.डी. को 'हेवनली रिसार्ट ऑफ डकोयटस' (डकैतों का स्वर्गिक धाम) कहता था–उपकरण जुटाने लगे–किताबें, पत्रिकाएँ, आडियो–वीडियो रिकार्डिंग्स, आकाशवाणी, दूरदर्शन, चेनल्स के सौजन्य प्राप्त किए गए। तस्वीरें, चार्ट्स, ग्राफिक्स सब... तय हुआ कि आडिएंस के बीच में क्लोज सर्किट टी.वी. की व्यवस्था रहेगी ताकि आनंद दूना हो सके और आखिर क्रांति–सूचना क्रांति आदि का भी ख्याल रखना था। 'टिन्नू ने लगाया भी था–महिषासुर का वध करने में भी इतने उपकरण नहीं जुटे होंगे लेकिन ये एच.आर.डी. का फंडासुर, ओह!' सभी हँस पड़े थे और आश्वस्ति भी थी कि पूरी तैयारी के साथ शो का मजा ही कुछ और है। विपानचंद्र, सुमित सरकार, कर्जन टु नेहरू से लेकर एंसाइक्लोपीडिया तक खंगाल डाला गया। खूबसूरत शामियाना, जोरदार साउंड सिस्टम। हर तकनीकी पहलू पर बारीक नजर। एकमात्र सूट को ड्राइक्लीन भी करवा डाला गया, जेब से पच्चीस रुपए निकल गए। खेर, शो की पैकेजिंग का सवाल था। उसके सात साल के बेटे मयंक ने क्विज कार्यक्रम में जाने की जिद की।

'मम्मी, चलो न क्विज देखेंगे।'

'कोई जरूरत नहीं है।' प्रीति गुर्रायी थी। 'यहीं टी.वी. पर प्रोग्राम देखेंगे...'

पुष्प गुच्छ प्रदान, भाषण, आशीर्वचन होते हवाते रात के नौ बजने को आए।

'ए वेरी गुड इवनिंग टु यू...' शुरू किया ही था कि भक्क–

बिजली गुल, लड़कों ने शुरू कर दी हू! ही! ही!

'देखिए, आडिएंस के लिए भी...' माइक भी काम नहीं कर रहा था। हलक सूखने लगा था उसका।

'मटियाइये सर!' पीछे से आवाज आई। हँसी का दौरा छात्रों के बीच। आऊँ आऊँ की आवाजें!

'के.बी.सी. का समय हो गया!'

'नौ बज गए क्या!'

'अनवर! अनवर!' वह पसीना पोंछ रहा था, 'जेनरेटर जेनरेटर।'

अनवर बैक स्टेज से दौड़ा आ रहा था।

'सर! फैलबेल्ट ही गायब है। जेनरेटर मिस्त्री गया है लाने।'

'गायब है कि टूट गया!' क्या सैबोटाज...

'पता नहीं सर देखता हूँ...।'

आऊँ आऊँ की आवाजों के बीच मुर्दा माइक हाथ में लिए, अंधेरे में भूत की तरह खड़ा था वह। सामने अंधकार का साम्राज्य...उससे उगती आवाजों की बर्छियाँ ताक ताक कर फेंकी जा रहीं–

'दूर, बे अमितभवा से का कम्पीयर कर रहे हैं, बे सूरज के दिया देखावे हैं?'

'पुरनका बतवा सब काहे बोले हैं बे, नयका एडीशन ना मालूम हौ का बे।'

'भालू के झाँट दिखाबे है बे।' ही! ही! इ! इ! खी! ओय आये! ओय होय!

उसकी कनपटी गरम हो गई थी। कुछ चले गए, कुछ जा रहे थे। फिर बिजली भी आई थी, शुरू भी किया था उसने। तभी कुलपति महोदय उठ खड़े हुए–'सॉरी!' मैं रुकता...लेकिन...आप जारी रखिए। द शो मस्ट गो आन!' चले गए थे पूरे लाव लश्कर के साथ। कुलपति की मुस्कान से बहुत डर गया था वह। आखिर कुलपति महोदय का रियली बिग बिग शो का सपना इंडियन फ्रीडम मूवमेंट के योद्धाओं के सपनों की तरह चूर चूर हो गया था। लड़खड़ाते कदमों से वह भी घर पहुँचा...उसकी सारी तैयारी, सारी मशक्कत...।

प्रीति और बच्चे घर का ताला खोल रहे थे।

'पापा आप भी तो राँची में सेण्ट जेवियर्स कालज में पढ़ते थे न?' सात साल का

बेटा मयंक था।

'हाँ क्यों?'

'आज केबीसी में एक आंटी आई थी, मोटी सी, वो बोलीं ना कि वो राँची सेण्ट जेवियर्स में थीं।

'बड़े लोग भी पैसे के पीछे हैं। अब देखो कहीं के कलक्टर की बीवी थीं गुरप्रीत कौर या ऐसा ही कुछ नाम था।... अब क्या जरूरत है भाई। बस भाग रहे हैं पैसे के पीछे...।' प्रीति की बड़बड़ाहट जारी थी। उसकी आँखों के आगे लाल जर्सी के अंदर बंद कबूतर नुमायां हो गए। बहुत थका सा महसूस कर रहा था।

'कैसा रहा आज का शो?' प्रीति थी। उसकी कनपटी फिर गरम हो गई।

'हूँ।' अनमना भाव। वह सो जाना चाहता था...एक बहुत ही गहरी नींद।

'शर्माजी क्या कह रहे थे उस दिन?'

'किस दिन?'

'उसी दिन, केबीसी में फोन लगाने के बारे में आज फिर बोल रहे थे। लाइन कट गई थी तो उनके यहाँ चले गए थे हम लोग देखने उनके यहाँ तो जेनरेटर है न।'

विक्को टर्मेरिक की बदबू से उसका जी मिचलाने लगा।

'तुम कब से लगाने लगी विक्को टर्मेरिक? पहले तो नहीं लगाती थी।'

'क्यूँ बुरी लग रही हूँ?' कितनी चीप अदाएँ हो गई हैं प्रीति की। वह कब सो गया पता नहीं।

'ए.जी उठो! उठो न।' अचकचाकर उठा वह।

'क्या बात है?' उसे लगा शायद उस दिन की तरह रात्रि क्विज की सँभावना बन रही हो। जादूगरनी के अंदाज में तकिए के नीचे से एक मोबाइल फोन निकाला प्रीति ने। रात के ढाई बजे थे। उसे लगा बच्चों का कोई पेन्सिल बाक्स वगैरह होगा। आजकल फैशन में थीं ये चीजें। घर में न होने वाली चीजों का भ्रम पालने के लिए। प्रीति की आँखों में याचना थी।

'सुनो न! आज से तीन दिन के लिए केबीसी में फोन लगाने का खुला है। शर्माजी भी बोल रहे।'

'ये मोबाइल शर्मा का है?' उसने दांतदार नजरें डालीं

'जो अपने यहाँ फोनो है का?' दांतदार चीजों का जवाब दांतदार चीजों से ही।

'मुझे नहीं लगाना नम्बर उम्बर।' वह पलट कर सोने लगा।

'श्योर?' प्रीति व्यंग्य से मुस्कराई थी। मोबाइल फोन को सहला रही थी जैसे कोई सँभावनाशील बच्चा हो। पर अब वह न तो श्योर था, न कांफिडेण्ट, न पक्का और उसके पूरे वजूद को एक छोटे शहर के अदने क्विज मास्टर के रूप में लॉक कर दिया गया था। सिर्फ और सिर्फ उसका सात साल का बेटा मयंक ही उसे अभी भी एक बड़ा क्विज मास्टर समझता था।

पंकज मित्र

15 जनवरी, 1965 को भागलपुर बिहार में जन्मे पंकज मित्र ने यूँ काहनी लिखने की शुरुआत अंतिम दशक में ही कर दी थी, लेकिन ठोस रूप में वे नई शताब्दी के पहले दशक में आए। सन् 1997 के इंडिया टुडे साहित्य वार्षिक के युवा कथाकार से सम्मानित होने पर पंकज को पहली बार पहचाना गया। पंकज की कहानियाँ एक नए शिल्प को जन्म देती हैं। जमीन से जुड़ी हुई कहानियाँ हैं। वर्ष 25 के भारतीय भाषा परिषद् कोलकाता के युवा सम्मान से सम्मानित हो चुके हैं। पहला मीरा स्मृति कहानी पुरस्कार मिल चुका है। अभी तक तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'आज कल परसों' और 'क्विज मास्टर व अन्य कहानियां' के उपरान्त अभी हाल ही में राजकमल प्रकाशन से तीसरा संग्रह 'हुडुकलुल्लू' छपकर आया है।

कठपुतलियाँ

—मनीषा कुलश्रेष्ठ

सुगना जब-जब कोठरी के अंदर-बाहर जाती, दरवाजे के पीछे लटकी कठपुतलियाँ उससे टकरा जातीं...उसे रोकतीं अपनी कजरारी, तीखी, फटी-फटी आँखों से, चमाचम गोटे के लहंगों वाली रानियाँ, नर्तकियाँ और अंगरखे-साफे वाले, आंके-बांके, राजा-महाराजा और घोड़े पर सवार सेनापति। ढोलकी वाला विदूषक और सारंगी वाली उसकी साथिन। दीवाना मजनूं और नकाब वाली उसकी लैला। कभी सुगना उदास होती तो इन कठपुतलियों का एक साथ ढेर बनाकर ताक पर रख देती और सांकल लगाकर गुदड़ी पर ढह जाती। कभी गुस्सा होती तो जोर से झिंझोड़ देती सबके धागे। कुछ मटक जातीं, एक दूसरे में अटक जातीं। किसी नर्तकी की गर्दन उसी के हाथों में उलझ जाती। कोई राजा डोर से टूट मुँह के बल गिरा होता। ढीठ मालिन टोकरी समेत उसके ऊपर। प्यार आता तो उनके धागे सुलझाती, टूटे जेवर ठीक करती, उधड़े गोटे-झालर सीती या नए कपड़े बनाती।

कभी-कभी वह अपने हाथ-पैर देखती तो उसे लगता उनमें भी एक अदृश्य डोर बंधी है। उसे महसूस होता कि–ये जो वक्त है न, नौ से चार बजे का, वह दो प्रस्तुतियों के बीच परदा डाल के मंच के पीछे लटका दी गई कठपुतली के आराम का समय है। अब होती हैं कुछ दीवानी कठपुतलियाँ, देह के साथ-साथ मन भी पसारने वाली। वह भी वैसी ही एक बावरी कठपुतली है...जो डोरों से मन को विलग कर नया खेल रचती है। सूत्रधार की समझ से परे का खेल। कुछ मौलिक कुछ अलग जो जीवन का विस्तार दे जिसमें उसकी अलग भूमिका हो, इंतजार करती बीवी, बच्चे पालती माँ से एकदम अलग। अपनी देहगंध से बौराती, अपने मन से संसर्ग का साथी चुनती एक आदिम

औरत की सी भूमिका। वह इन अनचाहे रिश्तों के डोरों से उलझकर थक गई है। ये रिश्ते जो उसके खून तक के नहीं हैं। उसके खून के रिश्ते तो कहीं दूर छिटक कर गिर गए हैं। छोटका भाई याद आता...किसी और ड्योढ़ी नाते बैठी माँ याद आती। ऐसी ड्योढ़ी जहाँ से उसे कभी कोई बुलावा नहीं आने वाला। बापू होता तो उसकी कोई तीज यूँ सासरे में बीतती?

कितनी हँसी थी उसकी सहेलियाँ, जब उन्हें पता चला था कि उसका ब्याह गाँव-गाँव जाकर, स्कूलों, मेलों और त्योहारों, शादी-ब्याह में कठपुतली का खेल दिखाने वाले के साथ तय हुआ है। 'तुझे भी नचाएगा वो लंगड़ा कठपुतली बनाकर।' कहकर उसकी पक्की सहेली रूनकी हँसते-हँसते रो पड़ी थी।

धाक धिना धिन धा...चीं...चीं...चीं... अब आ रही है तुर्क के तैमूरलंग की सवारी.... चूंऽऽ च्यूऽऽ धिन धिन धा...!

बापू तो कहीं और बात तय कर गए थे, वो जोगेन्दर था...दसवीं फेल था। जीन्स की पेन्ट और लाल कमीज पहनता और धूप का चश्मा लगाता। सब जोगी कहते। पर उनके आँखें मूँदते ही लेन-देन की बात पर बाई ने तीन साल पुराना रिश्ता तोड़ दिया। रिश्ता टूट गया तो जहन में गूंजता नाम भी पीछे छूट गया। तेरह साल की सुगना बाई का ब्याह तीस बरस के अपाहिज और विधुर कठपुतली वाले रामकिसन से हो गया। सुगना के सपने में पैर कटी कठपुतलियाँ आने लगीं। बापू के मरने के दो साल के अन्दर ही, उसकी बाई खुद जाके पास के गाँव के एक खेती-किसानी वाले दूसरी जात के आदमी के घर नाते बैठ गई थी और अपने संबंध की जल्दी में सुगना का गौना पन्द्रह साल की होने से पहले ही कर दिया, बिना सगुन-सात, लगभग खाली हाथ भेज दिया सासरे। जमीन-घर सब बेच के छोटके को लेकर वह चली गई।

घूंघटे में से ऊँटगाड़ी से उतर कर चलते हुए रामकिसन को देखा था...बलिष्ठ देह के होते हुएभी एक पैर पोलियो की मार ने पतला कर दिया था सो एक हाथ गोड़े पे टिका के हचक-हचक कर चलता था। यूं साइकिल भी चला लेता था...एक पैर से तेज-तेज पैडल मारता, दूसरा पैर सहारे के लिए दूसरे पैडल पर बस जरा-सा टिकाता...यह छोटा पैर पहुँचता भी नहीं था दूसरे पैडल तक, पर सायकिल की गति में कमी नहीं आती।

पन्द्रह बसर की सुगना, सात और चार बरस के बंसी और नंदू, जिनकी वो माँ बन गई थी। तोते की तरह 'मांऽ', 'बाईऽऽ' रटते नंदू-बंसी। वह सोचती कि वो और उसका छोटका भाई तो बाई के सगे बालक थे...जब वो बाई के सगे बालक थे...जब

वो बाई के आगे-पीछे 'माएँ' या 'बाईऽएऽ' कहते हुए घूमते तो बाई कितना रीस जाती...चिल्लाती...'चोऽऽप!' सुगना खीजती नहीं थी, पर सुनती भी नहीं थी। वह सोचती कि यह मुझे नहीं, बादलों के पार जा के बसी अपनी माँ को पुकारते हैं अभागे।

सहज और अनुभवी रामकिसन ने कोई जल्दबाजी नहीं की...इस उन्मुक्त आत्मा को बाँधने में। रामकिशन कठपुतलियों के डोरे कसने में माहिर था पर यह कठपुतली तो अद्भुत ही थी। दिन भर तो सोती, रात में भी आठ बजे ही सो जाती...रीत के चलते सात-आठ दिन तो सास ने घर का काम सँभाला। नवें दिन मेंहदी फीकी होते ही सास चली गई अपनी ढाणी पे। सुगना पर पूरी गृहस्थी का भार आ पड़ा। किसी तरह वह कच्चा-पक्का खाना बनाती, हाथ जलाती, छाछ ढोलती, साबुन दो दिन में खतम कर डालती। टाबरों को देर में चाय मिलती तो स्कूल छूट जाता। रामकिसन ने धैर्य नहीं खोया। खुद जल्दी उठकर आधे काम निपटा देता। दोनों टाबरों को स्कूल छोड़कर अपना खाना बाँध के, नई कठपुतलियों के सुलझे डोर साइकिल में लटकाता और लंगड़ाते हुए सायकिल पर उचक के बैठता और नौ बजे किसी गाँव, मेले या फिर सम की ढाणी में टूरिस्टों के डेरों की राह लेता।

सुगना की हँसी बहुत मोहक थी। उसकी हँसी को डंस लिया था, शतरंज के घोड़े की तरह टेढ़ी चाल चलने वाले सर्प ने। सुगना अपने आप में एक प्राकृतिक मरुस्थलीय सौन्दर्य से भरा-पूरा दृश्य थी। रेतीले धोरों से उठती-ढहती देह की लहरें। लम्बी कद-काठी, सुता हुआ पेट। उस पर गहरे कुएँ सी नाभि। मीलों दूर से, सिर पर एक के ऊपर एक तीन गगरियाँ उठा कर लाने के अभ्यास से चाल की धज देखते बनती थी। लंबी-पतली आँखों में काजल की खिंची हुई लकीर जहाँ जाकर खत्म होती थी, वहीं टिके थे गोदने के तीन नीले बिंदु। रूखे भूरे केशों में लगी चमकीली रंगीन चिमटियाँ। आगे के बालों में चोटी में गूँथा गया लाख का बोरला। पीछे चोटी में गिलट की चेन और घुंघरू वाली चोटी पिन। कस के बँधे बालों को भी उड़ा लिए जाती थी मरूधरा की बावरी हवा। चेहरे पर आ जाते बाल। वह खीज जाती।

बात देह की हो तो नहीं थी। मन भी उसका हरा-भरा नखलिस्तान था। कम बोलती, हँसती ज्यादा। अतिरिक्त संवेदना उसके मन को आर्द्र करती थी, इसलिए बात-बात पर आँसू की झड़ी लग जाती। इसी अतिरिक्त संवेदना के चलते वह रूँखड़ों, पंडियों और डांगरों से बातें करती। उसे चिड़ियों की आवाज पार्श्व का स्वर नहीं लगती थी, दृश्य का मुख्य स्वर लगती थी और वह जब-तब इस लोक से कट जाती। आकाश के रंग देख वह भूल जाती कि वह धरती पर खड़ी है। घर उसे काटने को दौड़ता। वह हर दो मिनट में खुले की ओर भागती, कोठरी और रसोई से निकलकर। घर की रसोई से भला उसे घर के आँगन में लगा इकलौता खेजड़े का पेड़ लगता। वह आटे की परात, काचरियों-फलियों और हरी साग और दंराती लेकर वह पेड़ के नीचे बने इस चौतरे पर आ बैठती और खाना बनाने की पूरी तैयारी यहीं करती। लगन के तुरंत बाद, मेंहदी छूटते ही, पहला जो काम उसने किया, वह यही था कि एक पक्की, एक कच्ची कोठरी वाले घर के आँगन में लगे इस खेजड़े के पेड़ को चारों तरफ भाटे लगाकर, चूना-गारा थोप कर, ऊपर से लीप कर उसने गोल सुघड़ चौतरा बना लिया था। खेजड़े पर पंछी आते तो वह खुश हो जाती। मटके के टूटे पेंदे में पानी भर के टांग दिया था, खेजड़े की एक डाल पर प्यासे पंछियों के लिए। मुट्ठी भर बाजरा आँगन में बिखेर देती तो वे चहचहाते हुए नीचे उतर आते।

बंसी का बापू हँस दिया था, उसकी इस हरकत पर। तब उसने उसकी तरफ पहली बार घूंघट हटाकर, उसकी ओर देखकर, हँस कर कहा था-'इस घर को अपना बना रही हूँ।' उसी रात उसने अपना आप, बिना नखरों के उस तीस बरस के मनख को सौंप दिया था। सुगना बहुत डरपोक थी। वह माँ बनने से डरती थी, उसकी चिन्ता का समाधान रामकिसन ने कर दियाथा, 'बंसी की पहली माँ के सामने ही ढाणी में जैसलमेर के डाकदर नर्स आए थे, कैम्प लगा था। जिस-जिस के दो-दो टाबर थे, सबकी नसबंदी कर दी, जोर-जबर करके, पुलिस का डर दिखा के।'

'और आप...?'

'हाँ, पर डाकदर साब कहते थे कि आप्रेसन उलट भी सकता है।'

'ना, मत उलटवाना, बंसी-नंदू हैं तो। बच्चे दो ही अच्छे।' सुगना हँसी तो उसकी नाभि में एक गहरा भंवर पड़ गया।

सुगना और रामकिसन की गृहस्थी पटरी पर आ गई थी। रामकिसन गाँव-गाँव भटकता तब कहीं गिरस्ती का और बालकों के स्कूल का खर्चा चलाता। उसे ऐसा लगता जैसे वह काठ की पुतली बन गई है और अदृश्य डोरे रामकिसन ने सुघड़ता से, बिना उसे महसूस करवाए बाँध ही दिए हैं। गृहस्थी के कामों को अब वह एक लय में कर डालती है। वह अब छाछ कम ढोलती। हाथ कम जलाती। साबुन बचा-बचाकर इस्तेमाल करती। धरती की बहुमूल्य देन से विहीन इस गाँव में आकर पानी के छपाकों से मुँह धोने की आदत छोड़ दी, बूंद-बूदं पानी बचाती। टाबर 'माँ ए' बुलाते तो बिना चिहुंके, यंत्रवत समझ लेती। टाबरों को समय पर बाजरे के रोट और गुड़ का नाश्ता करा, उनके दिन का खाना कागज में लपेट कर, स्कूल का बस्ता थमा कर वह घर से

भेजती और किवाड़ मूँदती तो ऐसा लगता कि अब जाके उसके डोरे ढीले हो गए हैं, अब सुगना नाम की कठपुतली के शान्त लटके रहने का समय है, दो प्रस्तुतियों के बीच का समय।

वह धम्म से गुदड़ी पर सुन्न होकर पड़ जाती। अपने वजूद को, अपनी देह को हाथ से टटोलती। सोचती–उलझती लेकिन समझ नहीं आता–रात किस मुहाने पर जाकर उफन पड़ी थी वह कि रामकिसन एकदम कुंठित हो गया और छिटक गया उससे दूर। पहले देह जब शान्त, नदी–सी पड़ी रहती थी तो वह मीलों तैर जाता था। अब वह नैसर्गिक आकांक्षाओं से भरपूर नदी में बदल जाती है और इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रसन्न–प्रछन्न क्षमताओं से परिपूर्ण होकर बहती है–प्रबल–प्रगल्भ, तो रामकिसन के लिए मुश्किल हो जाता है इस उफनती नदी को बाँहों में भर कर तैरना। बहुत डरपोक थी, सुगना, इस बात से भी डर गई। उसने खुद को काठ कर लिया। अब रामकिसन चाहे जैसे नचाये। वह जब तृपित की डकार लेता, तो वह जूठन के इधर–उधर गिरे टुकड़े समेट, भूखी उठ जाती। फिर भी जिन्दगी तो चल ही रही थी। रामकिसन अपने कर्त्तव्यों से कहीं पीछे न हटा। न सुगना ही ने हार मानी। बंसी–नंदू उसे सगी माँ से ज्यादा चाहने लगे थे।

सबकुछ ठीक ही चलता तो कठपुतली वाले रामकिसन की लुगाई सुगना की कहानी चार दिशाओं में क्यों भागती? धणी–धोरे, टाबरों और सासरे वालों के चलते, सुगना यूँ अकेली पड़ जाती? वो गई हो क्यों कुल धरा के उन खण्डहर मकानों और मन्दिरों की तरफ? उस दिन भी टाबर स्कूल भेजकर, सुगना धम्म से कठपुतलियों वाले कोने में गुदड़ियों के ढेर पर ढह गई थी। ऊपर कठपुतलियाँ हिलती–डुलती, लटकती रहीं। इन कठपुतलियों का पहरा नहीं मानती। वह बाकी वक्त तो एक पहरा सा वह स्वयं पर महसूस करती ही थी, उसे लगता कि उसकी आत्मा तक पर कुछ जोड़ी आँखें गड़ी है। लेकिन यहाँ इस कोने में कठपुतलियों की फटी–फटी कई जोड़ी आँखों से स्वयं को ढंक कर वह अपनी कांचली ढीली करती और देह के इस स्वस्थ मरूस्थल के बियावां धोरों की लहरों पर आँख मूँदकर भटकती। अजीब–अजीब सपने देखती। जब आँख खुलती तो धूप आँगन के बीचोंबीच खड़ी उसे पुकार रही होती।

'बींदणीऽऽ पाणी!'

धापू री बाई! उस दिन उसे देर लग गई किवाड़ खोलने में, कांचली के उलझी

डोरी सुलझा कर कसते–कसते।

'आँख लग गई थी माँ सा। आज तो पाणी खत्म...'

'गैला हो गया रामकिसन जो इस जोबन की मारी को ब्याह लाया। दिन चढ़े कोठरी बन्द कर पता नहीं क्या करती है। एक वो थी, कोसल्या...पाँच बजे ही तीन कोस दूर पानी के लिए निकल जाती।'

बुढ़िया की गलियाँ खाती, वह इडोणी, चरू–चरी, मटका लेकर अकेली भागी। पानी मिलने के अनजान लक्ष्य की तरफ। अपनी ढाणी का कुआँ और ट्यूबवेल तो पिछले बरस ही सूख चुका था। पास की ढाणी में लगा सरकारी नल कब से बन्द हो गया होगा। वह भागी पिछले दिन जहाँ घूप उसे साथ लेकर पानी लेने ले गई थी, कुलधरा के खण्डहरों की तरफ, उस सूनी बावड़ी की दिशा में। पानी से छलछल करती उस चार मील दूर की बावड़ी की तरफ तो मुसीबत आने पर ही गाँव की कोई ही लुगाई जाती है। वे भी इतनी धूप चढ़े तो कोई नहीं।

जल्दी–जल्दी पैर बढ़ा, वह हड़बड़ाती हुई बावड़ी पर पहुँची। दोनों चरू–चरी, मटका भर लिए। ठंडा पानी देख नहा लेने का मन हो आया। तीन दिन हो गए थे नहाए। रामकिसन तो बहुत कहा–सुनी होने पर सात दिन में एक बार रात के बचे दो लोटे पानी से नहाता है। कहता है–सुगनी, पानी मत ढोलते ज्यादा। यहाँ हमारी ढाणी में रेत से ही इन्सान का रिवाज है।

बताया न, सुगनी बहुत डरपोक है, बात–बात पर ठंडा पसीना बहाती है, सर पर सांय–सांय करते बड़ के पेड़ और उसकी लटकती जटाओं से डर गई। जैसे–तैसे लुगड़ा हटाकर, लहंगा और कुर्ती पहने–पहने, एक चरू अपने ऊपर उलटा और नहा ली। पानी पर पड़ते, अपने हिलते–डुलते प्रतिबिम्ब को देखकर उसे मालन कठपुतली याद आई। मेरा नाम है चमेली...मैं हूँ मालन अलबेली, चली आई हूँ अकेली बीकानेर से!...रामचन्दर उस शोख कठपुतली को नचाता हुआ बड़ी सुरीली तान में गाता है। वह भी गुनगुनाने लगी। प्रतिबिम्ब फिर हिला। उजाले में अपनी देह देखे बरसों–बरस हो गए। घाघरा ऊँचा कर पैर देखे, गेहुँआ पैर, सुनहरे रोओं वाली पिंडलियाँ। पानी की धाराओं से टपकती देह को सुखाने पेड़ के नीचे रखे पत्थर पर बैठ गई। पल भी तो न बीता था कि धप्प से पीठ पीछे कोई गिरा। सुगुनी की चीख हलक में...अर् र् र...डाकी बन्दर है कि कोई भूत? उसका कलेजा छाती फाड़कर बाहर ही आने को था।

'ओलखे कोनी कई?' (पहचानती नहीं है क्या?)

मनख-माणस की भारी आवाज सुन सुगना ने झट गीला घूंघट काढ़ लिया।

'कुण?'

'ऐ सुगना...भूलगी कै?' जोगी, 'जोगीन्दर।'

अब वह उठ खड़ी हुई। हठात् घूंघट हटा दिया। वही जीनस की पैन्ट। गोरा चेहरा। बलिष्ठ बाजू।

'यहाँ?'

'अंग्रेजों को कुलधरा दिखाने लाना था न। गाइड की लाइन पकड़ ली है। जैसलमेर किल्ला में अपणा ऑफिस है। दूर से पैचाण लिया था मैंने...पर तू ने नई पैचाणा। हैं!'

सुगना ने मुण्डी हिला दी। भीगी हुई देह पर चिपके लुगड़े को बार-बार खींच रही थी।

'और घर में सब ठीक...टाबर-टूबर?' उसकी देह पर बार-बार तितली सी जा बैठती नजर को हटाकर, मुँह फेरकर औपचारिक हो गया जोगी।

'हाँ!'

'तू नहीं बदली...वैसी च है...। मैं...?'

सुगना ने ध्यान से जोगी को देखा। गबरू! एक ही शब्द निकलकर आत्मा पर जा बिंधा। वह उठ गई और चरू-मटका उठाने के लिए हल्का घूंघट खींच सर पर ईडोणी रखकर जोगी को उठवाने के लिए इशारा किया। जोगी ने मटका, कलसी और चरू सुगना के सिर पर रखी इडोनी पर आहिस्ता से एक-एक कर रखे। वह नाक तो घूंघट निकाले, पलके झुकाए एक सुनिश्चित ताल में लहराती सीढ़ियाँ चढ़ गई। जोगी हतप्रभ देखता रह गया। रेतीले टीबों वाला छोटा रास्ता पकड़ने को उसके पैर जितना जल्दी चलना चाहते, मन उतना पीछे को लौटता।

बाई गाली-गलौज के साथ झगड़ी न होती, लेन-देन की बात पर जोगी का बाप न अटका होता तो जोगी उसका पति होता। उसकी पक्की सहेली रूनकी ने कहा तो था, 'सुगनी मैंने सुना रामकिसन ने दो हजार उलटे तेरी बाई के ही हाथ पे रखे हैं।' तभी तो जोगी जैसा बांका जवान छुड़ा के लंगड़ा रामकिसन...उसे स्वयं पर गुस्सा आया विरोध क्यों नहीं किया माँ का? काठ की पुतली ही रही रे तू सुगनी।

'अंग्रेजों को बस में बिठा के मिलता हूँ।' वह पीछे दौड़कर आया।

सुगना का चेहरा तटस्थता के पथरीला हो रहा था। वह कुछ नहीं बोली तो नहीं ही बोली। बस एक नजर भर उस ओर देखा और गहरी साँस ली। जोगी की आँखों की परिधियों से कोई जंगल शुरू हो रहा था। एक छवि उभरी, किराए की तलवार लटकाए, मोड़ बाँध कर घोड़े पे बैठा जोगी। या फिर दूध-हल्दी भरी परात में अंगूठी खोजते दो जोड़ी हाथ, उसके घूंघट पर पड़ती उस उद्दाम पौरुष की छांह- पुराने तेल पिए काले काठ के पलंग पर रेशमी बिछौना...आले में रखा दिया, बालों भरी छाती जो उसकी सफेद कमीज के खुले बटन से झांकती बस अभी देखी है। रेगिस्तान की जलती रेत पर तीन गागर उठाए चल रही थी वह और मन की केसरिया क्यारियों में अपूर्ण इच्छाओं के जामुनी फूल एक-एक कर खिले जा रहे थे। चाँदनी बिछ गई थी पैरों में, सर पर जैसे बादल रखे थे।

उसकी गेहुँआ देह अपने ही पसीने से लथपथ हो गई थी, आधा कोस चलकर ही। अचानक पश्चिम की तरफ से आसमान का कोना धुंधलाया। उसी कोने की धरा से रेत ऊपर को उठी, मानो नीले आसमान ने जबरन धरा को बाजुओं में भरना चाहा हो और महज गुबार हाथ आए हों। जब वह बावड़ी से चली थी तो आंधी के कोई आसार नहीं थे। साफ आसमान से देह को झुलसाती धूप बरस रही थी। हवाओं की चीख से रेत में जाने कहाँ जड़ धंसाए खड़े खेजड़े के पेड़ काँपे। कुलधरा गाँव के दूर तक फैले खण्डहरों के पत्थर तक सहम गए। बौरा गई थी हवा। बगूले ही बगूले गोल-गोल चक्कर काटते। धापू सही कहती थी, ये जगह भुतहा है। आँखें किरकिरी हुईं, फिर चेहरा, होंठ यहाँ तक कि साँसें और भीगी हुई जुबान तक किरकिरा गई। सुगना एक ठूँठ से खेजड़े के नीचे ठिठक गई। चरूकलशी नीचे मोटे भाटे के सहारे टिका दिए। सर से लुगड़ा उखड़ कर फरफराने लगा। कुर्ती-कांचली में अटका छोर छूट गया। बस घाघरे में अटका छोर छुड़ा पाता तो यह लुगड़ा तेज हवाओं के साथ कहीं परदेस ही जा उड़ता। गुलाबी छींट की लुगड़ा। किसी मूमल का या किसी मारू का! उसने उसे खींच कर मुँह पर लपेट लिया, पेड़ से चिपक कर खड़ी हो गई। सामने वाले धोरे से दो ऊँटवाले आनन-फानन में उतर रहे थे, सुगना ने मुँह फेर लिया। एक भेड़ चरानेवाला किशोर चरवाहा, उसी के पास आ खड़ा हुआ। उसकी भेड़ के पास गोल झुण्ड बनाकर, गोले के केंद्र में मेमनों को रख, मुँह छिपा कर अनुशासित हो बैठ गई। तेज चक्रवात से, रेत की लहरों में हुई उथल-पुथल में न जाने कितने रेतीले रेंगने वाले जानवर निकल कर लम्बी घास की तरफ भागे। एक टेढ़ा-मेढ़ा रेंगने वाला, लहराकर चलता, रेत का पीला सर्प भेड़ों के झुण्ड की तरफ बढ़ा। भेड़ों का शान्त झुण्ड उठकर

मिमियाने लगा। किशोर चरवाहा आँधी में ही अपनी भेड़ों को पुकारता इधर–उधर भागने लगा। वो दोनों ऊँट वाले न केवल उस मासूम पर हँसने लगे, उसे लेकर भी अश्लील बातें करने लगे। वह स्तब्ध खड़ी थी। बुरी तरह आशंकित।

अचानक दो बाजुओं ने उसे खींचकर उसे पेड़ से दूर किया। वह पीला सर्प खेजड़े की डाल पर अटका हुआ लटक रहा था। उसकी चीख निकल गई।

'चलो यहाँ से।' धुंधलके में उसने देखा, जोगी था।

'जोगी! पर कहाँ?'

'कहीं भी...'

'नहीं, आँधी थमते ही घर का रास्ता लेना है।'

'अरे! गैली हुई है क्या?' इन ऊँटवाले स्मगलरों के साथ, यहाँ अकेली तूफान में क्या करेगी?'

वह उसके चरी मटके उठाकर चलता गया। सुगना पीछे–पीछे। अनजान पगडंडियों पर चलते–चलत, वे ढेर सारे नीम के पेड़ों से ढंके, सुनसान पड़े एक भैरूं बाबाजी के मंदिर के खण्डहर तक पहुँचे।

'यह जगह ठीक है सुगना? चल यहीं इंतजार करें आँधी थमने का।' वह उसका हाथ थाम ऊँची–ऊँची सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। 'मैं अंग्रेजों को बस में बिठा ही रहा थाा कि आँधी सुरू...मैं समझ गया कि तू फँसी होगी इस पीली आँधी में।' सुगना की साँस अब तक तेज चल रही थी।

जोगी की आँखों का जंगल करवटें ले रहा था जहाँ घनी लताएँ थीं, बहता पानी था, भागते कस्तूरी मृग थे। एक अपनी खुशबू थी जंगल की। भूख जग आई थी। सुबह से खाया ही क्या था?

पास के झाड़ से टीमरू तोड़ने लगी। जोगी तूफान से नीचे गिर पड़े शहद के छत्ते की तरफ बढ़ा। मक्खियाँ अब तक भिनभिना रही थीं।

'ऐ मत खा ये जंगली फल, ले यह शहद।' जोगी के हाथ में कट टूटे छत्ते का खोखल था जिसमें से शहद टपक रहा था। 'खा न, ये वनमाखी का काढ़ा हुआ नीम का शहद है। वनमाखी जितना तेज काटती है उतना मीठा शहद बनाती है। पर यह मीठा शहद पीछे से एक तीतापन छोड़ जाता है।'

आँधी तो रुक गई थी मगर शहद और तुर्शी दोनों को मिश्रित स्वाद के लालच की

एक ही डोर से दोनों बंधे रह गए। सुगना के अन्दर की कठपुतली साँस लेने लगी थी। जोगी ने वह छत्ते का टूटा खोखला हाथ से ऊँचा किया अेर सुगना के सूखे होंठों पर शहद की टपकती धार डालने लगा। उसके होंठ शहद से भीग गए थे। खोखल से शहद जगह–जगह से टपक रहा था। चेहरा, गर्दन, काँचली के गले की काट का वह छोर जहाँ से फिर जंगल। जोगी बेशर्मी से हँसने लगा। शहद का छत्ता, एक घना जंगल, गले में किरकिराती रेत, अनगिनत पगडंडियाँ, घने जंगल में छिपा झरना। खुल कर भूख लगी थी। फिर टिमरू तोड़ के खा लिए सुगना ने पास के झाड़ से। जहरीले थे या नहीं वे जंगली फल, नशीले जरूर थे। सुगना का होश खोने लगा।

उसके बिवाई फटे पैर के अंगूठे को चूम ही रहा था जोगी कि उसे जोर की उबकाई आई। जोगी ने घबराकर उसके गले अपनी दो उंगलियाँ डाल उल्टी करवा दी–

'मना किया था न, टीमरू–जंगली टीमरू में फरक होता है।'

'तुझे सूग (घिन) नहीं आती कभी पैर का अँगूठा, कभी मेरी उल्टी...'

'तुझसे सूग? तू तो केवड़े का झड़ है। कंटीला मगर महकता हुआ सुगन्ध से। एक बार सुगनी बस गलती हो गई कि तुझे भगा के नहीं ले जा सका, अब तुझे नहीं छोड़ना है।'

'क्यों तेरा भी तो ब्याव–गौना हुआ है, मैंने सुना।'

'वो अपनी जगह रहे। सासरे में। तुझे जैसलमेर रखूँगा।'

कसके, घने बालों वाली छाती से उसे चिपकाता रहा जोगी। जिसके छाती के बालों के डंक पूरी देह पर लेकर लौटी थी सुगना। शहद और डंक, दंश की एक तीक्ष्णता देह दुखा रही थी। वहीं शहद का तीतापन, दंश लगे हिस्सों पर जलन पैदा कर रहा था।

जब वह घर पहुँची रास्ता ढूँढती हुई और रेत से किरकिराता हुआ पानी मटकों में लेकर, तो बहुत देर हो चुकी थी। सांझ ढलने को आई थी। दोनों टाबर बस्ता बाहर ही छोड़कर भूखे–प्यासे रेत में खेल रहे थे। उसे देखते ही 'बाई!' कहकर लिपट गए। साइकिल बाहर खड़ी थी, जिसके हैंडिल में उलझी हुई, रेत भरी कठपुतलियाँ यूँ ही लटकी हुई थीं, उन्हें उतार कर कोठरी तक में नहीं रखा गया था। रामकिसन आँगन के चूल्हे से जूझता हुआ, हांडी में बाजरे की राबड़ी पका रहा था। बहुत ठंडी आवाज और लाल आँखों से उसने पूछा–कहाँ रह गई थी?

'कुलधरा की तरफ पानी लेने गई थी। रास्ते में तूफान आ गया। फिर रस्ता भी भूल गई।'

'सच में ही तूफान आ गया और रासता भूलगी? (उसके कहे में, सच में व्यंग्य था या सुगना ही दूसरा व्यंजित अर्थ पकड़ रही थी।) कुलधरा! वो भुतैली बावड़ी? पागल हुई क्या? किसने बताया तुझे उधर का रास्ता?'

'धापू...'

'धापू! वाह री धापू की बहना! किस तूफान में फँस गी जाके तू?' फिर व्यंग्य! सुगना का मन हल्के-हल्के काँप रहा था। किसी ने देखा क्या? इसको कुछ कहा क्या?

रामकिसन की अप्रत्याशित चुप्पी या फिर व्यंग्य से सने दो-एक वाक्य सुनते-सहते, स्वयं को भुलाकर, उसने आँधी से बिखरा पूरा घर बुहारा-समेटा। भीतर से वह अपने आपको भी समेटने का असफल यत्न कर रही थी। रात को टाबरों को खाट पे सुला कर, हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलने को हुई तो देखा जहाँ-जहाँ शहद गिरा था, वहाँ-वहाँ कुर्ती का रंग उड़ गया था। काँख चिपचिपा रही थी, कान तक के अन्दर चिपचिप! तीन-चार लोटे पानी के भी कम थे उस चिपचिपाहट के लिए।

'इतना पानी क्यों ढोल रही है? रेत ही तो है, कीचड़-कादा थोड़े है।' अपनी सूखी ओढ़नी से अच्छी तरह से कान के अंदर तक पोंछ कर आँगन की लालटेन धीमी कर, कोठरी के आले में रखा दिया बुझाकर, दरवाजों की दरारों में कपड़े, ठूँस कर वह रामकिसन की बगल में जमीन पर बिछी गुदड़ी पर जा लेटी। तमाम व्यंग्य बाणों के बीच भी रामकिसन का नीचे बिस्तर बिछाना उसे समझ नहीं आया। जब टाबरों को ऊपर प्यार से सुला, रामकिसन नीचे उसकी गुदड़ी बिछा कर लेटता है तो उसका मंतव्य सुगना तुरंत समझ जाती है। उस रात रामकिसन उसके प्रति निर्मम था। उसी दौरान दो जोड़ी शहद के रंग की आँखें और मुड़ी हुई पलकों की वह अधखुली चिलमन उस पर बिना झंपे तारी न हो गई होतीं तो वह उस एक जंगल से कैसे गुजरती? न गुजरती उस जंगल से तो यह सरासर बलात्कार होता। सह गई वह रामकिसन की सारी निर्ममता, अपने भीतर करवटें लेते जंगल के चलते। उसने कब देखा था घनेरा जंगल। बस मीलों-मील फैले मरूस्थल देखे थे। पीली और काली आंधियों में भी उन पर टिके पुराने खण्डहर जैसे-तैसे साँस लेते थे। और इन खण्डहरों में लटके वनमाखी के मीठे शहद भरे छत्ते। 'मीठा तो होता है इसका शहद पर तीतापन पीछे छोड़ जाता है।' यही कहता था न जोगीड़ा!

रामकिसन का गाँव-गाँव जाकर कठपुतली का खेल दिखाना नहीं रुका, कुलधरा से उसका पानी लाना नहीं रुका। जोगी का विदेशी और देसी टूरिस्टों को कुलधरा रोज लाना कैसे रुकता? कुलधरा के रहस्यमय खण्डहर, अंग्रेज हैरानी से देखते, कैसे पूरा का पूरा गाँव एक ही रात में गायब हो गया था। जलते चूल्हे, चलती चक्कियाँ छोड़, दरवाजे खुले छोड़, अनाज भरे कुठार यूँ के यूं छोड़ गाँव का गाँव गायब हो गया। कहाँ? पता नहीं। बहुत रहस्यमय है जैसलमेर जिले का यह कुलधरा गाँव। जोगी टूटी-फूटी अंग्रेजी और पर्यटन विभाग के छपे पन्नों से उन्हें बताता-सर...लुक हियर मैडम...दोज विलेजर्स वर राजपूत वॉरियर्स...वन डे सडनली दे लेफ्ट द विलेज...इन सेम कण्डीसन, सेम एज यू आर लुकिंग हियर...

जल्दी ही गर्भवती होने का अहसास...चींटीयों सा उसे काटने लगा था। रामकिसन के पार्श्व में लेटे हुए उसे लगता गर्म रेत पर लेटी है वह। देह के आकार का वाष्प और तरल भरा गछ्ढा भर है वह। पण्डित का फिकरा गूँजा-विधवा, गाभण, रितुमती औरतां, छोड़ी हुई लुगायां हवन सूं आप ही उठ के चली जावो...बुरो मत मानजो सा... भगवान री बनाई रीत है। आरती में कोई भेदभाव नी। आरती के टेम वापस आ सको, अपनी-अपनी श्रद्धा सूं भेंट चढ़ा सको।' अनवरत चल रही आहुतियों के यज्ञ में पति के वामांग बैठी सुगना ठिठकी, सयुगना के पेट में चक्रवात उठा। रामकिसन ने मासूम मगर धारदार होने की हद तक ईमानदार बड़ी-बड़ी आँखों से प्रश्न किया और पैर के अंगूठे से उसकी जाँधों को कुरेद कर पूछा 'क्या हुआ?' वह ढीठ बन गई और रामकिसन के बलिष्ठ हाथ पर अपना हाथ रखकर, यज्ञ में आहुतियाँ दे आई। बाबा रामदेवजी के मंदिर की ही बात है वह यज्ञ। बाबा रामदेवजी का मेला भरा था। मन्नत पूरी हुई थी रामकिसन की। रामकिसन को जयपुर के एक लोक कला केन्द्र में कठपुतली के खेल दिखाने वाले की स्थायी, सरकारी नौकरी मिल गई थी। वह गाँव छोड़ के जाने का मन बना चुका था। सुगना की आत्मा कटघरे में खड़ी थी, अपने आप से दरियाफ्त करती हुई। सुन्न चेतना क्या उत्तर देती? हालातों की क्या समीक्षा करती? जोगी का कई दिनों से कुछ पता नहीं था। वह कई बार कुलधरा जाकर खाली हाथ लौट आई। चींटियों का कोई एक गहरा बिल खुल गया था। कहीं कच्ची, पोली निष्ठा में। वे दिन-रात उसकी आत्मा और देह पर रेंगा करतीं।

क्या उत्तर देगी पति को? तीसरा महीना चढ़ गया है। कैसा आलस घेरता है, आजकल उसे। जरा चल कर थक जाती है। मन कहीं गहरे गर्त में डूब गया है जाके पर देह यंत्रवत लगी रहती है काम में, जो खाती वह तुरंत उलट देती। पड़ोसन धापू

कुछ-कुछ समझ रही थी, कुछ रामकिसन भी। दोनों के दोनों उसकी तुलना में अनुभवी!

'तो ये तूफान था? ऐसी गैल भूलगी थी तूं। धापू अच्छा कुलधरा के खण्डहरों वाली बावड़ी का रास्ता बताया तूने! अब तू ही इसे इसकी माँ के घर पटक आ। इस ढोलकी का अब मैं क्या करूँ?'

'वहाँ कौन बैठा है इसका? तेरा ही बच्चा है ये, कभी प्रेसन खराब हो जाते हैं। इसके मायके में कौन है अब? माँ तो खुद नाते बैठी है किसी के। कहाँ जाएगी रामकिसन ये?'

'इसे भी बिठा दे नाते किसी के, कहना, रखले बच्चे समेत। बोल दे, इसे कि चली जाए उसके पास जिससे ये ढोल गले में बँधा के लाई है। ये कौव्वे और कोयल वाली कहानी खेलने को रामकिसन कठपुतली वाले का ही घर बचा था रांड?' लंगड़ा कर वह घिसटा सुगना की तरफ, हाथ भी उठे रामकिसन के सुगना की पठी पर बरसने को पर अगले पल ही गिर गए, 'साले रामकिसन...लंगड़े...तू आग नहीं बुझा सका इस रांड की?' कहकर रामकिसन क्रोध में मेंड़ की झरती दीवार पर अपना हाथ मारने लगा, आँख से आँसू बहते थे...मुँह से लार।

बात छिपी नहीं। ससुराल की ढाणी तक पहुँची। वहाँ आकर बवंडर उठा दिया सास ने। सुगना कहती रही यह बच्चा रामकिसन का ही है, तो जाति के पंचों को इकट्ठा करके अग्नि परीक्षा की बात करने लगी सास। रामकिसन जितना चाहता था कि यह मामला तूल न पकड़े, उतनी ही बात घर से बाहर आग की तरह फैल गई थी। किसी का भी हो चाहे सुगना क गर्भ का बच्चा, वह सुगना को नहीं छोड़ सकता। यह निश्चित था कि बच्चा उसका नहीं है, लेकिन कठपुतली नचाते-नचाते रामकिसन जान गया था कि उसकी यह जो मायाविनी-जीवंत कठपुतली है 'सुगना'। वह मुक्त भी है, अनुरक्त भी। उसमें त्याग भी है, मोह भी। न सही सती धर्म, लेकिन सेवा है, सहिष्णुता है। उसमें जीवन है, जीवन की हलचल है। मादकता है तो अथाह ममता भी।

वह अंत तक कहता रहा, 'बाई, रहने दे मेरा घर उजड़ जाएगा दूसरी बार।' पर सास अडिग थी अग्नि परीक्षा को लेकर। राजस्थान के मरूस्थलीय इलाकों के, अन्दरूनी हिस्से में जहाँ जातिगत पंचायत ही समस्त कानून व्यवस्था का काम करती है, वहाँ पुलिस या घरेलू अदालत का क्या काम? समाज को इकट्ठा कर अग्नि-परीक्षा का यह प्रपंच सास के इशारों पर था। रामकिसन कठपुतलजी वाला तो आज स्वयं कठपुतली था। सास चाहती थी कि फैसले के बाद ही रामकिसन नौकरी पर जाए।

टाबरों की चिन्ता न करे, वह सँभाल लेगी। ऐसी कौन-सी रूपसी है सुगना, छोड़ देना। मरद है, नाते रख लेना किसी को। बस उस रांड के प्रेमी का पता चल जाए। उससे धरवाएँगे हरजाना, पूरे चार हजार!

फैसला होने तक सुगना को पंचायत के एक झोंपड़े में अकेले रहना था तीन दिन, शायद पश्चताप के लिए या ठंडे दिमाग से बिना किसी प्रभाव के अपने निर्णय पर सोचने के लिए। दिन में तो धापू खाना रख जाती। रात को वह उपवास रखती। मटके का ठंडा पानी पीती। दिन भर जैसे वह सुन्न-सी, पालथी मार बैठी रहती, वैसे ही गर्भ का पंछी भी शांत रहता। लेकिन झोंपड़ें में रात का अंधेरा जब गहरा और नीरव होता जाता और फूस के फर्श पर खेस बिछा कर लेटे हुए उसकी चेतना जाग उठती, तो गर्भ में वह नन्हा चूजा हल्के-हल्के पंख फड़फड़ाता। एक नन्हीं बच्ची की तमन्ना हौले से जागती, फिर उसे रामकिसन की नई रची कहानी की कठपुतलियाँ याद आतीं, जो उसने बनाई थीं। जेल में पड़ी देवकी और जोगमाया की कठपुतलियाँ। कितना भोला चेहरा जोगमाया का!

रात की नीरवता में बाहर और भीतर के स्पन्दन और सजग हो जाते। कभी दूर कहीं झाड़ी में मादा गोडावण की चूजों को दी गई पुचकार भरी झिड़की तक सुनाई देती तो कभी विषधर की सरसराहट स्पष्ट सुनाई पड़ती और रांगटे खड़े हो जाते। दूर कहीं किसी ढाणी में रात्रि-उत्सव में बजतीं थालियाँ और अलगोजे की टेर यूँ लगता जैसे पास से आ रही हो। रात की सूक्ष्मग्राही निस्तब्धता से उसका यह पहला परिचय था। वह रात भर जाग कर सब कुछ सुनती-शराब पीकर लौटै गाँव के छोरों का शोर, किसी आवारा बंजारन की कामुक हँसी, सियारों की हूक।

नवम्बर माह की फीकी-सी सुबह थी। झोंपड़े के बाहर सारा ढोली समाज इकट्ठा था, धापू उसके साथ थी। वह हैरान रह गई जब धापू ने बताया कि जोगी भी भीड़ में खड़ा है। उसने एक छेद से झांका। पति की आहत नजर, प्रेमी का भयभीत चेहरा। नंदू-बंसी के कुम्हलाये बदन।

ससुराल के लोगों की हिकारत भरी मुद्राएँ। कुतुहल से तमाशा देखते, कानाफूसियाँ करते, मजाक उड़ाते उसकी ही जाति के लोग-लुगाई।

'धापूड़ी, जाके कह दे उस जोगी को, भग जाए यहाँ से। किसी को अन्दाज भी पड़ गया तोऽऽऽ? हरजाने की बात तो है ही, कूट भी डालेंगे उसे मेरे सासरे वाले।'

फैसला जो होना हो, हो। वह लगातार यही कहेगी कि बच्चा रामकिसन का ही है,

और किसी का हो ही नहीं सकता। सुगना की आँख फिर एक छेद से होकर जोगी पर जा टिकीं। वह ढीठ तो धापू के साथ इधर ही आ रहा था और रामकिसन आशंकित हो लगातार उस जोगी को घूरे जा रहा है। माजरा समझ रहा है क्या?

'यहाँ से चला जो...जोगीड़ा!' उसने जोगी के भारी पैरों की आहट सुनते ही, झोंपड़ी के अन्दर से ही, खड़े होने की कोशिश में, देह के बोझ तले डूबते हुए कहा।

'तू बैठ जा अभी। थक जाएगी। पंच मसवरा कर रहे हैं कि अग्निपरीक्षा कैसे लें। जोगी तू बाहर ही रुक।' धापू ने उसके साथ भीतर आते जोगी को हाथ से ठेल दिया।

'सुगना! सुन, मैं हरजाने के चार हजार लाया हूँ, दो हजार में छीनी थी न तू मुझसे उसने, मैं दुगना हरजाना भरूंगा। उसे बोल छाती ठोक के कह दे कि बच्चा तेरा–मेरा है। कोई जरूरत नहीं गरम तेल में हाथ डालने की या गरम ईंट पकड़ने की। ये पंच अपना फायदा देखते हैं ऐसी चीजों में। औरत का चरितर खराब निकले तो भी पंचों की चाँदी, न निकले तो भी उसकी चाँदी। दोनों तरफ का पैसा उनको तो मिलता ही है।' वह दरवाजे पर मुँह रख फुसफुसाया सुगना का मुँह कसैला हो गया। वह कुछ नहीं बोली, पर जोगी, वह तो तन–मन धन को जोखिम उठाकर उसे लेने आया है, न सही धर्म पर उसका राग बंधा था सुगना से। वह फिर तड़फड़ाया–'बाहर फटफटी खड़ी है, रोड पे...चुपचाप बाहर आ जा, झोंपड़ी के पीछे लंबी घास है, छिपकर पहुँच रोड पे। सुगना, एऽऽ सुगनीऽऽ क्या कहती है? क्या कहेगी पंचों से?'

'हाँ, जा–जा, जा के तू अपना काम देख। मुझे जो कहना होगा, कह दूँगी। अच्छा तो यह है कि रामकिसन और उसके घरवाले तुझे पैचाणे उससे पहले ही चला जा।'

'मैं नहीं डरता उस लंगड़े और उसके घरवालों से। अब भी कह रहा हूँ।'

'जोगी तू जा, देख पंच तैयार खड़े हैं, फैसले के लिए।'

'सुगनी, मत पकड़ना रे गरम ईंट...फफोले तो पड़ेंगे ही। चाहे तू सही हो के गलत।' चीखते जोगी को धापू ने दूर तक ठेल दिया।

'इतनी बड़ी बातें बता रहा है, अब तक कहाँ थ रे तू?'

'अरे गाईड हूँ, आज यहाँ तो कल टूरिस्ट जहाँ ले जावे उसके साथ।'

तभी बंसी भगता हुआ आया, 'बाई तू हमारे साथ चल न। नंदू तो खाना नहीं खाता तेरे बिना रोता रहता है। एक माँ भगवान ने छीनी अब ये दूसरी ये रांड दादी। इसी की करतूत है, बापू तो तुझे चाहता है बाई, रात को रोता था दादी के आगे।' सुगना ने अपना

चेहरा घुटनों में छिपा लिया। 'बाई, देख न इधर, ये बापू ने भेजा है। तेल है ये, कब्रों पर उगने वाले ग्वारपाठे और रेत की छिपकली का तेल, मल ले हाथ से, हाथ नहीं जलेगा, न फफोले होंगे। परसों चार घंटे सायकिल चलाकर सीमा पार के नजदीक डटे हुए गाड़िया लोहारों से लाया है, बापू।'

लंबी शीशी के मुँह में ठुंसा कपड़ा खोल के ढेर सारा भूरा बदबूदार तेल सुगना की दोनों हथेलियों पर मलने लगा, बारह बरस का किशोर बंसी। आँधी में अपनी भेड़ें टेरता वो चरवाहा याद आ गया, यही कातरता थी स्वर में। सुगना की आँख भर आईं।

पंचों ने आवाज लगाई गर्भभार से क्लान्त, पीले चेहरे वाली सुगना को देख रामकिसन सिसक उठा। सास उसे लानत भेजती रही।

पंचां ने सुगना को गरम ईंट पकड़ाने से पहले दरियाफ्त किया, 'सुगना बाई कठपुतली वाले रामकिसन के घरवालों का कहना है कि यह बच्चा उसका नहीं है, तुम क्या कहती हो?'

'यह बच्चा बंसी का ही भाई या बहन है। मुझे बंसी के बापू के साथ ही रहना है और आप ही कहो क्या कहूँ?' सुगना ने दम बटोरकर कहा। रामकिसन ने गहरी साँस ली। जोगी ने सर को झटका दिया, और बड़बड़ाता हुआ बड़े–बड़े डग भरता हुआ पीछे को चला गया, जहां उसकी काली राजदूत फटफटी खड़ी थी, सुगना को ले जाने के लिए।

'कहो कि 'मैंने जो कहा वह सच है, मुझे मंजूर है अग्नि परीक्षा।' सुगना बाई यह अग्नि परीक्षा औरत की मर्जी से ही ली जाती है।' एक पंच बोला।

'बाई, अब नहीं करनी अग्नि परीक्षा, मैं मानता हूँ, यह बच्चा मेरा ही होगा।' रामकिसन बीच में आ खड़ा हुआ।

'चुपकर रे...रामकिसन...आप्रेसन के बाद कोई बच्चा होता है? अग्नि परीक्षा तो होने दे। हाथ पे फफोले पड़े तो इसके मायके वाले या इसके प्रेमी या तो इसे ले जाएँ या चार हजार जुर्माना दें।' सास ने रामकिसन को यूँ धकियाया कि वह गिरते–गिरते बचा।

'तो मंजूर है सुगना बाई?'

सुगना ने उत्तर में तेल मले हाथ आगे कर दिए। एक पंच ने पान का एक–एक पत्ता उन नाजुक हथेलियों पर रखा और उन पर लाल, गरम ईंट रख दी गई। एक दो–तीन पूरे सात मिनट। आठवें मिनट पर ईंट जमीन पर फेंक कर सुगना नीचे बैठकर उलटियाँ करने लगी। पान का पत्ता जलकर काला हो गया था। पास पड़ी पानी की

बाल्टी में पाँच मिनट डुबो कर हथेलियाँ ऊपर उठा दीं उसने। फफोले नहीं पड़े थे, पर हथेलियाँ ताजी रची मेंहदी की तरह लाल सुर्ख थीं।

रेत का गुबार उड़ाती भीड़, शोर के साथ लौटने लगी। पंच फटकार रहे थे सास को।

बाई-बाई करके नंदू और बंसी आकर उसकी पीठ से चिपक गए। धीरे-धीरे हचक कर चलता हुआ रामकिसन उसकी ओर बढ़ रहा था। रोड पर रफ्तार से जाती फटफटी की आवाज सुगना के कानों में देर तक गूँजती रही।

मनीषा कुलश्रेष्ठ

युवा लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ का जन्म 27 अगस्त, 1967 को हुआ। अब तक तीन कहानी संग्रह 'बौनी होती परछाईं', 'कठपुतलियाँ' और 'कुछ भी तो रूमानी नहीं' प्रकाशित हो चुके हैं। कश्मीर की पृष्ठभूमि पर पहला उपन्यास 'शिगाफ़' नाम से शीघ्र प्रकाश्य है। मनीषा हिन्दी साहित्य की पहली वेब पत्रिका 'हिन्दी नेस्ट डाट कॉम' का प्रकाशन भी करती हैं।

बॉस की पार्टी

–संजय कुंदन

वह काफी देर से आईने के सामने खड़ा हँसने की कोशिश कर रहा था। इस प्रयास में उसने कई विचित्र मुद्राएँ बनायीं, तरह-तरह की आवाजें निकालीं। हालाँकि वह आश्वस्त नहीं हो पा रहा था कि यह सब जो उसने किया है, उन्हें हँसी की श्रेणी में शामिल किया जा सकता है या नहीं।

जीवन में पहली बार उसके भीतर यह सवाल उठ रहा था कि हँसी आती कहाँ से है और कैसे? क्या हँसी के आने से पहले शरीर में कोई सरसराहट होती है जैसे बारिश पत्तों पर दस्तक देती है? क्या त्वचा का रंग बदलने लगता है, पुतलियाँ कुछ अलग तरह से हरकत करने लगती हैं?

जिन्दगी की सबसे स्वाभाविक क्रिया उसके लिए चुनौती बन गई थी। ऐसा लग रहा था कि वह किसी दूसरे ग्रह का प्राणी हो जो इनसान बनाने की कवायद में जुटा है।

किसी गहरे आघात से जैसे कुछ लोगों की याददाश्त चली जाती है उसी तरह उसकी हँसी चली गयी थी। कब चली गई थी, याद न था। कितनी चोटें खाने के बाद ऐसा हुआ था, इसका कोई हिसाब न था। पर वह हँसना चाहता था क्योंकि हँसना अब उसे जरूरी लगने लगा था।

वह उस हँसी को नहीं ढूँढ रहा था जो चली गई थी। वह अपने भीतर उस हँसी से मिलती-जुलती एक और हँसी हँसने की ताकत पैदा कर रहा था। वह ऐसी हँसी की तलाश कर रहा था जो सामने वाले को प्रसन्न कर दे। उसे ऐसी हँसी की दरकार थी जो उसे हर माहौल में स्वीकार्य बनाये। जो उसे छुपा ले। जिसे रोते हुए भी हँसा जा सके।

जो उसका परम मूर्ख और अज्ञानी होना साबित कर सके।

उसका नाम देवेश कुमार था और वह एक निजी कम्पनी में असिस्टेंट मैनेजर था। वह अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ दिल्ली के निम्न मध्यवर्गीय लोगों के मोहल्ले में एलआईजी फ्लैट में किराए पर रहता था।

दो दिन पहले उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने उसे हँसी खोजने पर मजबूर कर दिया था। हुआ यह कि परसों उसके दफ्तर में प्रमोशन और सालाना इन्क्रीमेंट की लिस्ट आई थी। एक बार फिर देवेश का प्रमोशन नहीं हुआ था। उसे हर बार की तरह बस दो सौ रुपए की इन्क्रीमेंट दी गई थी। यह उसके लिए दुखद था लेकिन उसके परिवार के लिए यह वज्रपात साबित होनेवाला था क्योंकि देवेश से ज्यादा उसका परिवार प्रमोशन की उम्मीदें पाले बैठा था। पिछले छह महीने से उसका परिवार प्रमोशन की कल्पना के साथ जी रहा था।

पत्नी ने योजना बना रखी थी कि उसका प्रमोशन होगा तो वे लोग एलआईजी छोड़कर एमआईजी में चले जाएँगे। चूँकि बच्चे बड़े हो रहे थे इसलिए अब एक और कमरे की जरूरत पड़ रही थी। बच्चे भी तरह-तरह के ख्वाब देख रहे थे। उसका बेटा चीनू कहता, 'पापा का प्रमोशन होगा तो साइकिल लूँगा।'

बेटी रिंकी की ख्वाहिश थी, 'पापा का प्रमोशन होते ही डांस क्लास में एडमिशन लूँगी।'

अब छोटे-छोटे प्रसंगों में भी उसका प्रमोशन शामिल था। जब एक चादर थोड़ी फट गई तो पत्नी ने कहा, 'अब प्रमोशन के बाद ही नयी चादर लेंगे।'

एक दिन उसने देवेश से कहा, ''तुम बहुत कमजोर होते जा रहे हो। तुम्हें रोज एक गिलास दूध पीना चाहिए, लेकिन अभी बड़ी मुश्किल से बच्चों को ही मिल पाता है। कोई बात नहीं, प्रमोशन के बाद दो किलो लेना शुरू कर देंगे।''

प्रमोशन न होने से ये सार सपने दम तोड़ चुके थे। देवेश यह सोचकर काँप उठा कि जब उसकी पत्नी और बच्चों को यह पता चलेगा तो उन पर क्या गुजरेगी।

दफ्तर के सारे लोगों को प्रमोट किया गया था। यहाँ तक कि प्रिंस कुमार को लगातार दूसरी बार प्रोन्नति दी गई थी। प्रिंस कुमार उसका जूनियर था। पिछले साल प्रमोशन पाकर वह उसके समकक्ष आ गया था। अब वह उसका सीनियर हो जानेवाला था। जीवन में पहली बार देवेश अपमान की चुभन महसूस कर रहा था।

देवेश ने तय किया कि वह अपने जीएम मिस्टर बत्रा से साफ-साफ बात करेगा। आखिर किस अपराध का दंड मिला है उसे? दिन-रात खटने और अक्सर अपने दफ्तर के काम के लिए छुट्टी के दिनों को स्वाहा करने का क्या यही परिणाम है?

यह झटके से मिस्टर बत्रा के केबिन में घुसा और उसके सामने की कुर्सी पर बैठ गया।

''एनीथिंग सीरियस?'' बत्रा ने मुँह बनाकर पूछा।

''यस!'' देवेश ने जोर से कहा।

''बताइए।''

''मैं सिर्फ यह जानना चाहता हूँ कि मुझे किस अपराध का दंड मिला है?''

''दंड, कैसा दंड?''

''सबको प्रमोशन मिला लेकिन मुझे नहीं।''

''देखो देवेश, यह तो टॉप मैनेजमेंट का डिसीजन है।''

''सर, आप मुझे बहलाइए मत। मुझे पता है आप जो रिकमेंड करते हैं वही होता है। आपने मुझे रिकमेंड क्यों नहीं किया?''

बत्रा ने कुछ नहीं कहा। वह इधर-उधर देखने लगा। देवेश बोला, ''सर मैं आपसे कुछ पूछ रहा हूँ। यह जानने का मुझे पूरा हक है। आपने मुझे प्रमोशन क्यों नहीं दिया? मुझमें ऐसी क्या कमी है? क्या मैं ठीक से काम नहीं करता?''

''काम ही सबकुछ नहीं है। बिहेवियर भी कोई चीज है।''

''मेरे व्यवहार में कमी है? मैं तो यहाँ किसी से ज्यादा मतलब ही नहीं रखता।''

''यही तो बात है। आप यहाँ इन्वॉल्व नहीं होते। लगता ही नहीं कि आपको कम्पनी से कोई मतलब है। आप हर समय खोये रहते हैं। इसका तो यही अर्थ हुआ कि आप हर समय पर्सनल प्रॉब्लम के बारे में सोचते रहते हैं।''

देवेश के लिए यह अप्रत्याशित था। उसने कहा, ''सर, महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि मैं क्या सोचता हूँ। असल बात है कि मैं करता क्या हूँ...।''

''यही तो मैं कह रहा हूँ।'' बत्रा ने बात काटते हुए कहा, ''आप अपनी बॉडी लैंग्वेज सुधारें। पता नहीं आप किस दुनिया में जीते हैं। हमें अप टू डेट मैनेजर्स चाहिए। समझ गए न कवि जी...।''

बत्रा ने जब 'कविजी' कहा तो उसकी आँखों में वही शरारत झलकी जो अक्सर नजर आया करती थी बत्रा देवेश को 'कवि जी' कहकर चिढ़ाया करता था।

बत्रा की नजर में 'कविजी' वह शख्स नहीं था जो कविताएँ लिखता हो। अच्छी हिन्दी बोलनेवाले, गुमसुम रहनेवाले सारे लोग उसकी नजर में कवि थे, उसके लिए शुद्ध हिन्दी बोलना एक मजाक का विषय था।

एक बार फिर बत्रा ने कहा, 'समझ गए न कवि जी! चाय पिएँगे?'

''नहीं, बिलकुल नहीं।'' देवेश ने कुर्सी से उठते हुए कहा।

''अरे आपकी वाली पिलाऊँगा।'' बत्रा ने कहा और जोर से हँसा।

''आपकी वाली'' से उसका आशय उस चाय से था जिसमें दूध और चीनी डाली जाती थी। वह खुद काली चाय पीता था और उसे ही असली तथा सम्भ्रान्त लोगों की चाय बताता था। उसका कहना था कि चाय में चीनी और दूध डालना पिछड़ेपन की निशानी है। जब वह अपने चैम्बर में मैनेजरों की मीटिंग करता तो लोगों को खुद चाय बनाकर देता। जब देवेश को वह चीनी डालते हुए देखता तो हँसते हुए कहता, 'कवि टाइप लोग चाय नहीं शरबत पीते हैं।'

कपि टाइप लोगों में वह उन्हें शामिल करता था जो कॉन्वेंट में नहीं पढ़े थे, जो पिछड़े हिन्दी भाषी प्रदेशों के निम्न मध्यवर्गीय लोग थे। उसका मानना था कि इन लोगों में सिविक सेंस नहीं होता। ये लोग कहीं भी नाक छिड़क देते हैं या पेशाब कर देते हैं। ये मजदूर या क्लर्क बनने के लायक ही हैं। ये अच्छे मैनेजर नहीं बन सकते।

वह इन लोगों के लिए एक और शब्द का इस्तेमाल करता था–एचएमटी यानी हिन्दी मीडियम टाइप।

'आपकी वाली' कहकर बत्रा ने देवेश को उसकी औकात याद दिलाने की कोशिश की थी। देवेश इस प्रस्ताव को ठुकराकर बाहर निकल आया।

बाहर आते ही उसकी नजर प्रिंस कुमार और घनश्याम पर पड़ी। वे कुछ फुसफुसा रहे थे। देवेश को देखते ही वे सकपकाते हुए इधर-उधर हो गए। देवेश को लगा ये लोग जरूर उसकी और बत्रा की बातें सुनने की कोशिश कर रहे होंगे।

ये दोनों बत्रा के खास आदमी थे। ये भी 'एचएमटी' ही थे लेकिन इनकी हर समय कोशिश रहती थी कि वे ऐसा कुछ करें कि इस श्रेणी से बाहर नजर आयें। बत्रा जब हिन्दी माध्यम से पढ़ने वाले लोगों की हँसी उड़ा रहा होता तो प्रिंस कुमार और

घनश्याम ने सिर्फ उसका समर्थन करते बल्कि ऐसे लोगों की असफलताओं के कुछ किस्से भी प्रस्तुत कर देते।

देवेश अपनी सीट तक आया। एक अजीब सी झनझनाहट हो रही थी पूरे शरीर में। वह बैठने का साहस नहीं कर पा रहा था। वह काफी देर तक यूँ ही इधर-उधर टहलता रहा। वह समझ नहीं पा रहा था कि अपने परिवार को कौन-सा मुँह दिखाएगा।

वह शाम को इस तरह घर पहुँचा जैसे कोई अपराध करके आया हो। उसे लग रहा था प्रमोशन न होने की बात सुनकर पत्नी कहीं बरस न पड़े। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह इतना ही बोली, ''अब किस्मत में जो लिखा रहेगा वही होगा न।'' दोनों ने तय किया कि इस बात की भनक बच्चों को नहीं लगने देनी है। अगर वे पूछेंगे तो बात टाल दी जाएगी।

देवेश को रात भर नींद नहीं आई। रह-रहकर बत्रा की बातें याद आ रही थीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि बत्रा उससे पीछा छुड़ाना चाहता है। इस उम्र में देवेश नौकरी छोड़ने का जोखिम कैसे ले सकता है। अब दूसरी जगह आसानी से नौकरी मिल जाएगी, इसकी क्या गारंटी है।

यही रहना पड़ेगा। लेकिन कैसे? सम्भव है बत्रा उसे और अपमानित करे। उसे अपने आपको बदलना होगा। उसे अपने को दफ्तर के अनुकूल बनाना होगा।

कहीं ऐसा तो नहीं कि यह सब उसके न हँस पाने के कारण हो रहा है। प्रिंस कुमार और घनश्याम हर समय हँसते रहते थे खासकर बत्रा के सामने। बत्रा की हर बात पर वे हँस देते थे। बत्रा की हँसी में वे अपनी हँसी मिलाते थे। पता नहीं वे कैसे जान जाते थे कि बत्रा अब हँसेगा और वे हँसने लगते थे। देवेश उस वक्त अपने को असहाय महसूस करता। वह चुपचाप बैठा रहता।

बत्रा ने आज उससे कहा था कि वह इन्वॉल्व नहीं होता। कहीं उसके न हँसने का बत्रा ने यह अर्थ तो नहीं लगा लिया।

उसे याद है एक बार उन लोगों के सामने बत्रा ने कहा था, ''इस देश में तानाशाही की जरूरत है। सारी पॉलिटिकल पार्टियों के दफ्तरों पर ताला लगा देना चाहिए।''

इस बात पर प्रिंस कुमार और घनश्याम ने पहले सहमति में सिर हिलाया फिर हँसने लगे। बत्रा भी जोर से हँसा।

''और आपकी क्या राय है कवि जी?'' बत्रा ने देवेश से पूछा।

देवेश इस बात से सहमत नहीं था। उसने कहा, ''यह आपकी राय हो सकती है।''

''हाँ, आप तो डेमोक्रेसी रखेंगे ही ताकि आपके भाई-बन्धु चोरी करें और नेता लोग उन्हें छुड़ा सकें।''

इस बेतुकी बात पर भी देवेश को छोड़कर सब हँसे।

एक बार बत्रा ने कहा, ''जिनका वेतन पाँच हजार रुपए मासिक से कम है उन्हें बच्चा पैदा करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। अगर वे बच्चे पैदा करें तो उन्हें जेल में डाल दिया जाए।''

घनश्याम और प्रिंस कुमार ने इस बात पर ऐसा मुँह बनाया जैसे कोई बहुत बड़ी बात की दी गई हो। वे इस पर भी हँसे।

अगर उनकी ही तरह देवेश भी हँसा होता तो शायद वह भी बत्रा की गुड बुक में होता और आज उसे यह दिन न देखना पड़ता। इस तरह बत्रा ने उसके सपने पर लात न जमाई होती।

अपने लिए न सही मगर परिवार के लिए हँसी को ढूँढ़ना जरूरी था। इतने दिनों तक तो बगैर हँसी के भी जीवन की गाड़ी निकलती चली आई थी। लेकिन अब उसके बगैर काम नहीं चलनेवाला था।

उसके दिमाग पर जोर देकर याद करने की कोशिश की-वह पिछली बार कब हँसा था? उसे अपने बच्चों के साथ हँसी के कुछ प्रसंग याद आए पर वह ठीक-ठीक याद नहीं कर सका कि ऐसा कब हुआ था। अब तो बच्चों के साथ भी वह कम ही समय बिता पाता था। पत्नी के साथ अब सिर्फ समस्याओं पर ही बात होती थी। उसमें हँसने की गुंजाइश कम ही थी। अक्सर चर्चा तनाव में ही खत्म होती थी। मोहल्ले के कुछ लोग जब दाँत निपोरते हुए उसे नमस्कार करते तो वह बस हाथ जोड़ देता। थोड़ी-बहुत बातचीत कर लेता लेकिन मुस्कुराने की कोशिश नहीं करता। दफ्तर में वह किसी से भी ज्यादा बात करने से बचता था।

लेकिन शुरू से वह ऐसा नहीं था। वह तो एक हँसमुख आदमी था। हर समय अपनी हँसी बिखेरता चलता था। स्कूल में उसके एक टीचर उसे हँसमुख लाल कहकर पुकारते थे।

वह हँसते-हँसते ही जीना चाहता था। उसके कद की तरह उसकी इच्छाएँ भी छोटी थीं। उसे बच्चों के साथ रहना पसन्द था। वह बचपन में अपने से छोटे बच्चों के साथ रहता और उनके लिए नए-नए खेल रचता था। वह अपने मोहल्ले के बच्चों का प्रिय 'भइया' था।

धीरे-धीरे उसने अपना लक्ष्य तय कर लिया कि वह प्राइमरी स्कूल का मास्टर बनेगा और कभी सम्भव हुआ तो बच्चों के लिए अलग स्कूल खोलेगा। जब वह मैट्रिक में था तब उसने अपने पिताजी को अपने लक्ष्य के बारे में बताया। पिताजी ने सिर पीट लिया। बोले, ''मुझे नहीं पता था कि तुम मेरे सपनों को इस तरह मिट्टी में मिला दोगे। मेरे जैसा छोटा आदमी तुम्हारे लिए इतना ऊँचा सोचता है और एक तुम हो कि...। तुम्हें आखिर किस चीज की कमी है।''

देवेश समझ नहीं पाया कि उसके शिक्षक बनने की योजना पर पिताजी इतने दुखी क्यों हो गए। पिताजी ने अपनी संघर्ष गाथा विस्तारपूर्वक सुनाई कि किस तरह उन्होंने बचपन में एक दुकान में काम करते हुए पढ़ाई की और काफी दौड़-धूप और जुगाड़ करके रूटीन क्लर्क बने। यह कथा सुनाने का मकसद यह था कि देवेश शिक्षक जैसे तुच्छ पद का सपना न देखे, वह बड़ा अफसर बनने का ख्वाब देखे। इसके लिए उसके पिता हर तरह का त्याग करने के लिए तैयार हैं।

पिताजी ने अपनी संघर्ष गाथा को एक छड़ी की तरह इस्तेमाल किया। देवेश को जब भी वे पढ़ाई छोड़कर इधर-उधर घूमते-फिरते देखते तो भावुक होकर कहने लगते, ''एक मैं था कि इतनी विपत्ति के बीच भी अपना रास्ता किसी तरह बनाया और एक तुम हो कि...।''

यह सुनकर देवेश एक अपराध बोध से भर उठता था। इससे उबरने का एक ही रास्ता था कि वह किताब खोलकर बैठ जाए। यह अलग बात थी कि उसका अपनी पाठ्य पुस्तकों में जरा भी जी नहीं लगता था। मैट्रिक में वह एम.ए. स्तर की मनोविज्ञान या इतिहास की पुस्तकें पढ़ता था लेकिन अपनी किताबें बहुत कम छूता था।

बावजूद इसके वह ठीक-ठाक अंकों से पास हुआ और अपने कस्बे के एक कॉलेज में पढ़ने लगा। वहाँ वह अपनी एक सहपाठी के प्रेम में पड़ गया। यह भी एक अलग तरह का ही प्रेम था। उन दिनों लड़के-लड़कियों में बहुत कम ही बात हो पाती थी। कस्बे का माहौल ऐसा नहीं था कि वे कॉलेज में खुलकर बात कर सकें या कहीं और मिल सकें।

उन्होंने एक रास्ता निकाला। वे कॉलेज से निकलते और दो अजनबी यात्रियों की तरह बस या टेम्पो में सवार हो जाते। कई बार तो उन्हें आस-पास सीट भी नहीं मिलती

थी फिर भी इस मोहल्ले से उस मोहल्ले घूमते रहते। वे एक टेम्पो से उतरते और दूसरे में सवार हो जाते। बीच–बीच में एक–दूसरे को देखते और मुस्कुराते। कभी–कभी बात भी करते। कस्बे के किसी भीड़–भाड़ वाले इलाके से गुजरते हुए देवेश कल्पना में खोया रहता कि वह अपनी प्रेमिका के साथ रंगीन बादलों पर चल रहा है या किसी घाटी में चहलकदमी कर रहा है। तब उसके पास खूब हँसी थी। उसके रोएँ–रोएँ से हँसी के सोते फूट पड़ते थे।

न जाने कैसे पिताजी को उसके प्रेम का पता चल गया। उन्होंने उसकी मोहब्बत के विरोध में एक बार फिर वही हथियार इस्तेमाल किया। उन्होंने उसे समझाया, ''देखो इस उम्र में प्रेम हो ही जाता है। लेकिन यह भी उसी को होता है जिसे भरपेट भोजन मिलता है, जिसके पास अच्छा बिस्तर और मकान रहता है। यह सब तुम्हारे पास है। यह सब तुम्हें इसलिए नसीब हुआ है क्योंकि मैंने अपने जीवन में भारी कष्ट उठाए हैं। नमक और धनिया तौलते हुए मैंने पढ़ाई की।'' यह कहकर वे थोड़ा ठहरे फिर अपनी आँखें पोंछीं और कहना शुरू किया, ''वैसे यह प्रेम तो है नहीं। इस उम्र में इसी तरह सबको शरीर लुभाता है। चलो मान लिया कि यह प्रेम है। लेकिन इसका क्या अन्त होगा, यह कभी सोचा है? जब तक प्रेम है, तब तक तो ठीक, लेकिन उसके बाद? तुम लोग तो यही सोचोगे न कि शादी कर लें। उसी के बाद तो सारी समस्या शुरू होगी। तुम पढ़ाई–लिखाई पर ध्यान दे नहीं रहे हो। इस खतरनाक समय में नौकरी–चाकरी मिलना इतना आसान नहीं है। जब दाल–रोटी का मामला आएगा न तो सारा प्यार उड़ जाएगा। तब पछताओगे कहाँ फँस गए। पत्नी बनते ही हर लड़की एक जैसी हो जाती है। अभी वह परी लग रही फिर रणचंडी नजर आने लगेगी। बाकी तुम सोच लो...।''

एक बार फिर वह गहरे अपराधबोध से भर गया। उसने कॉलेज जाना ही बन्द कर दिया। एक बच्चे के माध्यम से उसकी प्रेमिका ने सन्देश भी भिजवाया पर उसने कोई जवाब नहीं दिया, हालाँकि कल्पना में वह उससे मिलता रहा, हँसता–बोलता रहा।

काफी दिनों बाद परीक्षा के दौरान उससे मुलाकात हुई। उसने बताया कि उसकी शादी तय हो गई है। फिर वह फूट–फूटकर रोने लगी। देवेश को एक तरह से राहत महसूस हुई लेकिन यह भी लगा कि अब वह कभी हँस नहीं पाएगा। वह आगे की पढ़ाई के लिए दूसरे शहर में चला आया। यहाँ उसका जरा भी मन नहीं लगता था। लेकिन वह जब भी निराश होता अपने पिता की संघर्ष गाथा को याद कर लेता।

यहाँ उसका हँसना कम हो गया था पर हँसी पूरी तरह खत्म नहीं हुई थी। यहाँ भी

वह कुछ बच्चों को ट्यूशन पढ़ा रहा था पर इनके साथ उतना मजा नहीं आता था जितना अपने शहर के बच्चों के साथ आता था।

पिताजी के कहने पर वह बड़े बेमन से प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठता रहा पर सफलता हाथ नहीं लगी। फिर उसने एक मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट में डिप्लोमा किया। यह उसके काम आया। उसे दिल्ली की एक निजी कम्पनी में नौकरी मिल गई।

पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। बेटा दिल्ली में नौकरी करेगा–यही उनके लिए गर्व का विषय था। हालाँकि राजधानी में ऐसी ढेरों कम्पनियाँ थीं लेकिन 'असिस्टेन्ट मैनेजर' पद में एक वजन था चाहे तनख्वाह जो भी हो। पिताजी ने हर जगह देवेश की तनख्वाह चार गुना बढ़ाकर बताई और उसके ओहदे का खूब ढिंढोरा पीटा। साल बीतते ही अपने से ज्यादा हैसियत वाले परिवार में देवेश का रिश्ता भी तय कर दिया। देवेश ने उनके हर निर्णय को जिस तरह स्वीकार किया था उसी तरह इसे भी मंजूर कर लिया।

नया जीवन उसे रास नहीं आया था। कहाँ तो वह शिक्षक बन बच्चों की खिलखिलाहट के बीच एक शान्त जीवन गुजारना चाहता था, कहाँ उसके हिस्से में एक आपाधापी का जीवन आ गया था। एक थोपी हुई जिन्दगी ने उसकी हँसी को लील लिया था।

लेकिन इस जीवन के लिए हँसी जरूरी थी, वह हँसी जो भले ही उसकी अपनी न हो मगर अपनी जैसी लगे। उसे हँसी की जरूरत थी। वह जो स्वीकृति की हँसी, हो, वह जो सहमति की हँसी हो, वह जो अधीनता की हँसी हो।

उसने तय किया कि वह कल से हँसेगा।

दूसरे दिन जब वह दफ्तर के लिए निकला तो उसे लगा जैसे वह परीक्षा देने के लिए जा रहा हो। आज तक उसने कई परीक्षाएँ दी थी। पर किसी में भी वह इस तरह नर्वस नहीं हुआ था।

दफ्तर पहुँचते ही उसके पसीने छूटने लगे। समझ में आ गया कि हँसना कितना कठिन काम है। जब चपरासी उसकी टेबल पर पानी रखने आया तो जग से थोड़ा छलग गया। इस पर देवेश ने हँसने की कोशिश की। उसने ताकत लगाकर हँसी सरीखी आवाज निकाली जिससे वह चपरासी घबरा गया। उसने सन्देह की नजरों से देवेश को घूरा और चला गया।

देवेश बाथरूम में जाकर हँसने का अभ्यास करने लगा। थोड़ी ही देर बाद एक हाथ उसकी पीठ पर रेंगने लगा। फिर लगा कोई पूरी ताकत लगाकर उसकी पीठ दबा

रहा है। उसकी तथाकथित हँसी हवा हो गई। वह तेजी से पलटा। उसके पीछे उसके सहयोगी मिश्राजी खड़े थे।

देवेश ने झेंपते हुए पूछा, 'क्या बात है?'

''सर, मुझे लगा कि आपको उलटी आ रही है इसलिए मैं पीठ दबाने लगा।''

''लेकिन आप आए कब।'' देवेश को लगा जैसे उसकी चोरी पकड़ी गई।

''अभी-अभी सर!''

''ठीक है ठीक है,'' यह कहकर देवेश जल्दी से अपनी सीट पर आ गया। पता नहीं मिश्राजी ने उसके बारे में क्या सोचा होगा।

तभी बत्रा दिखाई पड़ा। देवेश ने सोचा, यही मौका है। क्यों न वह अपनी मुस्कुराहट के साथ उसका स्वागत करे। उसकी बदली हुई मुद्रा बत्रा को यह अहसास दिलाएगी कि उसके कहने पर देवेश में परिवर्तन आ रहा है। बत्रा की नाराजगी कुछ कम होगी।

देवेश उठा और हँसने की कोशिश करता हुआ बत्रा की ओर बढ़ा। उसे लगा कोई चीज उसके गले में घुसती जा रही है। उसे अपने पैर भी जमते से मालूम पड़े। उसने अपने को घसीटा।

वह बत्रा तक पहुँचा लेकिन समझ नहीं पाया कि क्या करे। उसने बस हाथ जोड़ दिए। बत्रा ठिठका। उसने देवेश के ऊपर से नीचे तक देखा फिर अजीब-सा मुँह बनाकर बोला, 'कहिए, फिर कोई शिकायत...।'

'नहीं सर, बस ऐसे ही।' देवेश ने अपने को सामान्य बनाने की कोशिश की।

'ऐसे ही!' बत्रा को जैसे विश्वास नहीं हुआ वह उसे घूरता हुआ चला गया। देवेश अपनी सीट पर लौट आया। जब उसने और लोगों को हँसी-मजाक करते देखा तो उसे हैरत हुई।

एक समय था जब वह भी इसी तरह हँसी-मजाक करता था। खूब हँसता-हँसाता था पर आज...। उसने इंटरनेट पर हँसी से सम्बन्धित वेबसाइट की खोज शुरू कर दी। उसे पता चला कि हँसी का बाकायदा एक विज्ञान है जिसे गेलोटोलॉजी कहते हैं। उसने इसके बारे में जानकारियाँ खँगाल डालीं। यह तो कहा गया था कि हँसी आती क्यों है लेकिन इसके बारे में कुछ नहीं कहा गया था कि हँसी जाती क्यों है। हँसने के क्या-क्या फायदे हैं यह तो बताया गया था लेकिन न हँसने के क्या-क्या नुकसान हैं, इस पर एक

लाइन नहीं मिली।

एक जगह लिखा था कि मन की किसी जटिल गुफा से हँसी फूटती है। आदमी जब प्रसन्न होता है तो हँसता है। हँसते हुए आदमी तनावमुक्त हो जाता है। हँसी रक्तचाप कम करती है इसलिए यह एक व्यायाम है। लोगों को कोशिश करके हँसना चाहिए। यही वजह है कि शहरों में अब लाफिंग क्लब खुलने लगे हैं जहाँ लोग ठहाके लगाते हैं।

देवेश ने सोचा, वह भी तो लगातार कोशिश कर ही रहा है हँसने की। आज नहीं तो कल, सफलता मिल ही जाएगी। वह हिम्मत नहीं हारेगा।

तभी उसने घनश्याम और प्रिंस कुमार को बत्रा के जन्म-दिन के बारे में बात करते सुना। कल यानी रविवार को बत्रा का बर्थ डे था और वे दोनों बर्थ डे पार्टी में जाने की योजना बना रहे थे।

बत्रा हर साल अपने जन्म दिन पर एक भव्य पार्टी का आयोजन करता था। दफ्तर के लोग उसमें आमन्त्रित नहीं होते थे पर प्रिंस कुमार और घनश्याम बिना बुलाए पहुँच जाते थे। दूसरे दिन वे दफ्तर में पार्टी की चर्चा करते और लोग मुग्ध होकर सुनते। देवेश उनसे दूर रहता। आज तक उसने बत्रो को मुबारकबाद तक नहीं दी थी। लेकन इस बार उसे अपना रवैया बदलना होगा। खामखाँ बत्रा से दूरी बनाए रखने का क्या मतलब है। अगर वह भी पार्टी में चला जाए तो बत्रा को अच्छा लगेगा। वह पार्टी में घनश्याम और प्रिंस कुमार की तरह हँसता हुआ बत्रा के सामने खड़ा रहेगा। बत्रा को यह अहसास कराना जरूरी है कि वह झुक रहा है।

आज सुबह उसकी नींद जल्दी खुल गई थी। उसे पार्टी में जाना है, यह सोचकर वह रोमांचित हो उठा। उसने सोचा आज दिन भर वह प्रैक्टिस करेगा और अपनी देह पर फावड़ा-हथौड़ा मार-मारकर कहीं-न-कहीं से हँसी की धार निकार बाहर करेगा।

संयोग से उसका परिवार जल्दी ही पड़ोस में किसी के यहाँ पूजा में चला गया। देवेश बाथरूम में आईने के सामने अपने अभियान में जुट गया।

अपना चेहरा देखते हुए उसने सोचा इसमें कुछ ऐसा बदलाव लाना चाहिए जिससे दूसरों को हँसी आ सके और उसे भी। सोचते हुए उसकी नजर अपनी मूँछों पर पड़ी। अरे! यह तो पहले सूझा ही नहीं। इन्हें विदा किया जाए। मूँछों से मुक्ति पा लेने से उसका एक अलग ही व्यक्तित्व सामने आएगा।

एक बार उसने कॉलेज के दिनों में मूँछें सफाचट कर ली थीं। उसका खूब मजाक

बनाया गया था। वह सबसे सफाई देता फिरता था कि गलती से कट गई हैं। वह तो दाढ़ी बना रहा था लेकिन रेजर फिसलकर मूँछों पर चला गया।

देवेश ने जल्दी से शेविंग क्रीम निकाली और मूँछों पर लगाने लगा। फिर वह ब्रुश धोकर उन पर रगड़ने लगा।

'काट दूँगा मैं उन्हें। मैं वह सब कुछ काटकर फेंक दूँगा जो मेरे परिवार को खुशहाली से दूर रख रहे हैं। मैं अपने मन-मस्तिष्क से झाड़-झंखाड़ उखाड़ फेकूँगा जिन्होंने मुझे दुनिया में अलग-थलग कर रखा है।' यह सोचते हुए उसने जल्दी-जल्दी रेजर चलाना शुरू किया। उसके चेहरे पर भीतर से एक और चेहरे ने झाँका। एक देवेश को धकियाकर दूसरा देवेश आ खड़ा हुआ। लेकिन देवेश को हँसी नहीं आई। यह नया चेहरा एकदम दयनीय दिख रहा था।

तभी दरवाजे की घंटी बज उठी। वह समझ गया, उसका परिवार आ गया। अब उसके चेहरे की परख होगी।

उसने दरवाजा खोला तो उसकी पत्नी चौंकी। बेटे ने गौर से देखा फिर चिल्लाया, 'बन्दर-बन्दर'। बेटी ने कहा, 'अरे पापा, आप?'

सब अन्दर आए, पत्नी के चेहरे पर थोड़ी नाराजगी दिखी। देवेश ने पूछा, "मैं कैसा लग रहा हूँ?"

"चिरकुट दिख रहे हो और क्या?"

देवेश ने इसे पॉजिटिव कमेंट माना। उसे लगा वह अपने लक्ष्य में कामयाब हुआ है। उसने पत्नी से कहा, "आज मुझे बत्रा के यहाँ जाना है। आज उसका बर्थ डे है न।"

"तो इस तरह कार्टून बनकर जाओगे।"

"हाँ, वह कार्टूनों को ही पसन्द करता है।"

पत्नी कुछ समझ न सकी। वह भुनभुनाती हुई चली गई। वह बच्चों के पास आया।

"क्या मुझे देखकर हँसी आ रही है?" उसने पूछा।

"बहुत आ रही है।" यही कहकर चीनू उसके गाल छूने लगा।

लेकिन रिंकी ने कहा, 'छी।'

देवेश को अन्दाजा नहीं था कि पार्टी शुरू कितने बजे से होती है। वह उतावला हो

रहा था। बत्रा गुड़गाँव में रहता था। वहां उसने एक शानदार कोठी बनवाई थी। देवेश को पता भी नहीं था कि उसके घर से गुड़गाँव जाने में कितना वक्त लगेगा।

वह बार-बार पार्टी के बारे में ही सोच रहा था। बत्रा इतना बड़ा अधिकारी है, उसकी पार्टी भी शानदार और भव्य होती होगी बिल्कुल फिल्मों की पार्टियों की तरह।

कहीं ऐसा न हो कि बत्रा देवेश को देख ही न पाए। फिर जाने का क्या मतलब रह जाएगा।

उसे पार्टी में जल्दी पहुँचना होगा, मेहमानों के आने से पहले ही। पता नहीं, प्रिंस कुमार और घनश्याम उसे देखकर क्या सोचेंगे। कुछ भी सोचें, क्या फर्क पड़ता है। वह उनसे कहेगा कि बत्रा साहब ने खुद उसे बुलाया है।

क्यों न बत्रा को फोन पर पहले ही मुबारकबाद दे दी जाए। आज तक उसने ऐसा नहीं किया था। इन्हीं सब औपचारिकताओं को न निभाने के कारण ही तो बत्रा उसके प्रति दुर्भावना रखता है।

देवेश ने बत्रा का मोबाइल नम्बर मिलाया। लेकिन वह इंगेज्ड आ रहा था। उसने दो-तीन बार डायल किया। हर बार यही सन्देश मिला-"यह नम्बरद व्यस्त है।"

फोन पर बधाई देना बेकार है। बेहतर होगा कि वह सीधे पार्टी में पहुँचकर बत्रा को चकित कर दे। वहाँ वह अधिक-से-अधिक व्यस्त दिखने का कोशिश करेगा। उसे प्रयास करना होगा कि वह बार-बार बत्रा के सामने आए। वह ऐसा कर सकता है। कि किसी वेटर से शराब या सॉफ्ट ड्रिंक वाली ट्रे ले और खास मेहमानों को परोसे।

काश उसे डान्स करना आता। वह अपने बेहतरीन नृत्य से ध्यान अपनी ओर खींच सकता था। मूँछ काटकर जाने का उसका आइडिया एकदम सही है। उसे देखकर लोगों का थोड़ा मनोरंजन होगा।

देवेश फिर आईने के सामने खड़ा हो गया और अपने गाल पर हाथ फेरने लगा। उसने इस बार हँसने की कोशिश नहीं की, आँख मूँदकर सोचा कि वह हँसता हुआ कैसा दिखेगा।

तभी पत्नी ने आकर कहा, "निहारते रहो अपना सुन्दर चेहरा...कब से खाने के लिए आवाज दे रही हूँ, सुन ही नहीं रहे।"

वह खाना खाए आया। जल्दी से खाना खत्म कर बिस्तर पर लेट गया। हर रविवार को वह खाने के बाद एक-दो घण्टे सोया करता था। पर उसे नहींद नहीं आई। जब उसे पत्नी के खर्राटे सुनाई देने लगे तो वह उठा और बाल्कनी में चक्कर काटने

लगा।

शाम चार बजे वह गुड़गाँव के लिए निकल पड़ा। उसने सोचा शाम छह बजे तक पहुँच जाना ठीक रहेगा, पार्टी शुरू होने से पहले। वह सबसे पहले पहुँचकर बत्रा को अपना चेहरा दिखाने को आतुर था। उसने ऑफिस की डायरी से बत्रा का पता नोट कर जेब में रख लिया था।

वह यह नहीं समझ पा रहा था कि उसे तोहफा क्या दिया जाए। उसने बड़ी देर तक इस पर दिमाग खपाया कि आखिर कौन सी नायाब चीज दी जाए जिसे बत्रा लम्बे समय तक याद रखे। फिर उसने यह इरादा ही छोड़ दिया। उसने तय किया कि वह बुके ही भेंट करेगा।

वैसे तो उसे पार्टी–वार्टी से डर लगता था। भीड़ और शोर–शराबा उसे पसन्द नहीं था। उसे लगता था कि इन मौकों पर लोग आत्मीयता का दिखावा करते हैं। वह शादियों में जाने से बचता था। वह आज तक कुछ रिश्तेदारों की शादी में ही गया था, जहाँ जाना उसकी मजबूरी थी। लेकिन अब उसे अपनी यह आदत बदलनी होगी। उसे अब जहाँ भी मौका लगे, वह जाएगा।

देवेश ने दफ्तर में अक्सर लोगों को बत्रा की कोठी के बारे में बात करते सुना था। खासकर प्रिंस कुमार और घनश्याम उसका इस तरह वर्णन करते जैसे वह कोई नायाब नमूना हो। उनका कहना था वह गुड़गाँव का सबसे बढ़िया मकान है।

गुड़गाँव एक नमूना था–आधुनिक भारत का, भूमंडलीकृत भारत का। देश में विदेशी पूँजी का जो बीज बोया गया था उसकी फसल यहाँ दिखने लगी थी।

यहाँ दुनिया के कई बड़े देशों की औद्योगिक इकाइयाँ थीं। यहाँ कॉल सेन्टर थे जिनमें नौजवान रोज दस से पन्द्रह घण्टे तक काम करते थे। वे सात समुन्दर पार के किसी बैंक का हिसाब रखते थे। या दिनभर सैकड़ों लोगों को फोन करते थे। फोन पर वे मशीनी भाषा बोलते थे। वे उस तरह विनम्र होते जिस तरह एक मशीन हो सकती थी। वे उस तरह अनुरोध करते जिस तरह एक कम्प्यूटर अनुरोध कर सकता था। उन्हें उतनी ही तनख्वाह मिलती थी जितने में वे किसी तरह जीवित रह सकें। हफ्ता–दो हफ्ता पर एक जबर्दस्त पार्टी होती थी जिसमें वे जमकर शराब पीते और झूमते–नाचते। ऐसा करते हुए उन्हें लगता वे विश्व ग्राम के नागरिक हैं।

उनकी जेब में सेलफोन का लेटेस्ट मॉडल रहता था। इसी में उनकी आत्मा रहती थी। यह सेलफोन उन्हें औरों से अलग होने के अहसास से भर देता था। इसी के जरिए

वे दुनिया से जुड़े थे। वे इसी के जरिए प्रेम करते और घृणा भी। वे प्रेम करते, सम्भोग करते और अपने अन्तरंग क्षणों का चित्र सेलफोन से उतारकर बाजार में बेच देते। उनके लिए जीवन का हर प्रसंग बिकाऊ था। उनके लिए यह जिन्दगी ही तिजारत थी।

जिन देशों ने अपने संविधान में श्रमिकों के अधिकारों के लिए पन्ने रंग डाले थे उन्होंने यहाँ की अपनी औद्योगिक इकाइयों में मजदूरों के अधिकारों पर ताला जड़ रखा था। उनकी नजर में एक भारतीय मजदूर की कीमत उनके कम्प्यूटर के एक मामूली पुर्जे से भी कम थी। जब मजदूर कुछ बोलता तो उन कम्पनियों के अफसरान चौंक जाते थे, जब मजदूर कुछ माँगते थे, वे भड़क उठते। राज्य की पुलिस उन कम्पनियों के प्राइवेट गार्ड की तरह खड़ी रहती थी, आदेश की प्रतीक्षा में।

उन कम्पनियों के संचालक ईश्वर की तरह थे जो इस देश को स्वर्ग में बदलने आए थे। दिक्कत यह थी कि स्वर्ग का निर्माण मजदूरों के बगैर मुमकिन नहीं था। मजदूर जब सड़क पर उतर आते थे तो पूरे देश में हाहाकार मच जाता था। लगता था अब टूटा, अब टूटा स्वर्ग बनाने का सपना। देश का मध्यवर्ग, छाती पीटने लगता था, औद्योगिक संगठनों के अगुआ, फॉरेन रिटर्न आर्थिक विश्लेषक और पत्रकार स्यापा करने लगते थे कि बचाओ गुड़गाँव को, बचाओ गुड़गाँव को। नाक कट गई देश की, इन क्षुद्र मजदूरों की वजह से।

इस गुड़गाँव में पहुँचकर देवेश थोड़ी देर के लिए ठिठका। उसने जल्दी से अपनी जेब टटोली। उसका परिचय पत्र उसके पास था। उसे राहत मिली। बत्रा के यहाँ, उसे अन्दर जाने से रोका गया तो...।

लेकिन क्यों रोका जाएगा। आखिर वह बत्रा की कम्पनी का स्टाफ है, वह भी मैनेजर। वह उस प्रबन्धक वर्ग का है जिसके ऊपर इस देश को सँवारने का भार है। उसे इस पर गर्व क्यों नहीं है? उसे अपनी वरिष्ठता का अहसास क्यों नहीं है? वह अपने को गया गुजरा आदमी क्यों समझता है?

''मुझे गर्व है कि मैं मैनेजर हूँ।'' भुनभुनाया देवेश। उसे और किन–किन चीजों पर गर्व करना चाहिए? हिन्दू होने पर, सवर्ण होने पर या कुछ और पर...।

उसे बत्रा की तरह सोचना चाहिए। बॉस इज ऑलवेज राइट। उसे भी अपनी पोजीशन को एंज्वॉय करना चाहिए। आज वह हँसेगा, हँसकर रहेगा।

देवेश ने जैसा सोचा था, वैसा ही था बत्रा का मकान, आधुनिक स्थापत्य का नमूना, सामने कई गाड़ियाँ लगी थीं। मतलब यह कि लोग आने लगे थे। बाहर से ही

सजावट दिख रही थी। देवेश बड़ी देर तक खड़ा रहा। उसके भीतर धुकधुकी हो रही थी।

वह साहस करके आगे बढ़ा और गेट तक आया। उसने देखा कि अहाते में आकर्षक वर्दी पहने वेटर इन्तजाम में जुटे हैं। एक तरफ कोने में खाने की चीजें रखने के लिए दो काउंटर बनाए गए थे एक तीसरा काउंटर भी था। बीचोंबीच एक बड़ी–सी टेबल लगाई थी। शायद इसी पर केक काटा जाने वाला था।

वहाँ वेटरों के अलावा और कोई नजर नहीं आ रहा था। देवेश समझ नहीं पाया कि आखिर बत्रा का परिवार रहता कहा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि इस घर में घुसने का कोई और रास्ता है। बड़े लोग घर में कई गेट रखते होंगे।

उसने एक वेटर से पूछा, ''बत्रा साहब कहाँ हैं?''

वेटर ने पहले समझने की कोशिश की फिर बोला, ''मेरे को पता नहीं।''

देवेश ने थोड़ा सकुचाते हुए कहा, ''इस घर में घुसने का कोई और रास्ता है क्या?''

''नहीं जी।'' वेटर ने कहा और प्लेटें निकालने लगा। तभी स्पीकर पर एक धुन बजने लगी।

वह अन्दर चला आया। अब उसका साहस थोड़ा बढ़ा। वह घूम–घूमकर मकान का मुआयना करने लगा। तभी मकान के भीतर से एक आदमी निकला और वेटरों को निर्देश देने लगा। देवेश ने सोचा यह बत्रा का नौकर हो सकता है। उसने उससे पूछा, ''बत्रा साहब कहाँ हैं?''

''साहब मन्दिर गए हैं।'' उसने जवाब दिया।

तो क्या बत्रा जन्मदिन के अवसर पर पूजा करने गया है।

''आप कहाँ से आए हैं?'' उस आदमी ने पूछा।

''दफ्तर से। मैं उनके ऑफिस में...मेरा मतलब है उनके अंडर काम करता हूँ।''

''बैठिए।'' यह कहकर जब उसने कुर्सी की ओर इशारा किया तो देवेश को अच्छा लगा। उसने उत्सुकता जाहिर की, ''दफ्तर से कुछ और लोग भी आए हैं क्या?''

''पता नहीं।'' यह कहकर वह आदमी चला गया। देवेश बैठा नहीं। वह खड़ा इधर–उधर देखता रहा। इस बीच रोशनी जला दी गई। संगीत थोड़ा और तेज हो गया।

तभी गेट पर थोड़ी गहमागहमी हुई।

एक बड़ी कार आकर रुकी। उसमें से एक लम्बा–चौड़ा आदमी निकला। उसने सिल्क का कुर्ता और धोती पहन रखी थी। उसके गले में एक चेन लटक रही थी जिसकी चमक बता रही थी कि वह सोने की थी। कार के आगे से एक खद्दरधारी उतरा जिसके चेहरे पर रुक्षता थी। दोनों तेजी से अन्दर घुसे। पीछे से एक पुलिस वैन रुकी। एक पुलिस वाला भी उनके साथ चला।

कहीं यह कोई मन्त्री–वन्त्री तो नहीं! बत्रा की हर तरह के लोगों से जान–पहचान थी। शायद इसीलिए कम्पनी का मालिक उसे इतना महत्त्व देता था। इस साल उसकी तनख्वाह दोगुनी कर दी गई थी।

ऐसे–ऐसे दो–चार लोग और आ गए तो देवेश को बत्रा पहचानेगा भी नहीं। वह बेकार ही चला आया। उसका मिशन कामयाब होने वाला नहीं है।

देखते–ही–देखते दो–तीन गाड़ियाँ और रुकीं। कुछ लोग उतरे। हँसती–खिलखिलाती महिलाएँ आईं गहनों से लदी हुई, तिलमिला देनेवाली सुगन्ध फेंकती हुई। कुछ और खद्दरधारी आए। एक साधु भी कुछ चेलों के साथ आया। सब आते और न जाने कहाँ अन्दर गुम हो जाते।

देवेश अपना बुके उठाए आँखें फाड़े उन्हें देखता रहा। खाना लग चुका था। दूसरी आर गिलास और बोतलें भी रख दी गई थीं। बत्रा कहाँ है? अगर वह दिख जाए तो देवेश बुके थमाकर निकल लेगा।

उसी समय बात्रा की गाड़ी सामने आकर रुकी। देवेश जल्दी से उस ओर बढ़ा। गाड़ी से पहले एक महिला उतरी फिर बत्रा निकला। देवेश ने बत्रा की ओर बुके बढ़ा दिया और कहा, ''सर, जन्म दिन बहुत–बहुत मुबारक हो।''

बत्रा थोड़ा असमंजस में दिखा। उसने बुके ले लिया और आगे बढ़ने लगा। फिर ठहरा, मुड़कर उसने देवेश को देखा और जोर से बोला, ''अरे यार कविजी, तुम हो।''

देवेश को लगा जैसे उसने कोई बड़ा किला फतह कर लिया हो।

''हैप्पी बर्थ डे।'' उसने भाव–विभोर होकर कहा। बत्रा ने जोर का ठहाका लगाया और कहा, ''यार, ये तुमने क्या हुलिया बनाया लिया है। मैंने तो पहचाना ही नहीं।'' फिर उसने उस महिला से कहा, ''ज्योति, ये हैं हमारे कवि जी।''

देवेश समझ गया कि वे मिसेज बत्रा हैं। उसने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम

किया। मिसेज बत्रा ने भी हाथ जोड़े और मुस्कुराईं। फिर वे तेजी से अन्दर घुस गईं।

बत्रा देवेश के कन्धे पर हाथ रखकर चलने लगा। देवेश फूला नहीं समा रहा था। उसे उम्मीद नहीं थी कि इतनी जल्दी इतनी बड़ी सफलता मिल जाएगी। वह तो यह सोचकर डरा हुआ था कि बत्रा उसकी ओर ध्यान देगा ही नहीं, लेकिन वह तो बड़ी आत्मीयता से उससे मिल रहा था।

बत्रा उसे अन्दर ले आया। अन्दर एक बड़ा हॉलनुमा कमरा था, जिसमें सोफे लगे थे। जो लोग अभी बाहर से आए थे, वे सब वहाँ बैठे थे।

बत्रा को देखते ही सब एक साथ उठे, ''बधाई हो बधाई हो, हैप्पी बर्थ डे'' का स्वर गूँज उठा।

देवेश की आँखें प्रिंस कुमार और घनश्याम को ढूँढ़ रही थीं। वे शायद अभी नहीं आए थे या इस बार वे नहीं आनेवाले थे। अच्छा है, वे न आएँ। देवेश ने इस बार बाजी मार ली।

वह यह सोच ही रहा था कि उसने देखा कि प्रिंस कुमार और घनश्याम अन्दर से एक बड़े ट्रे में केक पकड़े चले आ रहे हैं। तो ये कमबख्त पहले से ही घुसे हुए थे...। देवेश सन्न रह गया। लेकिन उसने तत्काल अपने को सामान्य बनाया और बत्रा से पूछा, ''सर, मेरे लायक कोई सेवा हो तो बताएँ।''

''अरे नहीं-नहीं। एंज्वॉय, एंज्वॉय।'' यह कहकर बत्रा उस धोती-कुर्ता वाले आदमी से बातें करने लगा, फिर कुछ देर बाद उसने देवेश को इशारे से बुलाया और उस आदमी से कहा, ''ये हैं कवि जी, आप ही के स्टेट के हैं। हमारे दफ्तर में काम करते हैं।''

''अच्छा,'' उस धोती-कुर्ते वाले ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें नचाते हुए कहा, ''तो ये कवि हैं, हो जाए कोई कविता-उविता।''

देवेश ने सोचा कि वह साफ-साफ कह दे कि वह कवि नहीं है। बत्रा उसे यूँ ही कवि कहता है। लेकिन अचानक उसके जेहन में यह विचार कौंधा कि वह कविता सुनाकर अपनी धाक जमा सकता है। अगर उसने मेहमानों का मनोरंजन कर दिया तो बत्रा खुश हो जाएगा।

मगर वह कौन-सी कविता सुनाए? कॉलेज के दिनों में उसने कुछ तुकबन्दी की थी पर वह सब अब याद करना मुश्किल था। पढ़ाई के दौरान उसका साहित्य से ताल्लुक बना हुआ था लेकिन अब पढ़ाई-लिखाई से नाता टूट गया था।

यहाँ इस तरह के लोगों के बीच कैसी कविताएँ सुनाई जा सकती हैं। वह दिमाग पर जोर देने लगा। उसने वर्षों पहले पढ़ी कुछ पुरानी शायरी याद करने की कोशिश की। इधर-उधर के शब्द उठाकर जोड़-तोड़कर वह पंक्तियाँ गढ़ने लगा।

सब लोग अहाते में आ गए थे। बीच वाली टेबल पर केक रख दिया गया। लेकिन देवेश का इन सब चीजों पर ध्यान नहीं था। वह शब्दों के जंगल में दौड़ रहा था।

केक काटा गया। तालियाँ बजीं, खिलखिलाहट गूँजी, मुबारकबाद देने का सिलसिला चला लेकिन देवेश पंक्तियाँ गढ़ने की कवायद कर रहा था। आज उसे ''कविजी'' होना प्रमाणित करना था।

लोग कुर्सियों पर बैठने लगे। शराब परोसजी जाने लगी। देवेश को आखिरकार कुछ लाइनें सूझ गईं। वह बत्रा के पास आकर बोला, ''सर मैं एक कविता सुनाना चाहता हूँ।''

बत्रा कुछ कहता उससे पहले ही धोती-कुर्ते वाले ने कहा, ''हो जाए हो जाए।''

बत्रा ने ऊँची आवाज में कहा, ''लेडिज एंड जेंटलमैन, मेरे कुलीग मिस्टर देवेश एक कविता सुनाना चाहते हैं।''

सारे लोग एक घेरा बनाकर खड़े हो गए। इतने लोगों की नजरें अपने ऊपर पाकर देवेश थोड़ा घबराया। उसने गौर किया कि घनश्याम और प्रिंस कुमार के चेहरे का रंग उड़ा जा रहा है। इससे उसका उत्साह बढ़ा। उसने कहा, ''लेडिज एंड जेन्टलमैन, मैं अपने बड़े भाई, गुरु और बॉस मिस्टर बत्रा को कविता में मुबारकबाद देना चाहता हूँ।''

फिर उसने दो-तीन बार गला साफ किया और सुनाने लगा–

सितारों से भी आगे हैं तेरी मंजिल
हजारों साल यह सजती रही महफिल
दुश्वारियाँ हों दूर, बढ़े तेरी आँखों का नूर
बढ़े दौलत बढ़े शोहरत
गमों को जीत लेने की
मिले हर पल नई ताकत

फरिश्ते दे रहे दुआ
रहो सलामत रहो सलामत
ऐ मेरे रहनुमा
जन्म दिन हो मुबारक
मुबारक मुबारक!

लोगों ने तालियाँ बजाईं। बत्रा ने देवेश की पीठ थपथपाई। तभी भीड़ में से किसी ने कहा, ''एक और।'' कुछ महिलाओं ने फरमाइश की, 'वन्स मोर।'

देवेश धर्मसंकट में पड़ गया। इतनी मुश्किल से उसने एक कविता गढ़ी थी। अब क्या करे वह? उसने बिना सोचे-विचारे कहना शुरू किया–

तेरे साये को झुक-झुक सलाम करता हूँ
अपनी हर साँस को तेरे नाम करता हूँ।
तेरे हर रुख में एक इशारा है
तेरे हुक्म पे ही अपना काम करता हूँ।
हर गम में तू सहारा है
तू कहे तो दिन तू कहे तो शाम कहता हूँ।

इस बार पहले से भी ज्यादा शाबाशी मिली। उसे मन-ही-मन हँसी आई। इन दो कौड़ी की कविताओं ने कमाल कर दिया था। ये घटिया कविताएँ उसे मुसीबत से निकालने वाली थीं। वे उसकी तरक्की का रास्ता खोलने जा रही थीं।

सारे मेहमानों के बीच देवेश अचानक लोकप्रिय हो उठा। घनश्याम और प्रिंस कुमार एक कोने में ''कर्मचारी'' की तरह खड़े नजर आ रहे थे वहीं देवेश हाई प्रोफाइल लोगों में घुल-मिलकर बातें कर रहा था। किसी ने उससे कहा, ''आइए-आइए आप भी लीजिए। कवि लोग तो इसके शौकीन होते हैं।''

देवेश के जी में आया कि वह भी गिलास उठा ले। मगर परिणाम सोचकर वह डर गया। उसने आज तक नहीं पी थी। पीने से पता नहीं क्या गड़बड़ हो जाएगी। उस सज्जन ने आग्रह किया, ''पीजिए-पीजिए।''

बत्रा ने उसे बचा लिया, ''कविजी शराब नहीं पीते, इन्हें जूस पिलाइए।''

लेकिन बगैर पीऐ ही देवेश के ऊपर नशा चढ़ने लगा। यह सफलता का मद था। उसे उम्मीद से कहीं ज्यादा कामयाबी हाथ लगी थी। वह इस अवसर का भरपूर इस्तेमाल करना चाहता था।

लोग टुकड़ों-टुकड़ों में बँटकर शराब पी रहे थे, गप्प लड़ा रहे थे। देवेश किसी एक ग्रुप के पास चला जाता और बातचीत में शामिल हो जाता। गप्प करते-करते सब हँस पड़ते थे। देवेश ने सोचा, उसे भी हँसना चाहिए। अगर वह नहीं हँसेगा तो उसका गलत अर्थ निकाला जाएगा। उसे हमेशा की तरह हँसने में कष्ट हो रहा था लेकिन उत्साह में वह उस तकलीफ को भूल गया। फिर उसे लगा जैसे हँसने के लिए अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ रहा है।

लेकिन थोड़ी देर बाद उसे अहसास हुआ कि उसके प्रति लोगों का व्यवहार बदल रहा है। वह ज्यों ही हँसता लोग हँसना बन्द कर उसे देखने लगते फिर बात बदल देते या इधर-उधर सरक जाते।

देवेश एक ग्रुप से दूसरे ग्रुप में चला गया। वहाँ भी ऐसा ही हुआ। फिर वह महिलाओं की तरफ बढ़ा। औरतों ने भी मुँह फेर लिया। वह जब कुछ बोलने लगा तो एक महिला तेजी से भागी। देवेश ने देखा कि एक आदमी बत्रा को उसकी ओर ऊँगली दिखाकर कुछ कह रहा है। देवेश ने अपने को ऊपर से नीचे तक देखा। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसा क्या हो गया है कि लोगों का नजरिया उसके प्रति बदल चुका है। वह तो एकदम सन्तुलित है, बाकी लोग तो शराब पीकर तरह-तरह की हरकतें कर रहे हैं, उन पर तो किसी को आपत्ति नहीं है। वह बत्रा के पास पहुँचा और बोला, ''सर मजा आ रहा है। ऐसी पार्टी तो हमने देखी ही नहीं।'' फिर जब वह हँसा तो बत्रा की मुख मुद्रा बदल गई। बत्रा कुछ बोलता, उससे पहले ही एक सिक्युरिटी गार्ड ने उसके कान में कुछ कहा। वह गेट की तरफ चला गया।

देवेश समझ नहीं पा रहा था कि माजरा क्या है। कुछ देर पहले उसकी कविता पर दाद देनेवाले लोग उससे किनारा क्यों करने लगे हैं। अभी कुछ देर पहले जिस आदमी ने उसे अपना विजटिंग कार्ड देकर घर पर आने का निमन्त्रण दिया था, वह भी उसे देखते ही मुँह क्यों फेर रहा है।

आखिर वह किससे पूछे। घनश्याम से या प्रिंस कुमार से? ये दोनों तो जल-भुने हुए हैं। ये सही बात थोड़े ही बताएँगे। वह उस आदमी के पास गया जिसने उसे विजटिंग कार्ड दिया था।

देवेश ने पूछा, ''मुझसे कोई गलती हो गई है क्या?''

''नहीं–नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।'' यह कहकर वह आदमी दूसरी ओर चला गया। उसकी बातों से बेरुखी साफ झलक रही थी।

देवेश ने सोचा, वह खामखाँ परेशान है। यह उसका भ्रम भी हो सकता है कि लोग उससे कट रहे हैं। आखिर वह इतना महत्त्वपूर्ण तो है नहीं कि हर आदमी उसी पर ध्यान देता रहे।

क्यों न एक कविता और सुनाई जाए। ऐसा करके वह मेहमानों का ध्यान फिर खींच सकता है। लेकिन क्या सुनाए? वह दिमाग पर जोर देने लगा। उसे पता रहता कि यहाँ कविता सुनानी पड़ेगी ते वह पाँच–दस कविताएँ रटकर आता।

तभी उसने देखा कि कुछ महिलाएँ नाच रही हैं और लोग उन्हें घेरे खड़े हैं। वह भी वहाँ पहुँचा। सब ताली बजा–बजाकर हँस रहे थे। उसने भी ताली बजाई और ज्यों ही हँसने की कोशिश की, उसे लगा उसके सीने में कुछ फँस रहा है। उसने आँखें बन्द कर लीं और पूरी ताकत लगाकर जोर का ठहाका लगाया।

उसने आँखें खोलीं तो देखा कि नाचने वाली महिलाएँ सहमी हुई खड़ी हैं और लोग खुसुर–फुसुर कर रहे हैं। उसके कन्धे पर किसी ने हाथ रखा। उसने घूमकर देखा। प्रिंस कुमार खड़ा था। उसने इशारे से अपने साथ चलने को कहा। एक कोने में ले जाकर वह फुसफुसाया, ''भाई साहब, खाना शुरू हो चुका है। आप खा क्यों नहीं लेते?'' आपको दूर जाना है।

''मेरी चिन्ता मत करो यार।'' देवेश ने कहा और वापस वहीं चला आया। नृत्य फिर शुरू हो चुका था। इस बार कुछ पुरुष भी शामिल थे। देवेश ने महसूस किया कि नृत्य के दर्शक नृत्य से ज्यादा उसे देख रहे हैं। कोई सीधा–सीधा तो कोई तिरछी नजरों से।

देवेश ने देखा कि घनश्याम उसकी ओर चला आ रहा है। वह वहाँ से जाने लगा। घनश्याम भी उसके पीछे–पीछे चला आया। उसने उसे पकड़कर कहा, ''बत्रा साहब ने कहा है कि आप यहाँ से चले जाएँ।''

देवेश समझ गया कि यह प्रिंस कुमार व घनश्याम की साजिश है उन्हें यह बर्दाश्त नहीं हो पा रहा कि वह बत्रा की नजर में चढ़े। उसने घनश्याम को झिड़क दिया, ''क्या बात कर रहे हो। बत्रा साहब ऐसा क्यों कहंगे?''

''उन्होंने खुद मुझे बुलाकर कहा है कि मैं आपको जाने के लिए बोलूँ।''

''ठीक है, मैं बत्रा साहब से पूछता हूँ।'' यह कहकर देवेश भीड़ की तरफ बढ़ा।

वह बत्रा को खोजने लगा। पर वह दिखा नहीं। थोड़ी देर बाद मिसेज बत्रा आईं। देवेश ने सोचा उनसे गर्मजोशी से मिलना चाहिए। वह उनके सामने जाकर खड़ा हो गया।

मिसेज बत्रा नृत्य देखने लगीं, तभी एक आदमी ने नाचते–नाचते अपनी टोपी हवा में उछाली, फिर नाटकीय अन्दाज में उसके नीचे सिर ले जाकर उसे पहना। इस पर मिसेज बत्रा जोर से हँसी। देवेश भी जोर लगाकर हँसा। मिसेज बात्रा तमतमा उठीं, ''ये क्या कर रहे हैं आप?''

यह कहकर वे चली गईं। कुछ देर बाद मुस्टंडा सा आदमी देवेश के पास आया और कान में बोला, ''आपको बत्रा साहब बुला रहे हैं। आइए मेरे साथ।''

देवेश उस आदमी के पीछे–पीछे चलने लगा। वह अन्दर आया। हॉल को पार करने के बाद एक कॉरीडोर से होकर वह देवेश को एक छोटे–से कमरे में ले गया।

''बैठिए।'' उसने कहा।

''यहाँ!'' देवेश को हैरानी हुई।

वह मुस्टंडा कुछ क्षण देवेश को देखता रहा फिर झटके से बाहर निकला और दरवाजा बन्द कर दिया।

''खटाक'' की आवाज आई यानी उसने बाहर से कुंडी लगा दी थी।

अरे! देवेश समझ गया कि उसे इस कमरे में बन्द कर दिया गया है। लेकिन क्यों? उसकी आँखों के सामने कुछ फिल्मों के दृश्य तैर गए जिसमें कोई माफिया डॉन किसी को मिलने के लिए बुलाता है और इसी तरह कमरे में बन्द कर देता है। क्या बत्रा उसी तरह का खतरनाक आदमी है? वह चाहता क्या है?

देवेश ने चारों तरफ नजरें दौड़ाई। यह स्टोर रूम लग रहा था। दो पुरानी कुर्सियाँ थीं और एक टेबल। एक कोने में अखबार का बंडल पड़ा था। एक तरफ कुछ टूटे खिलौने भी थे। प्लास्टिक के कुछ जार रखे थे। एक पुराने मॉडल का टी.वी. था जिस पर धूल जमी थी।

करीब आधा घंटा बीत गया लेकिन बत्रा नहीं आया न उसका कोई सन्देश। कहीं उसे जान–बूझकर तो नहीं बन्द किया गया है? हो सकता है यह बात बत्रा को न मालूम हो। कहीं यह प्रिंस कुमार या घनश्याम की बदमाशी तो नहीं है। लेकिन इस घर में उनकी क्यों चलेगी। कहीं मिसेज बत्रा...। वे उससे नाराज भी हो गई थीं। पर क्यों? उसने तो कोई अभद्रता नहीं की थी उनके साथ। वह तो उनकी हँसी में शामिल था।

यह अपमानित करने का नया तरीका तो नहीं...। हो सकता है यह सब बत्रा के

निर्देश पर ही हुआ हो। तो क्या उसकी प्रसन्नता और वह सब कुछ जो थोड़ी देर पहले हुआ, एक नाटक था?

जो भी हो, बत्रा से साफ–साफ बात कर लेनी चाहिए। यह सोचकर उसने अपनी पैंट की बाईं जेब में हाथ डाला। अरे! मोबाइल तो है ही नहीं। उसने दाईं जेब में हाथ डाला। वहाँ भी नहीं था मोबाइल। फिर उसने शर्ट की जेब पर हाथ डाला। वहाँ भी नहीं...। वह फर्श पर इधर–उधर देखने लगा।

आखिर कहाँ चला गया मोबाइल। उसे अच्छी तरह याद है, वह घर से मोबाइल लेकर चला था। कहीं अहाते में तो नहीं गिर गया या किसी ने बस में तो नहीं निकाल लिया।

देवेश की नसें फड़कने लगीं और साँस तेज चलने लगी। वह जोर से चिल्लाया, ''मुझे बाहर निकालो।'' उसने जोर से दरवाजे पर चार–पाँच लात जमाईं। वह खिड़की की तलाश करने लगा। एक परदे से खिड़की छिपी थी। नीचे उसकी सिटकनी थी जो बड़ी सख्त हो गई थी। उसमें जंग भी लगा था। देवेश ने उसे ऊपर उठाने की कोशिश की पर उसके हाथ में एक अजीब थरथराहट समा गई। उसने ऊपर देखा। उसमें रोशनदान भी था। उसने जल्दी–जल्दी टेबल पर एक कुर्सी रखी फिर उस पर चढ़ा और किसी तरह पंजों के बल खड़ा होकर रोशनदान तक पहुँच सका।

बाहर दूर–दूर तक पेड़ नजर आ रहे थे। दरख्तों के पास कुछ ऊँची इमारतों में रोशनी झिलमिला रही थी। यह बत्रा के मकान का पिछवाड़ा था।

देवेश ने किसी तरह रोशनदान में अपना मुँह लगाया और जोर से चिल्लाया। उसकी आवाज उन पेड़ों के बीच जाकर कहीं खो जा रही थी। वह नीचे आ गया।

उसने खिलौने देखे तो उसे अपने बच्चे याद आ गए। ये काफी महँगे खिलौने थे जो खराब हो चुके थे। इन्हीं खिलौने के लिए बच्चे जिद करते थे पर वह खरीद नहीं पाता था। वह उन्हें किसी तरह सस्ते खिलौनों के लिए राजी कर लेता था।

उसके बच्चों ने खाना खा लिया होगा। उनकी मम्मी उन्हें सो जाने की हिदायत दे रही होगी पर चीनू सो नहीं रहा होगा। वह देवेश का इन्तजार कर रहा होगा। वह उसके बगैर सो नहीं पाता।

देवेश का ध्यान बाहर की आवाज पर गया। संगीत की हल्की आवाज आ रही थी। बीच–बीच में ठहाके और लोगों की बातचीत भी सुनाई पड़ती थी।

यह उसके जीवन का आखिरी दिन भी हो सकता है। बत्रा उसे मारकर पीछे के

जंगल में फेंक दे तो...। किसे पता चलेगा? देवेश जैसे लोगों की चिन्ता किसे है? इस शहर में उसके परिवार के अलावा उसका अपना है ही कौन?

बाहर से किसी की ऊँची आवाज आने लगी जैसे कोई किसी को डाँट रहा हो। देवेश ने सुनने की कोशिश की। दो–तीन लोग चिल्ला रहे थे। ''बास्टर्ड...फक यू फक यू'' जैसे शब्द छन–छन कर आ रहे थे।

अँधेरा छा गया। तो क्या यहाँ भी लाइट जाती है। ऐसा तो नहीं कि सिर्फ इस कमरे की लाइट जान–बूझकर काट दी गई हो। उसने फिर चीखना चाहा लेकिन उसके मुँह से आवाज न निकल सकी। उसके पेट में अजीब कुड़कुड़ाहट होने लगी थी। चक्कर भी आ रहा था।

कितना भयावह होता है वह क्षण जब जीवन पर पूरी तरह अँधेरा छा जाता है, उम्मीद के रहे–सहे निशान भी खत्म हो जाते हैं।

उसे लगा वह कई प्रकाश वर्ष दूर नक्षत्रों के पास से अपने को देख रहा है–एक आदमी सड़क पर बस का इन्तजार करता हुआ–एक आदमी अपनी पत्नी को तनख्वाह थमाता हुआ–एक आदमी अपने बच्चों की उँगली पकड़ उन्हें स्कूल पहुँचता हुआ–एक आदमी अपने बॉस के सामने सिर झुकाए खड़ा हुआ–एक आदमी हँसने की कोशिश करता हुआ–एक आदमी छह गुना आठ के कमरे में दम तोड़ता हुआ।

लाइट आ गई। देवेश ने आँखें खोलीं। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब सपना है या हकीकत। तभी कुछ पैरों की आहट सुनाई पड़ी। कुछ लोग बातचीत कर रहे थे। उनमें एक महिला का स्वर भी शामिल था।

दरवाजा खुला। सबसे पहले वही मुस्टंडा दिखा जिसने उसे बन्द किया था। उसके पीछे एक और मुस्टंडा, बिल्कुल उसी के जैसा, खड़ा था। देवेश ने अपने को परिस्थितियों के हवाले खड़ा कर दिया था।

पहले मुस्टंडे ने कहा, ''आइए, चलिए।'' दोनों मुस्टंडों ने उसका एक–एक हाथ पकड़ लिया जैसे उसे पेशी के लिए ले जाया जा रहा हो। बाहर कोई महिला नहीं थी। हो सकता है वह चली गई हो।

देवेश से चला नहीं जा रहा था। मुस्टंडे उसे सहारा दे रहे थे। वे उसे अहाते में लेकर आए जहाँ पार्टी चल रही थी लेकिन अब वहाँ मेहमान नहीं दिखाई दे रहे थे, सिर्फ बैरे प्लेट समेट रहे थे।

देवेश को बाहर लाया गया। एक गाड़ी में उसे धकेलकर दरवाजा बन्द कर दिया

गया। उसमें ड्राइवर पहले से बैठा था। दरवाजा बन्द कर मुस्टंडे चले गए। गाड़ी चल पड़ी। पता नहीं देवेश कहाँ जा रहा है। हो सकता है उसका अपहरण किया जा रहा हो। उसे किसी अज्ञात स्थान पर ले जाया जा रहा हो। सम्भव है, उसे खत्म करने का नया तरीका ढूँढ़ा गया हो।

देवेश ने किसी तरह अपने को सँभाला और बोला, ''कहाँ ले जा रहे हो?''

''आपको बाहर तक छोड़ देता हूँ, वहाँ से आपको बस मिल जाएगी, आप घर चले जाइएगा।'' ड्राइवर ने जवाब दिया।

घर! देवेश को विश्वास नहीं हुआ। क्या उसे छोड़ दिया गया? वह रिहा हो गया? क्या सचमुच?

उसने अपने घर के बारे में सोचा उसका इन्तजार करते-करते सब लोग सो गए होंगे। उन्होंने उसके मोबाइल पर कई बार रिंग किया होगा, फिर निराश हो गए होंगे।

''साहब, एक बात पूछूँ...'' ड्राइवर ने थोड़ा सकुचाते हुए कहा।

''पूछो।'' देवेश बोला।

''आप जान-बूझकर उस तरह कर रहे थे?''

''किस तरह?'' देवेश हैरत में पड़ गया।

''आप कभी कुत्ते की तरह भौंकने लगते थे कभी सुअर की तरह गुर्राने लगते थे।''

''क्या! ऐसा मैंने कब किया?'' देवेश जैसे आसमान से गिरा।

''उस समय जब सब लोग नाच रहे थे और एक आदमी टोपी से खेल दिखा रहा था।''

''मैं तो हँस रहा था।''

''नहीं, शुरू में तो लगा कि आप हँस रहे हैं लेकिन फिर आपके मुँह से भयानक आवाज आने लगी। कुछ लोगों ने कहा कि आप नशे में ऐसा कर रहे हैं। फिर पता चला कि आपने तो पी भी नहीं है। आपके दफ्तर के एक आदमी ने कहा कि आप थोड़ा खिसके हुए हैं। लेकिन बत्रा साहब ने तो कुछ और ही कहा।''

''क्या कहा?'' देवेश की उत्सुकता बढ़ी।

''वे तो यह कह रहे थे कि आप जान-बूझकर ऐसा कर रहे हैं। आप उनकी पार्टी

खराब करने के लिए आए थे, क्योंकि आप उनसे बदला लेना चाहते थे। उन्होंने आपका प्रमोशन नहीं किया इसलिए।''

''लेकिन मुझे घर में क्यों बन्द कर दिया?''

''आपको घर में बन्द कर दिया?'' ड्राइवर के चेहरे पर आश्चर्य उभरा फिर उसने कुछ याद करते हुए कहा, ''बत्रा साहब ने आपके दफ्तर के उस आदमी को कहा था कि वह आपको किसी तरह से वहाँ से हटाए लेकिन उसने बताया कि आप जाने का नाम नहीं ले रहे हैं। फिर मैडम ने कहा कि आपको कहीं और बिठा दिया जाए। लेकिन उन्होंने घर में बन्द करने को नहीं कहा होगा। बत्रा साहब बहुत नाराज हो गए हैं आपसे।''

यह कहकर उसने गाड़ी रोक दी और उँगली से दूसरी ओर इशारा करते हुए कहा, ''वहाँ से दिल्ली के लिए बस मिल जाएगी।''

देवेश बिना कुछ कहे उतर आया। ड्राइवर ने हाथ हिलाया और गाड़ी मोड़ ली। देवेश गाड़ी को जाते हुए देखता रहा।

फिर उसने अपने बारे में सोचा। क्या वह एक भयानक हँसी हँस रहा था। कुत्ते की तरह भौंकते और सुअर की तरह गुर्राते वह कैसा लग रहा होगा। लोग उससे डर रहे होंगे।

यह सोचकर उसे हँसी आ गई। उसने पूरी ताकत लगाकर हँसी रोकने की कोशिश की। ऐसा करते हुए उसके आँसू निकल आए। वह उन्हें रोक नहीं पाया।

संजय कुंदन

पेशे से पत्रकार संजय कुंदन का जन्म 7 दिसंबर, 1969 को पटना, बिहार में हुआ। संजय मूलत: कवि हैं, और कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कविता के लिए भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार और हेमन्त स्मृति सम्मान मिल चुका है। दो कविता संग्रह 'कागज के प्रदेश में' और 'चुप्पी का शोर' प्रकाशित हो चुका है। कविता की एक अच्छी खासी पारी खेलने के बाद अचानक कहानी लिखना शुरू कर दिया। कहानियों ने भी अपनी एक अलग जगह बनाई। पहला कहानी संग्रह 'बॉस की पार्टी' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। एक उपन्यास 'टूटने के बाद' भी लिख चुके हैं। यह भी भारतीय ज्ञानपीठ से ही प्रकाशित है।

इतवार नहीं

–कुणाल सिंह

दफ्तर के लिए सुबह आठ बजे घर से निकलो और लौटते-लौटते भी रात के आठ बज ही जाते हैं। मतलब आठ घण्टे की नौकरी बजाने के लिए इधर दो और उधर दो घंटे आने-जाने में। लेकिन रोज-रोज के इस चार घंटे का कोई हिसाब नहीं, गिनती नहीं। ये चार घंटे मेरे खुद के हिस्से से फालतू गए–मेरी जिंदगी के प्रोविडेण्ट फंड से रोज-रोज खुदरा निकल कर खर्च हो जाने वाले, बिना मतलब, यों ही। मुझे सिर्फ आठ घंटे की तनख्वाह मिलनी है। मतलब मैं तब तक नौकरी में उपस्थित नहीं जब तक सुबह के दस बजे अटेन्डेन्स कार्ड पंच न कर दूँ और मेरी नौकरी वहीं खत्म हो जाती है जब शाम को छह बजे मैं दुबारा कार्ड पंच करके बाहर आ जाता हूँ। दस से छह के बीच नौकरी करने के लिए मैं आठ से आठ तक घर के दृश्य से गायब रहता हूँ। दस से छह के बीच अगर मुझे हार्ट अटैक हो जाए, मैं मर जाऊँ तो कम्पेनशेसन ग्राउंड पर मेरी पत्नी को नौकरी लग सकती है। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरी मृत्यु इसी बीच हो, न कि आते या लौटते समय लोकल ट्रेन में या सड़क दुर्घटना में आदि। अगर रात आठ के बाद और सुबह आठ से पहले मैं दम तोड़ता हूँ तो यह मौत मेरे खुद के भरोसे होगी कि मैंने इतना कमा के रख दिया है कि मेरे बाद मेरी पत्नी को दूसरों का झाड़ू बरतन करने की नौबत न आए या कल्पना कीजिए मेरी एक बेटी हो तो उसकी पढ़ाई लिखाई बदस्तूर चलती रहे बस इतना।

मारे गुस्से के कभी-कभी कल्पना करता हूँ कि सोमवार से लगा कर शनिवार तक, हफ्ते के छह दिन एक जैसे होते हैं। सुबह साढ़े छह का अलार्म बजना, निबटानादि के बाद नाश्ता, लंच बॉक्स, घर से जल्दी-जल्दी निकलना, आठ बत्तीस

की कल्याणी फास्ट–कहाँ तक गिनाऊँ! यह सब रोज-रोज इतना एक सा है कि अलग से याद नहीं आता। नशे की हालत में रहता हूँ। दफ्तर से लौटते हुए खूब इच्छा हो कि कुछ खाना है लेकिन सुझायी ही नहीं पड़ता कि क्या। तभी लोकल की भीड़ चीरता हुआ बगल से एक मूंगफली वाला गुजरता है तो याद आता कि मूंगफली ही तो खाने की इच्छा हो रही थी तब से। खरीद कर एक दाना मुँह में डालता हूँ तब अहसास होता है कि कितना गलत था। लेकिन तब तक देर हो चुकी होती है। चुपचाप एक-एक दाना अनिच्छापूर्वक टूँगे जाता हूँ। यह भी याद नहीं आता कि अगर अच्छी न लगे तो मूंगफली फेंकी जा सकती है।

लेकिन जिन्दगी मूंगफली का दाना नहीं। आदमी को हर हाल में जीने का ढब बनाए रखना चाहिए। लेकिन कभी-कभी तो गुस्सा आ ही जाता है। किस पर, पता नहीं। लौटते समय कभी-कभी मन करता है कि चलती ट्रेन से। ऐसा नहीं है कि इतना दुखी हूँ कि खुदकशी जैसा कुछ। बस यों ही। पहले ऐसा नहीं सोचता था, लेकिन साल भर पहले दफ्तर के कैशियर देवाशीष बाबू ने खुदकशी कर ली, तब से, पता नहीं, लगता है कि एक रास्ता इधर को भी जाता है जैसा कुछ।

कल्याणी फास्ट कभी रास्ता नहीं बदलती। आठ बत्तीस में उसका कल्याणी और नौ पैतीस चालीस तक सियालदह में होना तय है। बीच के छोटे स्टेशनों, हाल्टों पर वह नहीं रुकती। उन हाल्टों के आधेक कि.मी. इधर-उधर उसकी स्पीड कम हो जाए भले, लेकिन ऐन हाल्ट को वह इतनी रफ्तार से रौंदती हुई बढ़ जाती है कि क्या बताऊँ मन खुश हो जाता है। ऑफिस टाइम में उन छोटे स्टेशनों, हाल्टों पर भी भीड़ होती है लेकिन उसके लिए हर स्टेशन पर रुक-रुक कर बढ़ने वाली तमाम लोकलें हैं। मसलन मैं एक सीनियर प्रूफरीडर हूँ, दफ्तर में और भी कई प्रूफरीडर हैं जिनका पे स्केल मुझसे कम है। मैं अकसर गेट बार से लटकता हुआ उन स्टेशनों पर खड़े लोगों के भागते अक्स को देखता हूँ और मेरे मुँह से बेसाख्ता कुछ अफसोसिया शब्द निकल जाते हैं–ओह, बिचारे, ये छोटे स्टेशन वाले! ऐसे में हम कल्याणी फास्ट वाले खुद को ज्यादा रुतबे वाले, आम स्टेशन के लोगों से थोड़ा ऊपर का समझते हैं और खुश होते हैं। मसलन वही सीनियर प्रूफरीडर, ज्यादा से स्केल आदि।

इतवार को दफ्तर की छुट्टी रहती है। इतवार को लेकर मेरी एक फैण्टेसी है। मुझे लगता है, इतवार की देह एकमुख्त होती है, ऊपर से लगा कर नीचे तक एक इकट्ठी, जबकि हफ्ते के दूसरे दिन टुकड़ों में बंटे होते हैं और जब आप एक टुकड़े पर होते हैं, दूसरा टुकड़ा आँखों से ओझल रहता है। मसलन 'ऑफिस के लिए निकलने से पहले

मैं नहा रहा हूँ' वाले टुकड़े पर खड़े होकर देखो तो 'कल्याणी फास्ट के इंतजार में स्टेशन पर टहल रहा हूँ' वाला टुकड़ा दृश्य से कतई नहीं दिखता। हर टुकड़ा दूसरे से लगा बझा आपके आगे सरकता जाता है और आप बगैर एक जरा कुनमुनाए हर टुकड़े को स्वीकार (मूल पांडुलिपि में 'अंगीकार' जैसा प्राचीन शब्द था। इसे 'स्वीकार' कर दिया। सम्पादक जी कृपया ध्यान दें। *सीनियर प्रूफरीडर, ज्यादा पे स्केल*) करते जाते हैं। आप नहा चुकने के बाद जैसे ही खाली होते हैं कि एक अदृश्य हाथ आपको एक पर्ची थमा देता है जिस पर लिख होता है, 'नाश्ता'। इसी तरह नाश्ते के बाद 'जल्दी निकलो' वाली पर्ची। आठ बत्तीस पर कल्याणी फास्ट, पौने दस पर सीटीसी बस, दस बजे कार्ड पंच की तमाम पर्चियों से निबटते-निबटते जब आप ऑफिस में अपनी कुर्सी पर बैठते हैं तो वही अदृश्य हाथ मेज पर एक साथ कई सारी फाइलें पटक जाता है। शाम तक निबटा दीजिएगा। कल ही प्रेस के लिए छोड़नी है इन्हें। वैसे दो रीडिंग हो चुकी है फिर भी मूल पांडुलिपियों से मिलान कर देखिएगा, कहीं सी-कॉपी न छूटी हो। जरा सावधानी से, क्या है पिछली कॉपियों में कुछ भूलें चली गई थीं। और हाँ, फोलियो पर भी नजर मारते जाइएगा जरा। आदि

लेकिन इतवार को ऐसा नहीं। अकसर ऐसा होता है कि इतवार की सुबह बिस्तरे से निकलूँ और एकबारगी समझ में ही न आए कि आज दिन भर करना क्या है! मतलब इतवार की सुबह-सुबह ही आप उस इतवार की शाम तक की देह को देख सकते हैं, एकमुश्त, एक साँस में। मैं अकसर बिस्तरे में तब तक पड़ा रहता हूँ जब तक गौरी चाय लेकर न आ जाए। चाय पीकर मैं तरोताजा हो जाता। इतवार इतवार, जब मैं खाली होता हूँ प्यार से गौरी को देखता हूँ। इतवार इतवार, गौरी के बारे में सोचकर मन कैसा-कैसा हो उठता है। मैं हर इतवार सोचता हूँ कि बेचारी गौरी के लिए सब दिन एक समान होते हैं। रोज वही काम। कोई छुट्टी नहीं। नो आराम। आदि। मैं हर इतवार सोचता हूँ कि कम-से-कम झाड़ू पोंछा बरतन बासन के लिए किसी को रख लूँ। गौरी को थोड़ी राहत हो जाएगी। लेकिन यह भी मेरी एक फैण्टेसी है।

एक इतवार को अचानक किसी तेज आवाज से मेरी आँखें खुल गईं। देखा, गौरी का चेहरा ठीक मेरे चेहरे के ऊपर छाया हुआ। मेरे समझ में नहीं आया कि क्या हुआ। गौरी हँसी, उठी, चली, रुकी, मुड़ी, हँसी और मुझे पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। मैंने झपटना चाहा लेकिन वह माँगुर मछली की तरह फिसलते हुए भाग गई। मैंने घड़ी देखी, पौने पाँच। पागल हो गई है क्या! इतनी सुबह तो मैं हफ्ते के दूसरे दिनों भी नहीं जागता। मारे गुस्से के मेरे दिमाग के सारे तंतु झनझना रहे थे। नींद पूरी तरह गायब हो चुकी थी। दुबारे सोने की कोशिश बेकार थी। मैंने औरतों को दी जाने वाली दो लोकप्रिय गालियाँ गौरी को दीं और बिस्तरे से निकल आया। अभी चारों ओर अलाली ही थी। मुझे एकाएक यह ख्याल आया कि अंधेरे का फायदा उठा कर गौरी कहीं जा छुपी है। मैंने उसे ललकारा। हिम्मत है तो सामने आओ। कायर। भगोड़ी। दुश्मन। कहीं से उसकी हँसी सुनाई दी। हँसी पर अंधेरे का पर्दा था। सूर्योदय तक मैं उसे खोजता रहा। इधर-से-उधर। सूरज की पहली किरण में वह ऐन मेरे सामने दिखाई दी। अपने आपको मेरे हवाले कर दिया-लो, दो चार मुक्के मार लो। हिसाब खत्म करो। जाती हूँ। ढेर सारे काम निबटाने हैं। बाप रे।

अमोल प्रकाशन समूह के एक साहित्यिक पाक्षिक में मैं सीनियर प्रूफरीडर हूँ। सीनियर कम्पोजीटर सुभाष दा के आइप किए हुए मैटर सीधे मेरी डेस्क पर आते हैं। इतने वर्षों में सुभाष दा और मेरी ट्यूनिंग इतनी अच्छी हो गई है कि मैं धड़ल्ले से शब्द दर शब्द, पंक्ति दर पंक्ति फलांगता जाता हूँ और ऐन वहीं जाकर मेरी कलम रुकती है जहाँ सुभाष दा से गलती की अपेक्षा होती है और मजे की बात, सुभाष दा ने कभी मुझे निराश नहीं किया। मसलन हमेशा उन्होंने 'आशीर्वाद' को 'आर्शीवाद' ही टाइप किया और 'संवेदना' को 'संवदेना'। कल्याणी फास्ट की स्पीड से गुजरो तो ये गलत टाइप हुए शब्द पहले से दिमाग के हार्डडिस्क में फीड सही शब्दों की झलक देकर फिसल जाते हैं। सुभाष दा हँसते हैं, खाँसते हैं। (करबी दी, "ऐ सुभाष, क्यों इतना बीड़ी पीता है रे! मर जाएगा, कह देती हूँ।") उनकी उंगलियाँ खटाखट "की बोर्ड" पर फिसलती जाती है। किसी शब्द के लिए सही 'की' पर उंगली जाने जाने को होती है कि बीच में मेरी झलकी दिख जाती होगी और हँसते-हुए खाँसते हुए वे जान बूझ कर उंगली का रुख बदल देते होंगे। इस तरह सही पर जाकर थम जाने वाले इस खेल को थोड़ा और जी लेने की मोहलत मिल जाती है। उसकी उम्र एक प्रूफरीडिंग तक बढ़ जाती है। अकसर मेरा और सुभाष दा का यह गुप्त खेल मैटर प्रेस में छोड़ने की डेडलाइन तक चलता रहता है। उस नीमअंधेरे में गौरी कई बार मेरे हाथ आते-जाते बची। अंधेरे का फायदा उठा कर मैं उसे अपने हाथों से फिसला देता रहा। अंत में सूर्योदय की डेडलाइन ने लुकाछिपी का यह खेल खत्म कर दिया। गौरी को ढेर सारे काम निबटाने थे। (ऊपर के पैरे की अंतिम पंक्तियाँ यहाँ शिफ्ट करो-*सीनियर प्रूफरीडर।*) वह रसोई में चली गई। मैं ओसारे में लगी चौकी पर बैठ गया।

बचपन से ही इतवार के दिन सुबह-सुबह कोई खुशी की बात हो गई हो जैसे, ऐसा लगता आया है। रसोई में स्टोव बहुत शोर करत था। मैंने गौरी से पूछा, "क्या बना

रही हो!'' जैसे ही मैंने पूछा, कुकर ने जोर से सीटी बजा दी। कुकर की सीटी में गौरी तक मेरा प्रश्न नहीं पहुँच पाया। वह बेखबर अपना काम करती रही। मुझे बुरा लगा कि उसने मुझे नहीं सुना। थोड़ी देर मैं चुपचाप बैठा रहा कि क्या पता वह अचानक कुछ बोल बैठे। मसलन क्या हुआ, चुप क्यों बैठे हो, गुस्सा हो क्या आदि। लेकिन वह अपना काम करती रही। उसे काम में बझा देख मैं गुस्सा गया। (दरअसल 'चुप क्यों बैठे हो गुस्सा हो क्या' वाला वाक्य जब जेहन में कौंधा, उसी के साथ 'गुस्सा' वाली फीलिंग भी आ गई और गुस्से में चुप होकर बैठ जाना मुझे अच्छा लगा। इसके बाद स्क्रिप्ट में होना यह था कि गौरी आकर मुझे मनाए।) 'चुप क्यों...गुस्सा हो क्या' के बाद 'मान जाओ न प्लीज!' जैसा कोई वाक्य अपने टेक्स्ट को सुंदर और सरस बनाता है। लेकिन गौरी काम करती रही, काम करती रही।) खाली काम करती रहती है। बहुत बिजी बनती है। मैंने तेज आवाज में कहा, 'तुम अपने आपको बहुत लगाती हो न?'' गौरी ने गरदन तिरछी कर मुझे देखा। गौरी मुस्कराई। गौरी ने मुझे आँख मारी। मेरा पारा गरम हो गया। मैंने कहा, ''कुटनी।'' गौरी ने एक बार और आँख मारी। मैंने मुँह घुमा लिया।

दो कमरों का घर था। फिर बिना छत वाला लम्बा ओसारा और दो सीढ़ी उतर कर खुला आँगन। आँगन में पीपल का एक पेड़ था। पुराना और विकराल। उसका तना मोटा और गाँठदार था। एक तरफ जरा सा झुका हुआ। उसका हाव-भाव कुछ ऐसा था मानो वह बड़ी जनाकत के साथ झुक कर आदाब बजा रहा हो। पेड़ आँगन के बीचोंबीच था। पेड़ के चारों ओर गोलाई में कच्चे फर्श को छोड़कर शेष आँगन में काले पत्थरों की ईंटें बिछी थीं। सुबह-सुबह गौरी आँगन में बिखरे सूखे पत्तों को बुहार कर गोलाई की मिट्टी में डाल देती थी। आँगन पार कर नहानघर और पाखाना था। दोनों सटे-सटे थे। दोनों के ऊपर खप्परों की एक ही छाजन थी। दोनों की दीवारें बिना पलस्तर की थीं नहानघर के बाहर आंगन में थोड़ा बायें एक हैण्डपम्प गड़ा था। वहां कपड़ों को सुखाने के लिए लोहे का एक तार टंगा था। तार का एक सिरा पेड़ में ठुके कील से लगा था और दूसरा नहानघर के सामने से होता हुआ अहाते तक चला जाता था। हैण्डपम्प के पास से जल की समुचित निकासी के लिए एक मोरी अहाते में छेद करती हुई बिला जाती थी।

रसोईघर ओसारे में ही था-एक तरफ खप्परों की छाजन तले। शेष ओसारा ऊपर और सामने से खुला था। घर में डायनिंग टेबल नहीं था। खाना पीना आदि ओसारे में लगी चौकी पर ही हो जाता था जिस पर अभी बैठा-बैठा मैं झपकियाँ लेने लगा था।

अचानक कान में सुरसुरी हुई तो अकबका कर जगा। लगा कोई चींटी घुस पड़ रही है। इतने में पीछे से हँसने की आवाज आई। इस औरत ने मेरी नाक में दम कर रखा है। मैंने एक झटके में उसे पकड़ना चाहा। वह रसोई में भाग गई। मैं चौकी से उतर कर उसका पीछा करने में अलसा गया। मुझे फिर से नींद आ रही थी। गौरी ने मुझे नहाने के लिए कहा। मैं चुप रहा। गौरी ने एक बार और कहा कि जाकर नहा लूँ। मैंने मन ही मन फैसला किया कि उसके तीन बार कहने पर ही नहाने जाऊँगा। मरे पास एक साबुत दिन था और बमुश्किल अभी आठ बजे थे। गर्मी की सुबह थी। लमछर और गजब की फुर्तीली। मक्खन निकाल लिए गए दूध की तरह छरहरी। ओसारे से उतरने वाली सीढ़ियों तक धूप आ चुकी थी। थोड़ी देर में पूरा ओसारा उसकी गिरफ्त में आ जाएगा।

मेरे नहाने की बात भूल कर गौरी चाय लिए आई। उसके चेहरे पर अब भी शरारतों की खुरचनें जमा थीं। वह मुस्करा रही थी। मैं उसे मुस्कराते हुए नहीं देखना चाहता था। मैंने मुँह फेर लिया। चौकी पर चाय का ग्लास रखते हुए वह मेरा खून जलाने के लिए वहीं बैठ गई। मैं अपने मुँह फेरने को लेकर अड़ा रहा। लगातार दूसरी तरफ देखता रहा। मुझे लगा, मेरी आँखों को जल्द ही अपने देखने के लिए किसी ठोस चीज की तलाश कर लेनी चाहिए। कुछ नहीं मिला तो मैंने कल्पना की कि एक बिल्ली है जिसे मुझे देखना है। मैं पूरी संजीदगी से गौरी पर जाहिर करना चाहता था कि मैँ अहाते पर दबे पाँव चल रही एक बिल्ली देख रहा हूँ। गौरी काल्पनिक बिल्ली वाली बात समझ गई। हद की यह एक बात हुई कि गौरी ने आँगन में उतर कर एक झूठमूठ का ढेला उठा बिल्ली को दे मारा। झूठमूठ की बिल्ली अहाते पर से झूठमूठ कूद कर गायब हो गई। अब मेरे देखने का कोई प्रत्यक्ष बहाना नहीं रह गया। गौरी चली गई। मैं इत्मीनान की साँस लेकर चाय पीने लगा।

चाय पीने के बाद भी मैं बैठा रहा। इस बीच गौरी किसी काम से बाहर आई तो मैंने सोचा मुझसे नहा लेने को कहेगी। लेकिन उसने कुछ नहीं कहा। वह मेरे नहाने की बात एकदम से भूल गई लगती थी, जबकि मैं सोचता था कि जल्द आज जल्द उसका तीन बार नहाने के लिए कहना पूरा हो और मैं नहा लूँ। दो बार वह पहले ही कह चुकी थी, मैं चाहता था कि वह मेरे सामने आकर या चाहे तो पीछे से छुप कर एक बार और कह दे। मसलन दो रीडिंग हो गई हो और फाइनल रीडिंग बाकी है तो मैटर प्रेस के लिए कैसे रीलीज किया जाए, देरी हो रही है, डेडलाइन, ओह आदि। मुझे शक है कि वह भाँप चुकी है, मैं इस तरह की कोई प्रतिज्ञा किए बैठा हूँ, इसलिए वह मुझे छका रही है।

धूप अब लम्बे कदमों से ओसारे की सीढ़ियाँ फलाँग रही थी। उसकी आँच से ठंडा ओसारा भरता जा रहा था। गौरी रसोई के काम निबटाने को होगी। थोड़ी देर में कड़ाही कुकुर तसली आदि बरतनों को धोने के लिए हैण्डपम्प पर रख आएगी। उनमें पानी डाल देगी ताकि धूप में बरतन कड़े न हो जाएँ। मुझे पसीना आ रहा था। मैंने बनियान निकाल दी थी। दीवार से टेक लगा ली थी। बार-बार उबासी ले रहा था। बार-बार उबासी लेने की वजह से मेरी आँखों में पानी भर आया था। पानी के गर्म झिलमिल में सामने का खुला आँगन धूप में चमचमा रहा था।

सहसा मुझे लगा कि दुनिया में मैं एक बेकार आदमी हूँ। (सुभाष दा की उंगलियाँ की बोर्ड पर खटाखट फिसलीं–'मैं एक बेकार आदमी हूँ।' Ctrl+S=Save सब अपना-अपना काम कर रहे हैं और मैं फालतू बैठा हूँ। इतना सोचते ही मैंने नींद की बची-खुची खुमारी से एक झटके में खुद को बरी किया। एक महान जाग से फट पड़ने की हद तक मैं भर गया। उबल गया। फौरन चौकी से उतर कर खड़ा हो गया। तन गया। रसोई की तरफ देखते हुए चिल्ला कर कहा, ''तुम तीन बार कहो या न कहो मुझे परवा नहीं। मेरे मन में जो नहाने की बात एक बार घर कर गई तो समझो कर गई! Save''.

गौरी तुरंत आँचल से हाथ पोंछती हुई रसोई से बाहर निकल आई। आकर मेरे सामने खड़ी हो गई। वह मुस्कराते हुए आई थी, मुस्कराते हुए खड़ी रही। इस बार मैं बजिद उसे मुस्कराता हुआ देखता रहा। गहरे अड़ियलपने से मेरा चेहरा तमतमा रहा था, आँखें छोटी हो आई थीं, दृष्टि जल रही थी। मेरे इस तरह देखने से वह लजा गई। (उसके लजाने का एकमात्र कारण दिन के चौचक उजाले में 'पति' द्वारा घूर घूर कर देखा जाना ही था, देखने के पीछे के दृढ़ संकल्प की उसे कोई भनक भी न थी, हद है!) वह वहाँ से हट गई। मेरे लिए अंगोछा और साबुन की बट्टी लेती आई। किसी विजेता की तरह पैरों को बहुत गहरे अकड़ाते ओसारे से उतर कर मैं आँगन में आ गया। नहानघर तक आया। नहानघर का दरवाजा खोला और अंदर हो लिया। अंदर ठंडा अंधेरा था। सुबह से नहानघर का उपयोग नहीं हुआ था। चहबच्चे का पानी स्थिर था। फर्श एकदम सूखा। मुझे याद आया अगर मैं नहाऊँगा तो फर्श गीला हो जाएगा। मैं चुक्केमुक्के बैठ गया। उंगली से फर्श को छुआ। उंगली ने सूखे फर्श पर पसीने की एक छोटी सी दुबली रेखा खींच दी। फर्श के रोएँ खड़े हो गए। फर्श की आँखें मुँदने लगीं। पसीने की रेखा के इर्दगिर्द फर्श की कुंवारी देह से खून की बिन्दियाँ रिसने लगीं। फर्श को सँभल जाने की मोहलत देते हुए मैं उठ कर बाहर चला आया। पीछे

मुड़ कर देखा, फर्श ने कृतज्ञता में आँखें झुका ली थीं। मुझसे बुदबुदा कर कहा, थैंक यू!

धूप में आँगन तपता था। मैं नंगे पाँव था। ज्यादा देर खड़ा रहना मुश्किल। अंगोछे को तार पर टाँग दिया। हैण्डपम्प चला कर पानी भरने लगा। आधी बाल्टी भर कर यों ही पैरों पर गिरा लिया। पैरों को हैण्डपम्प के शुरुआती पानी की गुनगुनी ठंडक भली लगी। बाल्टी दुबारा भर कर वहीं बैठ नहाने लगा। इस बीच गौरी बरतन रखने आई। बरतन रख कर बाल्टी से पानी छलका कर हाथ धोने लगी। वह मुस्करा रही थी। मैंने सिर पीट लिया कि इसका क्या करूँ। वह साबुन लेकर ऐन मेरे पीछे बैठ गई। मेरी पीठ में साबुन लगाने लगी। मैंने एक लोटा पानी अपने सिर पर इस ढंग से फेंका कि गौरी भग जाए। तिस पर भी वह गुस्साने की बजाय हँसने लगी। मैंने चीख कर कहा, ''भागो यहाँ से।'' वह गिलहरी की तरह छिटक गई। जाते हुए पेड़ के पास रुकी। मैंने देखा कि अब क्या है! वह जीभ बिरा रही थी। मुझे रोना आ रहा था।

नहाते-नहाते मेरी जेहन में एक वाक्य कौंधा कि अब नहीं नहाना चाहिए। (खटाखट–'अब नहीं नहाना चाहिए।' Save) देह पोंछने के लिए मैंने तार से अंगोछा खींचा। तार झनझना उठा। उस पर बैठी एक गौरैया उड़ गई। अंगोछा धूप में गरम और जरा कड़ा हो गया था। मैंने उसे पानी से लबालब भरी अपनी देह से सटाया तो वह जरा सिकुड़ गया, जैसे शरमा रहा हो. अयहय! कपड़े अलग करने के बाद मैंने अंगोछे को लपेट लिया। साबुन की बट्टी लेकर मैं ओसारे की तरफ आने लगा। धूप में तपे आँगन के फर्श पर मेरे पीछे पानी के पाँव बनने लगे। ओसारे में आकर मैं मुड़ा। पानी के पाँवों को दखा। दूर के पाँव गायब हो गए थे। ओसारे में भी चौकी तक धूप आ गई थी। मैं कमरे में आ गया। कमरा ठंडा और बाहर की अपेक्षा अंधेरा था। गौरी खिड़की पर खड़ी थी। मुझे देखते ही जल्दी से बनियान और लुंगी लेती आई।

नहा लेने से मैं तरोताजा महसूस कर रहा था। ठीक से नहीं पोंछे जाने से देह थोड़ी-सी गीली थी मानो अभी फर्स्ट रीडिंग ही हुई हो। पहनी हुई बनियान पर जगह-जगह पानी के धब्बे थे। गौरी अंगोछा और साबुन की बट्टी लेकर नहाने चली गई। मैं कमरे में अकेला छूट गया। (See copy–यहाँ एक पैरा कम्पोज हाने से रह गया है। वैसे कहानी की मूल थीम से यह हट कर है तो सम्पादक जी से सलाह कर और लेखक से अनुमति लेकर इसे delete किया जा सकता है। पैरा–मुझे पता था कि मेरे नहाने के बाद गौरी भी साबुन की बट्टी लेकर नहाने जाएगी, फिर भी नहा कर आते समय साबुन की बट्टी अपने साथ कमरे में लेते आना मेरी आदत में शुमार था। मेरे नहा कर आने

और गौरी के नहाने जाने के बीच के चार-पाँच मिनट के अंतराल में साबुन का पति-पत्नी में से किसी के भी संरक्षण में न होना साबुन की फिजूलखर्ची है।)

यह इत्तेफाक की बात थी कि गौरी जब नहा कर आई तो मैं भी खिड़की पर खड़ा था। खिड़की के सामने एक मैदान था। मैदान और खिड़की के बीच की जमीन थोड़ी ढलुई थी। ढलुई जमीन घर की छाया में ठंडी थी। इस पालतू जमीन में नाना वनस्पतियाँ उग आई थीं। फिर जमीन घुटना भर ऊँचा उठ गयी थी और उसके बाद वह मैदान:पीला और खुला। खुले मैदान पर धूप का करिश्मा था। आदमी की नजरें धोखा खा जाती थीं। मेरी आँखें दूर दृश्य के झुलझेपन में गुम थीं। धूप का आकाश, मैदान, पेड़, मरीचिका, उदासी, चुप्पी और हवा। और इतवार की दोपहर। मैं कुछ भी अलग-अलग नहीं देख रहा था। मैं सब कुछ एक साथ देख रहा था। कि तभी गौरी आयी।

मैंने पूछा, नहा लिया! हालाँकि यह साक्षात दिख रहा था। वह न जाने क्या था जिसने मुझसे यह कहलवा लिया था। गौरी ने मुझे खिड़की पर खड़ा देख लिया था। ऐन थोड़ी देर पहले वह जो देख रही थी, उसे देखते हुए। उसके देखे की जासूसी करते हुए। उसके रहस्य को उससे छुप कर खोलने की कोशिश करते हुए। धूप में कुछ भी नहीं छुपता। वह हमारी सारी गहराइयाँ उतार फेंकती है, जिन्हें पानी के आवरण में हम छुपाने की कोशिश करते हैं। गौरी हँसी। मैं सिटपिटा गया। मैं उसे छूना चाहता था।

मुझे बार-बार लग रहा था कि मैं गौरी की निगाह में में गिर गया हूँ। मैं बहुत ओछा किस्म का इनसान हूँ। मुझे याद आया, शादी के कुछ ही दिनों बाद किसी छोटी सी बात पर नाराज होकर मैंने गौरी को एक चाटा मार दिया था। (eg. चाटा रसीद कर दिया था।) इसके अलावा भी बहुत-सी बातें। इस वक्त यह सारी बातें मेरे दिमाग में नाचने लगीं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैं एक नालायक पति हूँ। मसलन मैंने शादी के बाद से गौरी को अपनी कमाई से एक अदद साड़ी तक लाकर नहीं दी। माना कि इस घर में मैं इकलौता कमाऊ आदमी हूँ और जो कुछ भी होता है मेरी ही कमाई से, फिर भी एक पत्नी को इस बात की बड़ी चाह होती है कि उसका पति उसे शादी की वर्षगाँठ पर एक साड़ी लाकर दे। तिस पर भी गौरी ने कभी तिरछी निगाह से नहीं देखा। वह दुख में सुख में सदैव हँसती रहती है। आदि। निश्चित तौर पर मैं एक नालायक पति हूँ। नालायक नालायक। मैं बार-बार इस शब्द को दुहराता रहा। मेरे दिमाग में इस शब्द की बनावट और लिखावट साफ-साफ अंकित हो गई। (सुभाष दा की उंगलियाँ, खटाखट-ना-ला-य-क।) बार-बार दुहराते रहने से थोड़ी देर में 'नालायक' मुझे एक मसखरा शब्द प्रतीत होने लगा। मुझे हँसी आने लगी। (सुभाष दा

खाँसने लगे।)

फिर मैंने नए सिरे से कोशिश की, कि इस शब्द को परे ठेल कर गौरी के प्रति अपनी तमाम क्रूरताओं का विश्लेषण करूँ। हाँ तो उदाहरण के लिए आज सुबह झकझोर कर उसने मुझे जगा दिया...नालायक...महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि उसने जगा दिया...नालायक...महत्त्वपूर्ण यह है कि वह हँस रही थी...नालायक...गौर कीजिए यह कोई ऐसी वैसी बात नहीं...जैसा कि रिवाज है वह अपना घर बार...आत्मीय स्वजन...बंधु-बांधव सबको छोड़ कर यहाँ रहने आई...नालायक...किसके भरोसे? ...मैं पूछता हूँ किसके भरोसे?... तो गौर करना चाहिए...नालायक...उँह, गौर करना चाहिए कि...अच्छा आप ही बताएँ कि क्या एक पत्नी अपने पति के साथ एक अदना सा मजाक भी नहीं कर सकती?...नालायक...इसमें गुस्साने की...उस पर चीख़े-चिल्लाने की क्या बात है?...मैं पूछता हूँ क्या बात है?...नालायक...।

'नालायक' शब्द से मेरा पीछा नहीं छूट रहा था। इस पिद्दी शब्द पर आकर मैं हैंग हो गया था। ठीक से विचार-विमर्श नहीं कर पा रहा था। मैंने जोर से अपना सिर झटक लिया। एक झटके के साथ अचानक कल्याणी फास्ट रुक जाती है तो भीड़ से 'क्या हुआ क्या हुआ' का शोर उठने लगता है। मैं ही नहीं, गेट पर लटके पाँचों लोग झाँक कर देखते हैं-रेड सिग्नल।

''क्या हुआ?'' मेरे पीछे खड़े मधुकर दास पूछते हैं।

''सिस्टम हैंग कर गया लगता हैं।'' मैं हँसता हूँ। मधुकर दा नहीं हँसते।

इतने में रेड सिग्नल होने के बावजूद प्लेटफॉर्म सिग्नल मिल जाता है और कल्याणी फास्ट सामने आधे कि.मी. की दूरी पर नजर आते हाल्ट तक के लिए रेंगने लगती है। प्लेटफॉर्म सिग्नल तभी मिलता है जब लाइन में कोई गड़बड़ी हो और कम-से-कम आधे घण्ट तक उसके ठीकठाक होने की कोई उम्मीद नहीं। मधुकर दा नाटे कद के होने के कारण प्लेटफॉर्म सिग्नल नहीं देख सके। गाड़ी को रेंगते देख पूछे, ''क्या हुआ?''

''प्लेटफॉर्म सिग्नल। मतलब एकाएक लोडशेडिंग हो जाए तो दस पाँच मिनटों के लिए जैसे कम्प्यूटर यूपीएस पर चलता है न!... या फिर समझिए सिस्टम सेफ मोड में चल रहा है।'' मैं फिर से हँसता हूँ। मधुकर दा फिर से नहीं हँसते। कल्याणी में ही रहते हैं, चाँदनी चौक में एक दैनिक में काम करते हैं। उनकी नौकरी अलग-अलग शिफ्टों में होती है। जब दस बजे वाली शिफ्ट हो, हम साथ ही जाते हैं। हाल ही में उनके

यहाँ इतवार की छुट्टी खत्म कर दी गई थी। तब से मधुकर दा नहीं हँसते। हफ्ते में सातों दिन काम पर जाते हैं। बिना हँसे।

''कुछ पता चला?'' मधुकर दा पूछते हैं।

''पता नहीं, शायद लाइन क्लियर नहीं इसलिए।'' मैं कहता हूँ।

''नहीं नहीं, मैं तुम्हारे दफ्तर की बात कर रहा हूँ। सुनो, अखबार में काम करता हूँ इसलिए पता है। खबर पक्की है। आज नहीं तो कल तुम्हारे यहाँ भी। देख लेना।'' मेरे ठीक पीछे खड़े मधुकर दा अपनी गरदन उचका कर मेरे कान में लगभग फुसफुसाते हुए कहते हैं। गाड़ी अब तक प्लेटफॉर्म पर पहुँच चुकी है। कुछ लोग उतर कर खड़े हो जाते हैं। थोड़ी जगह मिल जाती है तो हम भीतर हो लेते हैं। एल.आई.सी. में काम करने वाले एक इटैलिक आदमी (दरअसल उसके हाथ-पाँव की हड्डियाँ कुपोषण से टेढ़ी पड़ गई थीं, इस वजह से आपसी बातचीत में हम उसे 'इटैलिक' कहते) ने बैग से अपना लंच बॉक्स निकाला और उस पर उंगलियों में पहने 'गुस्सा कंट्रोल छल्ले' से बतला जैसा बजाने लगा। थोड़ी देर बाद उसके पीछे खड़े नाटे कद के एक आदमी ने बायाँ हाथ दाईं कांख में दबा दबा कर एक अजीबोगरीब आवाज निकालनी शुरू कर दी। खिड़की के पास बोल्ड आदमी (गहरे वर्ण का होने की वजह से बोल्ड) को और कुछ नहीं सूझा तो ट्रेन की इस्पाती दीवार ही पीट-पीट कर ताल मिलाने लगा था। धीरे-धीरे पूरे डिब्बे में बात फैल गई। सभी एक सुरताल में नाचने गाने लगे। कोई चुटकी बजा रहा है, कोई ताली, कोई सीटी। कोई फुटबोर्ड पर पैर पटक रहा है तो कोई ऊपर लगे हैंगरों को एक दूसरे से टकरा रहा है। सुन भाई, सुन बंदे! लगवा दिया लगवा दिया, कल्याणी फास्ट ने आज लेटकमिंग लगवा दिया। ऐ मुच्छड़ मेरे दोस्त, ऐ साथी मेरे गंजे-संडे हो या मंडे, रोज खाओ अंडे। खुद से लेट होने की हिम्मत नहीं पड़ती, टाइम पे पहुँच जाते हैं गरमी हो या सर्दी। आज यह सपना भी पूरा हुआ। ऐ साफ सुथरे भाई, ऐ भाई मेरे गंदे-संडे ही मंडे...।

मेरा घर कल्याणी में है और दफ्तर कोलकाता में। आस-पड़ोस के जितने भी नौकरीपेशा लोग, सबका दफ्तर कोलकता में। कोई पूछता है कि कहाँ जा रहे हो तो दफ्तर वाली बात के विस्तार में न जाकर कहता हूँ, कोलकाता जा रहा हूँ। पूछने वाला कोलकाता मतलब दफ्तर समझ जाता है। प्रेस कॉपी में दफ्तर की जगह कोलकाता शब्द रखने के प्रचलन के पीछे एक समझदारी यह भी कि मैं किसी का नौकर नहीं हूँ। कोलकाता एक महानगर है। दस तरह के कामकाज हैं। घूमता-फिरता रहता हूँ। नौकरी नहीं करता जी! 'बिजनेस' करता हूँ। किसी का मुखापेक्षी नहीं हूँ। इज्जत की रोटी खाता

हूँ। आदि। लेकिन इसमें यह भी एक खतरा कि दफ्तर से एक सीएल लेकर वाकई कभी तफरीह के लिए या किसी रिश्तेदार से मिलने कोलकाता जाऊँ तो दफ्तर जाता समझ लिया जाता हूँ। बिना पूछे लोगों को बताता फिरता हूँ कि आज तो अमुक भाई साब से मिलने जा रहा हूँ या सुना है अमुक जगह बहुत सुंदर है, घूमने जाता हूँ। तिस पर भी कोई-न-कोई जिद्दी ऐसा कि टोक ही देता है, दफ्तर जा रहे हो! 'बिल्ली ने रस्ता काट दिया' जैसे एक मुहावरेदार वाक्य पर सुभाष दा अपना सिर धुनते हैं। (करबी दी, ''क्या हुआ सुभाष, आर यू ऑलराइट?'') प्रूफ देखते हुए एक शब्दकोश से उकता कर दूसरे शब्दकोश की तरफ जाता हूँ। उदाहरण के लिए दफ्तर न जाकर कहीं घूमने-फिरने जाना। यदि मंगलवार को दफ्तर न जाकर कहीं घूमने-फिरने जाऊँ तो कोई टोके या न टोके, खुद ही लगने लगता है कि दफ्तर जा रहा हूँ। मैं जिद नहीं करता। अपने को समझाता हूँ कि फाइनल प्रूफ में मंगलवार की जगह इतवार जैसा शब्द रख देने मात्र से आज भर दफ्तर की छुट्टी निकल आती है और मुझे दफ्तर नहीं, कहीं घूमने फिरने जाना है। घूमने-फिरने के लिए इतवार होना चाहिए। इतवार को कल्याणी फास्ट में जिसे पाऊँ वह घूमने-फिरने जाता हो। इतवार को कल्याणी फास्ट में मधुकर दा को कभी न पाऊँ।

कभी दफ्तर नहीं जा पाता तो वहाँ मेरी कुर्सी खाली रहती है। इस रोज-रोज दफ्तर जाने के चक्कर में जिन जगहों पर कभी नहीं जा पाऊँगा, वहाँ हमेशा मेरी अनुपस्थिति मेरा इंतजार करेगी। दफ्तर में दस बजे तक मेरा पहुँचना एक नियत बात है। दस बजे के पहले मेरे लिए कोई फोन आए तो घंटी बजती रहती है कोई उठाता नहीं। कभी-कभी मैं खुद ही फोन करके देख लेता हूँ कि मेरी अनुपस्थिति कैसे बजती है। किसी एक दिन दफ्तर नहीं जाकर दूसरे दिन दफ्तर पहुँचूँ तो सारे कुलीग चिन्तित होकर पूछते हैं कि क्या हुआ था, बुखार तो नहीं अथवा पत्नी की तबीयत, सब खैरियत तो है आदि। किसी को यकीन नहीं होगा अगर कहा जाए घूमने-फिरने गया था, चाहे यकीन हो भी तो हद-से-हद दीघा डायमंड हार्बर तक सोच सकते हैं। कहा जाए कि मसूरी गया था या कल्पना कीजिए ऊटी तो सब हँसने लगेंगे कि भई वाह, तुम्हारे सेंस ऑव ह्यूमर का क्या कहना! (मॉरीशस या स्विट्जरलैण्ड तो मेरे ही विन्डोज एक्स्पी के मेमोरी रैम में फीड नहीं होता। सॉरी, मोर दैन 512 मेगाबाइट, फाइल कैन नॉट बी सेव्ड, ट्राई अनदर डिस्क!) मेरी नौकरी एक ऐसा खूंटा है जिससे बंध कर मैं सपत्नीक मिलेनियम पार्क, नंदन या प्रिन्सेप घाट तक घूम फिर कर लौट आता हूँ। कभी बिना बताए दो तीन दिन तक गायब रह जाऊँ तो समझिए राम नाम सत्त है!

यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि दफ्तर जाना ऐसा कतई नहीं कि घर का दरवाजा खोला और दफ्तर के अंदर आ गए। घर के दरवाजे से निकल कर दफ्तर के दरवाजे तक पहुँचने के लिए दुनिया में न जाने कितने दरवाजे खोलने बंद करने होते हैं। इस वजह से घर से निकल कर दफ्तर को मेरा जाना, देर तक दिखने वाला जाना बना रहता है। दफ्तर जाते हुए दुनिया के खुले खतरनाक में मैं इतनी देर तक इतना स्पष्ट और स्थिर दिखता हूँ कि कोई नवसिखुआ भी आसानी से मुझ पर निशाना साध सकता है। ऐसे में कई-कई दिन तक मेरी लाश मुर्दाघर में लावारिस पड़ी रहेगी। घर और दफ्तर के बीच मेरी 'बॉडी' पर किसी का दावा नहीं बनता। वहाँ मेरा कोई बॉस नहीं, कोई पत्नी नहीं, होने वाली उस बिटिया से भी कोई रिश्ता नहीं जिसका नाम मैंने अभी से सोच रखा है। वहाँ मैं अपनी जमानत पर खुद हूँ।

शाम को नियत समय पर दफ्तर के दरवाजे को खोल कर घर के लिए चलता हूँ। सड़क का दरवाजा खोल कर सड़क पर चलने लगता हूँ। सड़कों के दोनों तरफ महंगी दुकानों के दरवाजे हैं–शीशे के इतने पारदर्शी कि मुझ जैसे आदमी के लिए भी खुले होने का भ्रम रचते हैं। मैं जानता हूँ कि इन दरवाजों की चाबी मेरी जेब में नहीं आ पाती। खुल जा सिम-सिम जैसा कोई मंत्र काम नहीं करता। (सॉरी, पासवर्ड इज नॉट करेक्ट, प्लीज ट्राई अगेन।) मैं परवा नहीं करता, लेकिन मन को एक चोट पहुँचती है। इस तरह रोज-रोज अपमानित होता हूँ। (eg. अपमान का कड़वा घूँट पीता हूँ।) बस के दरवाजे बस में चढ़ता हूँ। ट्रेन का दरवाजा खोल कर उतरते हुए प्लेटफॉर्म के दरवाजे से टकराते-टकराते बचता हूँ। घर पहुँच कर घर का दरवाजा खटखटाता हूँ। गौरी घर का दरवाजा खोल कर सारे घर को मुझसे भर लेती है। घर में घर भर मैं। कल्पना करना बड़ा मुश्किल कि जब मैं घर में नहीं होता तो घर कैसा दिखता होगा। घर में गौरी इतनी दबी छुपी रहती है कि आसानी से पकड़ में नहीं आती। मेरे लिए चाय बनाती है तो खुद भी थोड़ा सा ले लेती है। मैं बैंगन पसंद नहीं करता तो वह खुद के लिए भी बैंगन नहीं बनाती। मुझे पता नहीं चलता उसे अलग से क्या पसंद है। वह सब्जी लाने के लिए मुझे झोला पकड़ा देती है कि अपनी पसंद का जो भी लाओगे रांध दूँगी। मैं घर का दरवाजा खोल कर बाजार जाता हूँ। बाजार जाना इतना सुविधाजनक है कि जितनी बार बाजार जाऊँ बाजार जाना बचा ही रहता है। रात का खाना खाने के बाद बिस्तर का दरवाजा खोल कर पड़ रहता हूँ। गौरी फुटकर काम निबटाकर आदतवश एक बार सदर दरवाजा देख आती है कि ठीक से बंद है या नहीं। उसके लेटने आने तक मैं किताब का दरवाजा खोल कर कहानियाँ पढ़ता रहता हूँ। ठीक समय पर नींद

का दरवाजा खोल कर सो जाता हूँ। सपने का दरवाजा खोल कर गौरी को चूमता हूँ। उसके अश्लील पेट और नाभि प्रदेश के बारे में सोचते-सोचते एक कीड़ा बन जाता हूँ। उसकी देह का दरवाजा खोल कर धीरे-धीरे भीतर का चमकीला अंधेरा कुतरता हूँ।

बिस्तर पर चित्त लेट कर मैं छत को एकटक देख रहा था। एकाएक मुझे लगा मेरी निगाहें अपेक्षाकृत धुंधली है और मैं छत को ठीक से पकड़ नहीं पा रहा हूँ। (यह दरअसल सोच से बाहर के समय का मंथर प्रवाह था। ईर्ष्या की तरह टिमटिमाती सोच से बाहर की रोशनी, जिसमें छत थी, गौरी थी, कमरे से बाहर धूप लहकती थी इतवार की अलसायी दोपहर।) मुझे लगा मैं छत के मूल को नहीं पकड़ पा रहा। कभी-कभी प्रूफ पढ़ते हुए अचानक मेरा मन टेक्स्ट में उखड़ जाता है। तब सिर्फ शब्दों की बनावट, बनावट की गलतियाँ भर पकड़ में आती हैं। (दरअसल प्रूफरीडिंग में इतने से ही काम चल जाता है, जरूरत पड़ने पर मैं अड़ सकता हूँ कि लिंग्विस्टिक सरफेस से आगे का काम एडिटिंग सेक्शन को रेफर किया जाए।) इस तरह पूरी कहानी पढ़ जाता हूँ लेकिन उसका कथानक पल्ले नहीं पड़ता। छत को एकटक देखते हुए मैंने अपनी समस्त शक्ति छत के सारांश को पकड़ने में लगा दी।

"खाना लगा दूँ?" गौरी ने पूछा। मैंने गौरी को देखा। कहीं ऐसा तो नहीं कि इतने सालों साथ-साथ रहने के बावजूद मुझे नहीं पता गौरी नामक टेक्स्ट का कथानक क्या है! मैंने जोर से सिर झटका। नहीं, मैंने गौरी को अच्छी तरह पढ़ा है, उसके सारे रहस्यों से वाकिफ। मसलन वह सपने में किसे चूमा करती है या खिड़की से बाहर चुपचाप किसे देखा करती है आदि। जानने के इकहरे दर्प से मैं भर गया। हम एक खास किस्म की जिन्दगी अपने लिए चुन लेते हैं, हालाँकि जो हमारी जिन्दगियाँ नहीं हैं उन्हें थोड़ा-बहुत जानते जरूर हैं। हम थोड़ा-बहुत जानते हैं कि एक नेता या अभिनेता की जिन्दगी कैसी होती है। (ps. यह जानना हमें समय-समय पर अपनी जिन्दगी से संतुष्ट करता चलता है, मसलन मधुकर दा की जिन्दगी के बरक्स मेरी खुद की जिन्दगी।) कुछ इसी तरह का आधा अधूरा जानना मुझे तुष्ट कर गया कि गौरी की जिन्दगी कैसी है। फिर भी एक संशय हमेशा बना रहता है कि प्रेस को सौंपी गई ट्रेसिंग कॉपी में भी कहीं कोई भूल न चली गई हो। हम अपने मन को समझाते हैं कि इसका कोई अंत नहीं, कि जितनी बार प्रूफ देखा जाए कुछ-न-कुछ निकल ही आता है। मसलन हम दावे के साथ अंत तक नहीं कह सकते कि जहाँ अल्पविराम लगा है वहाँ पूर्णविराम हरगिज नहीं हो सकता था आदि।

खाना खाकर मैं बिस्तर पर लेट गया। कमरे से बाहर चकाचक धूप थी। गौरी ने आकर खिड़की दरवाजा उठगां दिया। कमरे में झिरी अंधेरा हो गया। गौरी मेरे पास ही लेट गई। मैं उसकी तरफ करवट लेकर उसे देखने लगा। वह चित्त सोई थी। उसकी आँखें बंद थीं। आँखें बंद किए किए वह मुस्कराने लगी। वह न जाने कैसे जान गई थी कि मैं उसे देख रहा हूँ। मैंने उसे कमर के पास गुदगुदा दिया। उसने मेरी तरफ करवट ले ली। उसके चेहरे पर पसीने की हल्की चिकनाई थी। ललाट पर, पलकों की पीठ की गझिन झुर्रियों में, नाक के नीचे ऊपरी होंठ के ऐन ऊपर टाई की शक्ल वाली गड़ही में, ठुड्डी के कटाव में पसीने की झिलमिल थी। साँस लेने की वजह से बाईं छाती के ऊपर का तिल पसीने से जलता बुझता था। काँख के पास ब्लाउज गीला था।

थोड़ी देर बाद मेरी आँखों में नींद के खुरदरे लाल रेशे तैरने लगे। दृश्य खिंचा-खिंचा लगने लगा। मैंने आँखें बंद कर ली। बंद आँखों का रंग ललौंसा उजास लिए हुए था। इस रंग को मैं बचपन से देखता आया हूँ। धूप में खड़ी गौरी के कानों के लव का रंग या जैसे एक झीनी सफेद साड़ी के नीचे झलकता नारंगी रंग का पेटीकोट। लाल नीला हरा सफेद काला जैसे मोटे रंगों के नाम खूब जानता हूँ। पीला आसमानी गुलाबी आदि फीके रंग भी पहचान लेता हूँ। आसमान का रंग गौरी की रंग छुटी नाइटी की तरह है। ले आउट डिजाइनर मोहांती बताता है कि आजकल और भी कई आधुनिक और जटिल रंगों की उत्पत्ति हो गई है। पसीने का रंग कैसा होता है–पर्पल, पिच या टेरेकोटा शेड में? मसलन ओसारे की चौकी मेजेंटा धूप से रंगी है। पिछले दोल मेले में एक मरून शर्ट खरीदी। तालाब में गोता लगा कर आँखें खोलने का रंग स्यैन और हरे का मिला जुला रंग है। आदि। दोपहर का रंग आधुनिक नहीं है लेकिन उसका नाम नहीं जानता। दोपहर के सुनसान में भर पेट खाकर पत्नी के साथ लेटने का भी कोई रंग होता है क्या–मोहांती से पूछूंगा।

गौरी को तो सोता देख कर यह धोखा हो जाता कि वह जाग रही है। सोते में कभी उसके मुँह से एक मरी हुई कुनमुनाहट निकलती–दो चार नुचे चिंथे शब्द, आपस में गुत्थमगुत्था और हतप्रभ–जैसे अक्षरों के बीच स्पेसिंग–लीडिंग कम कर दी गई हो। उसकी पलकें फड़कतीं। भुला–बिसरा दिए गए छोटे–छोटे सपने। कायदे से वयस्क सपने भी नहीं, जैसे सपने का अदना सा बच्चा–सपनी!

मैं उठकर खिड़की के पास चला आया। धीरे से खिड़की के पल्लों को खोला। चारों तरफ की चुप्पी और सुनसान के बरक्स मेरा इस तरह उठ कर खिड़की के पास आना हवा के फेफड़ों में दर्द के मारे बौखला गया। मैं चुप था। कहीं दूर से मेरा चुप

होना उड़ता हुआ आता था। बाहर ओसारे में ओसारा भर दोपहर, सीढ़ी से उतर कर आँगन में आँगन भर। इधर-उधर सूराखों से, ऊपर के खुले से दोपहर भभकी पड़ रही है। हैण्डपम्प के पास रखे कुकर, तसली, बटुली, चम्मच में कुकर, तसली, बटुली, चम्मच भर दोपहर। हैण्डपम्प से निकली मोरी से दोपहर छुल–छुल बह रही है। अहाते पर से बाहर को दोपहर के कूदने की आवाज आती है–डुबुक...टप्प! कमरे में गौरी की साँसों की कमसिन आवाजें हैं। जागे हुए के कारण मैं अपनी साँसें जान बूझ कर इधर–उधर भटका कर छोड़ता हूँ ताकि आवाज न हो और गौरी की नींद न टूट जाए। कभी–कभी गलती से मेरी साँस कमरे की किसी ठोस वस्तु से टकरा कर छन्न से बजती है। मैं अफसोस करता हूँ। कहीं दूर से मेरा अफसोस करना उड़ता हुआ आता है।

दरअसल गौरी को सोता देख कर मेरा मन उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठा था। (बेबी पिंक कलर की कृतज्ञता, हे हे!) अचानक मुझे उसकी देखभाल की जिम्मेदारी बढ़–चढ़ कर महसूस होने लगी। यह इसलिए भी हो सकता है कि सोते हुए उसका चेहरा विकारहीन और अपेक्षाकृत ज्यादा वेध्य लग रहा था। मैं कोशिश कर रहा था कि किसी भी हाल में उसकी नींद पूरी होने से पेश्तर न टूटे। इसके लिए मैंने अपने आवश्यकता से अधिक हिलने–डुलने पर रोक लगा दी थी। बहुत जरूरत पर ही मैं चलता, दबे पाँव। खिड़की के बाहर के दृश्य को दिलदारी से देखने की जगह फर्स्ट रीडिंग की तरह मैंने अपनी दृष्टि मोटी–मोटी और पहली ही नजर में आ जाने वाली चीजों तक महदूद कर दी। मैं किसी भी बात पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से खुद को निर्ममता से एडिट करने लगा। ज्यादातर मैंने उन्हीं चीजों को अपनी सोच का विषय बनाया जो आकार में बड़ी और महत्त्वहीन हो जोने की हद तक जानी पहचानी हों, मसलन पेड़, फल, ऐन चौराहे पर आयुर्वेदिक औषधियों और जड़ी–बूटियों की दुकान, मंसूर मियां की कानी घोड़ी, ग्वालों के हुड़दंगिये बच्चे आदि।

थोड़ी देर बाद मैंने महसूस किया कि मैं एक बेजोड़ मंथरता से भर गया हूँ। दोपहर की चुस्सड़ उमस में मेरी सारी तरलता जाती रही थी। मेरी हड्डियाँ तक अकड़ने लगीं। जम्हुआई रोकना भी भारी पड़ रहा था। गौरी नींद में गाफिल थी और मैं खिड़की पर खड़ा अपने आप से जूझ रहा था। भीतर कहीं दबे छुपे मैं असंतुष्ट था, उस दबाव से, जो घर में रहते हुए चौबीसों घंटे मुझे बाँधे रखता है। मन के धूसर में बासी हवाएँ गूमड़ बनाती हैं। हर घड़ी हमें ख्याल रखना पड़ता है कि एक अदद गलत झोंका सम्बंधों की दरारों में घुस बैठी चिनगारी को हवा दे सकता है। दफ्तर में हमारी रुद्ध

उत्तेजनाएँ गरगर बहने लगती हैं। किसी भोंडे मजाक पर, दकियानूसी छींटाकशी पर हम हो हो कर हँसते हैं। सहकर्मियों पर अश्लील फिकरे कसते, लतीफे बनाते। दफ्तर में काम करने वाली लड़कियाँ भी भरपूर साथ देतीं। बाल की खाल निकालतीं। जान बूझ कर गलतफहमी पैदा करतीं। द्विअर्थी संवादों में खूब मजा लेतीं। हम सब उनका दिल रखने के लिए एक दूसरे को अपना करीब मानते। (सुभाष दा और करबी दी वाला मामला ऑफिसजाहिर था इसलिए वे दोनों इस खेल से बाहर।) लंच आवर में कट चाय पिला कर उनके घर उनके शंकालु पतियों की बात नहीं करते। इससे वे हमें पजेसिव मानतीं, खुश होतीं। सबका अपना घर-बार। (करबी दी का भी।) चिन्ताएँ। ढाई तीन महीने की मेटरनिटी लीव में शॉर्ट टर्म माँ बन जातीं। इस तरह सिर्फ दो बार, यानी जिन्दगी में कुल छह महीने दो बच्चों के लालन-पालन के लिए। हम दो हमारे दो। बच्चे बड़े हो जाते। माँ को पहचान लेते ठीक-ठीक। याद रखते।

'घड़ी ने दो बजायी' जैसे एक वाक्य की बनावट पर कम्पोजीटर सुभाष दा खिसिया जाते। 'सोते हुए उसने एक भारी उसांस भरी' जैसे एक पुरानी शैली के वाक्य पर उन्हें अफसोस होता। कहीं कोई गलती दिख जाती तो वे उसके लेखक को गरियाते जिसने बिना रिवाइज किए ही प्रेस कॉपी भेज दी थी। 'कमरे का तापमान' और 'देह की धूप' जैसे आलंकारिक पदबंधों पर उनकी हँसी रोके नहीं रुकती। हँसते हुए वे बीड़ी सुलगाते हैं। हँसते हुए वे खाँसने लग जाते हैं। एक अदद ऊटपटांग वाक्य भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। खाँसते-खाँसते बेहाल हो जाते। (करबी दी, "मर क्यों नहीं जाता मरदूद! छुट्टी मिले तुझे भी और मुझे भी।") जिन्दगी प्रूफ कॉपी नहीं जिसमें गलतियाँ सुधारने की मोहलत हो। 'अंत तक कुछ नहीं बदलता' जैसे एक फैसलाकुन वाक्य से सुभाष दा की आँखें धुआँ जातीं। फेफड़े जर्जर होते जाते हैं। चश्मे का पावर बढ़ता जाता है।

गौरी गौरी!

गौरी अभी भी नींद के कींचड़ में सनी हुई थी। धीरे-धीरे दोपहर ढल रही है। धूप का अभिमान भाप बन कर उड़ता जा रहा है। घंटे डेढ़ घंटे में यह धूप किसी माँ मरी बच्ची की तरह हो जाएगी-उदास, शान्त। कमरे की गाढ़ी हवा में बहुत सारे 'मन उदास है' इधर-उधर उड़ रहे हैं। ये सारे शादी के बाद से आज तक के कभी मेरे कभी गौरी के कहे अनकहे 'मन उदास है' हैं। मैं बहुत करीब से गौरी के गाफिल चेहरे को देखता हूँ। खिड़की के खुले पल्ले से होकर एक 'भूल स्वप्न' आकर गौरी के चेहरे पर बैठ जाता है। मैं उड़ाता हूँ तो वह इधर-उधर उड़ कर वापस वहीं बैठ जाता है। (जैसे

टेलीफोन के संदर्भ में रांग नम्बर, कम्पोजिंग में रांग फोण्ट, वैसे ही सपने के संदर्भ में भूल स्वप्न। मैं बगैर एडिटिंग सेक्शन से कंसल्ट किए यह शब्द गढ़ता हूँ और उदास हो जाता हूँ।) अपनी देह में हर कहीं-गर्म गुदाज अंगों, रंध्रों, उंगलियों के जोड़ों, गोरे टखनों, गम्भीर जाँघों-हर कहीं गौरी सो रही है। खून की तरह गाढ़ी दोपहरी नींद। उसे सोता देख मैं उदास हो जाता हूँ कि दुनिया में हर कहीं गौरी सो गई है और अब मैं भर दुनिया में निपट अकेला जगा हूँ।

गौरी गौरी, क्या तुम मुझे सुन रही हो? गौरी क्या तुम्हें याद है जब पहली बार...

हवा में उड़ता हुआ एक बूढ़ा नाटा 'मन उदास है' अचानक मेरे कानों में फुसफुसा जाता है-याद है बाबा याद है, गौरी को सब सच-सच याद है। बस थोड़ा होल्ड करो, प्लीज स्टे ऑन द लाइन, गौरी अभी लौट आएगी थोड़ी देर में।

मैं कमरे से निकल कर बाहर आ जाता हूँ। मेरे पीछे कमरा छूट जाता है, नए-पुराने तमाम 'मन उदास है' छूट जाते हैं। नींद के कीचड़ में लथपथ गौरी छूट जाती है। 'हर इतवार को गौरी को प्यार करता हूँ' पीछे छूट जाता है। 'हर इतवार को गौरी के बारे में सोचता हूँ कि बेचारी को हर दिन एक सा जुते रहना पड़ता है।' पीछे छूट जाता है। 'थोड़ा पूरा पड़ोस घूम आता हूँ। सबसे हालचाल पूछ आता हूँ। किसी से गमी में शमिल होता हूँ। नरेन दा की बेटी की शादी के कार्ड का प्रूफ देख आता हूँ। नरेन दा चाय पीकर जाने को कहते हैं तो मैं कहता हूँ, अरे नहीं नहीं।' आदि सब भी पीछे छूट कर इतिहास बन जाते हैं। भूगोल में मैं आगे और आगे बढ़ता जाता हूँ। दफ्तर से लौटते हुए मधुकर दा मिल जाते हैं। मैं मधुकर दा को खबर देता हूँ कि आपकी बात सच निकली। मधुकर दा नवीन को बारे में बताते हैं कि अभी उसकी उमर ही क्या थी। अगले वैशाख में नवीन की शादी गोप बाबू की मंझली लड़की से होनी तय थी। नवीन के बारे में बात करते-करते हम दोनों आगे बढ़ते हैं तो कहीं दूर संझापूजन का शंख बजता सुनाई पड़ता है। 'एक लड़की की माँ गुलाबी रिबन लगा कर उसकी चोटी गूँथती है' सुनाई पड़ता है। गोप बाबू घमौरियों से भरी अपनी पीठ पर नाइसिल पाउडर छोप कर बाजार जाते दिख पड़ते हैं। मधुकर दा पूछते हैं कि क्या मैंने गौरी को बता दिया। मैं कहता हूँ आज उसने अलस्सुबह ही मुझे झकझोर कर जगा दिया था। तभी

गौरी गौरी।

कल्याणी फास्ट पनी पटरी पर दौड़ती हुई बढ़ती है। आज खिड़की वाली सीट मिलने से इटैलिक बहुत खुश है। पास ही खड़े बुजुर्ग बार-बार टोकर देख लेते हैं कि

कहीं उनकी जेबतराशी तो नहीं हो गई। प्यार किया तो डरना क्या आज अकेले लौट रहा है, उसकी गर्लफ्रेण्ड नहीं दिखती। और वो देखो फुटबोर्ड पर की इतनी धक्कामुक्की में भी एक कालेजिया लड़का कानों में ईयरफोन लगाए कैसे बिन्दास खड़ा है! कल्याणी फास्ट में जितने भी लोग बैठे हैं, खड़े हैं, लटके हैं–वे दरअसल इतने सारे लोग नहीं, कुल मिला कर दिन भर के काम थकाहार और अब घर को लौटता एक ही आदमी है।

गौरी नींद में रास्ता देखती है।

कुणाल सिंह

चर्चित युवा लेखक कुणाल सिंह का जन्म 22 फरवरी, 198 को हुगली, पश्चिम बंगाल में हुआ। अपनी शुरुआती दौर की कहानियों में ही चर्चित होने वाले कुणाल सभी महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। पहला कहानी संग्रह 'सनातन बाबू का दाम्पत्य' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। भारतीय ज्ञानपीठ का नवलेखन पुरस्कार मिल चुका है। फिल्मों में रुचि है, फिल्म पर लिखते भी हैं। आजकल उपन्यास लिख रहे हैं।

जानकी पुल

–प्रभात रंजन

ऐसा लगा जैसे कोई भूली कहानी याद आ गई हो। सारा किस्सा नन्दू भाई के ई-मेल से शुरू हुआ। नन्दू भाई पिछले कई वर्षों से इंडोनेशिया के रमणीय द्वीप सुमात्रा में रह रहे हैं। वहाँ नन्दू भाई एक प्रसिद्ध कागज-निर्माण कम्पनी में इंजीनियर हैं। सुमात्रा से नन्दू भाई ई-मेल से ही रिश्तेदारी निभा लिया करते...

पिछली बार दीपावली पर जब नन्दू भाई का 'हैप्पी दीपावली' की ई-मेल आया तो न जाने क्यों इस बार नन्दू भाई को बीस वर्ष पहले अपनी नानी और मेरी दादी के गाँव में मनाई गई उस दीपावली का स्मरण हो आया था जब हमने आखिरी बार दीपावली पर साथ-साथ पटाखे छोड़े थे। लगे हाथ नन्दू भाई ने उस जानकीपुल का भी स्मरण कर लिया था, जो उसी साल बनना शुरू हुआ था या कम-से-कम उसका शिलान्यास तो हुआ ही था जो मेरे गाँव मधुवन और शहर सीतामढ़ी के बीच की दूरी को मिटा देने वाला था।...

बीस साल पहले उस गाँव के सपने में एक पुल लहराया था...

नन्दू भाई भले मेरे सगे भाई नहीं है। मेरी सगी बुआ के लड़के हैं। मैं उन दिनों अपने गाँव में रहता था। और अपनी साइकिल पर बैठे दस किलोमीटर दूर शहर पढ़ने जाया करता था। दरअसल मेरे गाँव और शहर के बीच एक बाधा थी। नेपाल की नदी बागमती की एक धारा मेरे गाँव और शहर को अलग करती थी। पुल बनते ही वह दूरी घटकर एकाध किलोमीटर रह जाने वाली थी। नदी होने के कारण शहर दूसरी तरफ से जाना पड़ता। गर्मियों में जब नदी में पानी कुछ कम होता तो गाँव के कुछ बहादुर नदी

तैरकर पार कर जाते और उस पार सीतामढ़ी बाजार पहुँच जाते।

उसी साल देश में टेलिविजन का रंगीन प्रसारण शुरू हुआ था और गाँव के जो लोग शहरों में मारवाड़ी सेठों या साहबों के यहाँ काम करते थे वे बताया करते कि किस तरह रंगीन टी.वी. पर 'हम लोग' देखना या 'चित्रहार' देखना बिल्कुल वैसे ही लगता है जैसे सेठ भागचन्द गोवर्द्धनमल के 'किरण टॉकीज' में सिनेमा देखना लगता है...। सच कहता हूँ तब मुझे अपना गाँव में रहना बेहद सालता था।

बुआजी हर साल दीपावली में एक महीने की छुट्टी मनाने आया करती। नन्दू भाई भी साथ में होते। जिस समय मुझे यह खबर मिली कि पुल बनने वाला है उस वक्त नवम्बर की दुपहर बुआजी दादी के सफेद बालों को कंघी से सीधा करने में लगी थी। माँ बुआजी के लिए तुलसी का काढ़ा बनाने में लगी थी और मैं नन्दू भाई के लिए अमरूद तोड़ने में लगा था। तरह-तरह के अमरूदों के पेड़ थे–कोई ऊपर से तो हरा होता था और अन्दर उसका गूदा गुलाबी होता, किसी अमरूद में बीज ही बीज होते तो किसी में बीज ढूँढ़े नहीं मिलते। मैं अमरूदों के उस विचित्र संसार की सैर कर नन्दू भाई के साथ कच्चे-पक्के अमरूदों को जेबों में भरकर लौटा तो मैंने देखा दादाजी बुलाकी प्रसाद मिश्र, रिटायर्ड हेडमास्टर अपनी आराम-कुर्सी पर उठंगे हुए थे और उनके बगल में एक कुर्सी पर मुखियाजी बैठे हुए थे।

''आज पुल का शिलान्यास हो गया।''

मैंने सुना मुखिया जी कह रहे थे। दादाजी ने जवाब में टँगी जवाहर लाल नेहरू की धुँधलायी-सी तस्वीर की ओर बस देख भर लिया था। मानो उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन कर रहे हों। मैंने नन्दू भाई की ओर देखा था, मेरे लिए तब जीवन की सबसे बड़ी खबर थी यह, उस पुल के बन जाने के बाद मुझे किसी से भी शरमाने की जरूरत नहीं पड़ती यह बताने में कि भले ही मैं शहर के बेहतरीन स्कूल में पढ़ता था और दिन-दिन भर रोजाना अपनी एटलस साइकिल से शहर की गलियों की ही खाक छानता रहता लेकिन रहता मैं मधुवन में था–मधुवन जो शहर का कोई मोहल्ला नहीं था बल्कि नदी की दूसरी तरफ बसा छोटा-सा गाँव था।

मैं बेहद खुश था। उस रात सोते समय जब नन्दू भाई टेलीविजन पर आने वाले धारावाहिक 'हम लोग' के किस्से सुना रहे थे तो मैंने उस रात उनसे कहा था कि उस साल वे मेरे लिए जीवन की सबसे बड़ी खुशी लेकर आए थे...अगले दिन मैं नन्दू भाई के साथ शिलान्यास का वह पत्थर देखने भी गया। उस पर लिखा था। 'माननीय सिंचाई मन्त्री श्री अशफाक खाँ जी के कर-कमलों द्वारा जानकीपुल का शिलान्यास

किया गया।' हम दोनों ने काफी देर तक पत्थर छू-छूकर देखा और यह अन्दाजा लगाते रहे कि कितने दिनों में पुल बन जाएगा।

उन दिनों मैं यानी आदित्य मिश्र शहर के प्रसिद्ध श्री राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय में बारहवीं में पढ़ता था। उन दिनों मेरे कई छोटे-छोटे सपने होते थे। जैसे एक सपना यह था कि मेरे पास सीतामढ़ी में रहने के लिए एक घर हो जाए। एक सपना यह था कि मेरे पास भी न सही रंगीन, ब्लैक एंड व्हाइट टेलिविजन सेट ही हो जाए ताकि मैं भी उस पर किरण टॉकिज की तरह 'हम लोग' और 'चित्रहार' देख सकूँ। मेरे इन सपनों में अक्सर कुछ सपने जुड़ते-घूमते रहते थे। उन दिनों जो सपना मेरे सपनों में आ जुड़ा था वह इला का सपना था–इला चुतुर्वेदी।

इला मेरे ऐसे सपनों में रही जिसे मेरे सिवा सिर्फ नन्दू भाई ही जानते थे। मैं राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय में कला विषय का छात्र था और मेरे टयूशन गुरु मुरली मनोहर झा की उन दिनों इतिहास, राजनीति-विज्ञान, अंग्रेजी जैसे विषयों के पारंगत शिक्षक के रूप में धूम मची थी। उन्हीं दिनों शहर की मशहूर जच्चा-बच्चा विशेषज्ञ डॉक्टरनी मालिनी चतुर्वेदी ने जब प्रोफेसर साहब से अपनी ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ने वाली लड़की इला को परीक्षाओं तक घर आकर इतिहास और राजनीति विज्ञान पढ़ा जाने का आग्रह किया तो प्रोफेसर साहब ने अपनी व्यस्तताओं का हवाला देते हुए उनके घर आने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी थी। लेकिन साथ-ही-साथ प्रोफेसर साहब ने उन्हें इस बात का पक्का भरोसा दिलाया कि वे गेस पेपर और नोट्स अपने किसी प्रतिभाशाली, योग्य शिष्य के हाथों भिजवा दिया करेंगे। प्रोफेसर साहब ने वह मौका मुझे यह कहते हुए दिया था कि तुम पर बड़ा विश्वास करता हूँ।

सच कहता हूँ मैंने उनका विश्वास कभी नहीं तोड़ा। मैं इला के घर कभी वीरेश्वर प्रसाद सिंह की राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त या बी.एन. पांडे का भारत का इतिहास या राय रवीन्द्र कुमार सिन्हा की पुस्तक भारतीय शासन एवं राजनीति देने-लेने जाया करता या गेस पेपर और नोट्स लेकर जाता। यहाँ मुझे शायद यह बताने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए कि जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ उस वक्त तो फोटोस्टेट जैसी सुविधा दिल्ली जैसे शहर में भी इतनी आम नहीं हुआ करती थी। मैं जिस शहर सीतामढ़ी की बात कर रहा हूँ साहब, उस समय पूरे शहर में कुल एक फोटोस्टेट मशीन हुआ करती थी और फोटोस्टेट करवाना तब इतना महँगा पड़ता था कि बड़े-बड़े मारवाड़ी सेठों के लड़के ही उसका लाभ उठाने की ऐय्याशी कर सकते थे।

इला के घर आने-जाने का मेरा सिलसिला चल पड़ा। मैं एक बार उसके घर नोट्स देने जाता और एक बार नोट्स वापस लेने और फिर नए नोट्स या कोई पुस्तक देने जाता रहता।

इला ने शुरू में दो-एक बार ग्यारह से एक बजे के बीच आने की हिदायत दी लेकिन मैं समझ गया कि उसके घर जाने का सबसे मुफीद समय यही होता था जब उसकी डॉक्टर माँ या तो क्लीनिक में होती थी या अपने पब्लिक प्रासीक्यूटर प्रेमी वाई.एन. निषाद के साथ होती जिसके बारे में शहर भर में अफवाह फैली रहती कि कल काले रंग की फिएट में सुरसंड रोड में देखी गई थी या परसों होटल सीतायन में, वगैरह-वगैरह। इस दौरान उसके वकील पापा विनोद चतुर्वेदी सिविल कोर्ट में मुवक्किल फँसाने में लगे रहते थे...मैं उसी दरम्यान कभी राजनीति विज्ञान, कभी इतिहास के नोट्स या तो देने या लेने जाया करता। वह इसका एहतियात रखती कि चिट्ठी मेरे नोट्स के ही बचे हिस्से पर लिख दिया करती। कभी अलग से उसने कुछ नहीं लिखा।

वह आम तौर पर चिट्ठी-पत्री कुछ इस तरह से लिखती थी जैसे मेरे कपड़ों, मेरी चाल-ढाल, लिखने-पढ़ने आदि की तारीफ कर रही हो। वह इसी तरह के कुछ वाक्य अंग्रेजी में लिख दिया करती थी जो कि अक्सर अंग्रेजी के मुहावरे हुआ करते थे ताकि कोई अगर उसे पढ़ भी ले तो कुछ और न समझ ले। मैं ही उसे और-और समझाता रहा...उसके उन मुहावरेनुमा पत्रों को पढ़ने के चक्कर में उन्हीं-उन्हीं नोट्स को बार-बार पढ़ता रहा मानो मुझे बारहवीं का नहीं ग्यारहवीं का पर्चा देना हो।

उन सारे सपनों में जुड़ा सबसे नया सपना था-जानकीपुल।

शहर के एस.डी.ओ. साहब के अर्दली रामप्रकाश, जो हमारे ही गाँव का था, ने जो खबर दी थी उसके मुताबिक पुल का शिलान्यास भले ही सिंचाई मन्त्री अशफाक खाँ के हाथों हुआ हो लेकिन इस पुल के बनाने की असल जिद तो शहर के कलेक्टर साहब ए.के. सिन्हा की पत्नी डॉ. रेखा सिन्हा ने ठानी थी। रेखा सिन्हा असल में तो साहित्य की डॉक्टर थी यानी हिन्दी साहित्य की पी-एच.डी. थी और स्त्रीवादी रुझानों के कारण माँ जानकी या सीता की अनन्य भक्तिनी थी। माँ सीता की जन्मभूमि में ही अपने पति के पदस्थापन को वे माँ जानकी की असीम अनुकम्पा ही मानती थीं और इसलिए एक भी दिन वे बिना उनके दर्शन के नहीं बिताना चाहती थीं। उन्होंने ही एक दिन अपने पति को नाश्ते के वक्त यह सुझाव दिया था कि इस नदी पर अगर एक छोटा-सा पुल बन जाए तो माँ सीता की जन्मभूमि जाकर दर्शन करने में बड़ी सुविधा हो जाएगी।

माँ जानकी की जन्मस्थली नदी के दूसरी ओर तो दो किलोमीटर ही थी, लेकिन दूसरी ओर से आने में लगभग एक घंटा लग जाता था और रोज-रोज आना संभव नहीं हो पाता था...

कलेक्टर साहब को सुझाव पसंद आ गया था। उन्होंने आनन-फानन में शिलान्यास करवा दिया था। योजना थी अगले बजट तक पुल बनाने का काम शुरू हो जाएगा...

सारा मधुवन गाँव जानकीपुल के सपने में जीने लगा था। पक्की सड़क कुछ साल पहले ही बन चुकी थी और तभी से गाँव वालों की उम्मीद जगी थी कि अब उनके गाँव और शहर की दूरी खत्म हो जाएगी...

पुल के शिलान्यास की खबर के बाद मेरे दादाजी बड़े आशावादी हो चले थे। सतहत्तर के चुनाव में वहाँ महन्त केशवानन्द गिरि सांसद बने, जिनके बारे में बाद में यह कहा गया 'वे आँधी की तरह आए और तूफान की तरह चले गए'। उन्हीं महन्त जी ने और कुछ किया हो या न किया हो पर न जाने क्यों चुनाव-प्रसार के दौरान मधुवन गाँव के निवासियों से यह वादा कर आए थे कि अगर वे चुनाव जीत गए तो उस गाँव में जरूर पक्की कोलतार की सड़क बनवा देंगे और सबसे आश्चर्यजनक रहा कि न जाने क्यों चुनाव जीतने के बाद उन्होंने जाते-जाते सड़क बनवाने का अपना वादा पूरा भी कर दिया। अगर वे कुछ दिन और सांसद रहे होते तो उन्होंने जरूर वहाँ पुल भी बनवा दिया होता। लेकिन एक तो चुनाव जल्दी हो गए और दूसरे वे चुनाव भी नहीं जीत पाए।

जब तक पक्की सड़क नहीं बनी थी। मधुवन गाँव के लोग बड़े सन्तोषपूर्वक रहते और नदी के उस पार के जीवन को शहर का जीवन मानते और अपने जीवन को ग्रामीण और बड़े संतोषपूर्वक अपना सुख-दुख जीते। कोलतार की उस पक्की सड़क ने उनके मन को उम्मीदों से भर दिया था। दादाजी से मिलने कभी-कभी जब गाँव के एकमात्र रायबहादुर अलख नारायण सिंह आते तो यह चर्चा उनके बीच होती कि अब बस पुल की कमी है और हमारा गाँव किस मामले में शहर सीतामढ़ी से कम रह जाएगा? राय साहब चाय की चुस्कियों के बीच कहते, ''मेरे जीते-जी बिजली आई। पानी पटाने का बोरिंग आया, अब सड़क भी आ ही गई है तो पुल भी बन ही जाएगा।'' दादाजी भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते।

भले ही महन्त जी संसद का चुनाव हार गए लेकिन मधुवन वालों की आँखों में उम्मीद छोड़ गए थे। सपना छोड़ गए थे...

अब पुल का शिलायान्स तो जैसे उस सपने को सच में ही बदलने वाला था। मैंने पढ़ रखा था कि ऐसा सपना जिसे बहुत सारी आँखें एक साथ देखने लगें तो वह सपना नहीं रहता। वह सच हो जाता है...

जानकीपुल उस गाँव का ऐसा सपना बन गया था जो बस सच होने ही वाला था।

गाँव के बीचोंबीच एक पीपल का पेड़ था–पक्की सड़के के ठीक किनारे। गाँववाले पीपल को पाकड़ कहते थे और भविष्य के शहर का ख्याल करके उस जगह को उन्होंने चौक बना डाला और उसका नाम रख दिया–पाकड़ चौक। वहाँ पर बरसों से गाँव के रिक्शा चलानेवालों, बाजार में दिहाड़ी कमाने वालों को काशी चायवाला चाय पिलाया करता था और चाय के साथ खाने के लिए बिस्कुट वगैरह भी रखा करता था। उसने अपनी बाँस की खपच्चियों की जोड़ी हुई दुकान के बाहर शहर सीतामढ़ी के दूकानदारों की तर्ज पर टिन का साइनबोर्ड लगवा लिया था और उस पर लिखवा लिया था–'काशी की प्रसिद्ध चाय की दुकान, मेन रोड, मधुवन।' बस इन्तजार इसी का था कि एक बार जानकीपुल बन जाए और मेन रोड, मधुवन मेन रोड, सीतामढ़ी का हिस्सा बन जाए।

गाँव भर में पुल बन जाने के बाद के जीवन को लेकर चर्चाएँ चलती रहती थीं, योजनाएँ बनती रहती थीं। कोई अपनी जमीन पर मार्केट बनवाना चाहता था, कोई अपनी दुकान के आगे और पीछे घर बनवाना चाहता था। कभी खबर आती कि पटना के एक प्रसिद्ध स्कूल के मालिक आए थे, स्कूल के लिए जमीन खरीदने। कभी खबर आती कि शहर के एक प्रसिद्ध डॉक्टर वहाँ जमीन देखने आए थे, शायद नर्सिंग होम खोलना चाहते थे।

कुल मिलाकर, यही लग रहा था कि बस पुल बन जाए उसके बाद देखिए क्या-क्या होता है मधुवन में। दादाजी बुलाकी प्रसाद मिश्र ने अपनी कुछ अलग ही योजना बना रखी थी। मेरे पशु–चिकित्सा अधिकारी पिता जब छुट्टियों में आते तो दादाजी समझाते कि 'एक एकड़ जमीन है नदी के पास सड़क किनारे अपनी। बेच के बैंक में रख देंगे पैसा। दो–एक पीढ़ी तो बैठकर खाएगी ही।'

मैं उस दरम्यान जब भी इला के यहाँ नोट्स लेने–देने जाता या डायमंड क्रिकेट क्लब के बाकायदा सदस्य की हैसियत से क्रिकेट खेलने जाता तो बात-बात में उन सबको अपने गाँव में बन रहे पुल के बारे में बताता। इला अक्सर कहती कि अच्छा है एक बार पुल बन जाए तो मैं तुम्हारे गाँव गन्ना खाने आऊँगी या कभी आँवले का पेड़

देखने की बात कहती। जवाब में मैं कहता तब हमारा गाँव, गाँव थोड़े ही रह जाएगा। इला आश्चर्य से पूछती कि जब यह भी नहीं रह जाएगा तुम्हारे गाँव में तो क्या बाकी रह जाएगा वहाँ? मैं सोचता रह जाता था।

मेरी बारहवीं की परीक्षा आ गई। इला की ग्यारहवीं की। दोनों ही अच्छे नम्बरों से पास हुए। इला बारहवीं में आ गई लेकिन उसकी बारहवीं में नोट्स पहुँचाने, किताब पहुँचाने के लिए मैं सीतामढ़ी में नहीं रह पाया। मैं आगे की पढ़ाई करने के लिए दिल्ली आ गया।

यह बात बीस साल पहले की है।

अब मैं नन्दू भाई को क्या बताता कि इन बीस सालों में क्या–क्या हुआ! पुल के बारे में तो मैं भी भूल चुका था। उनको पता नहीं कैसे सुमात्रा में बैठे–बैठे जानकीपुल की याद आ गई थी।

हुआ यह कि कलेक्टर ए.के. सिन्हा साहब का तबादला हो गया और उनकी पत्नी पुल पारकर जानकी जन्मभूमि देखने का सपना सँजोए ही रह गईं। उसके बाद जब भी मैं दीपावली के आस–पास छुट्टियाँ बिताने गाँव आता तो यही खबर सुनता कि अगले बजट में पुल जरूर बन जाएगा। हर साल जब बजट का पैसा आता तो नदी में बाढ़ आ जाती और जब बाढ़ का पानी उतरता तो बजट समाप्त हो चुका होता था। इस प्रकार हर साल जानकीपुल का निर्माण–कार्य अगले बजट तक के लिए टल जाता।

छुट्टियों में जाता तो इला से मिलने का कोई बहाना नहीं रहता था। उसके पास तो फोन था लेकिन तब आज की तरह गली–गली पी.सी.ओ. बूथ नहीं खुले हुए थे कि आप गए दो रुपए दिए और फोन पर बात हो गई। तब फोन बड़े–बड़े लोगों के ही पास होता था। मैं गाँव में रहता था और मेरे पास फोन होने का सवाल ही नहीं उठता था। दिल्ली जाने के कुछ साल बाद जब मैंने अपने दोस्त श्रीवल्लभ के घर से पहली बार इला को फोन किया तो पता चला उसकी शादी अमेरिका में रह रहे किसी सॉफ्टवेयर इंजीनियर से तय हो गई थी। उसने मुझे मिलने के लिए बुलाया। समय तब भी ग्यारह से एक का ही रहा। उसे शायद अच्छा लगा हो कि इतने साल दिल्ली रहने के बाद भी मैं उसे भूला नहीं था और उसके एक बार कहने पर ही तत्काल उससे मिलने पहुँच गया। उस मुलाकात में मैंने उससे कुछ निशानी माँगी थी। आखिरी ताकि उसकी याद रहे। उसने अपनी तस्वीर पीछे 'विद बेस्ट विशेज' लिखकर मुझे दिया। मैंने भी अपनी तस्वीर उसे देनी चाही तो उसने हँसते हुए कहा, ''इतना छोटा–सा तो तुम्हारा चेहरा है,

हमेशा मेरे दिल में बसा रहेगा।'' मैं जेब में उसकी तस्वीर सँभाले लौट आया था।

वह इला से मेरी आखिरी मुलाकात थी। न मेरे गाँव में पुल बना न वह उसे पार कर गन्ना खाने, आँवला खाने वहाँ आ पाई। वह अमेरिका चली गई। हडसन और मिसीसीपी नदी पर बने पुलों को पार करते हुए...

नन्दू भाई हांगकांग चले गए थे। इसी बीच दादाजी का देहान्त हो गया था और मरते वक्त उन्होंने मेरे रिटायर्ड हो चुके पशु–चिकित्सक पिता की आँखों को अपना सपना दे दिया था। उन्होंने कहा था कि पुल बनेगा जरूर इसलिए जमीन बेचने में हड़बड़ी मत करना। इन दिनों पिताजी गाँव में रहते थे और आस–पास के इलाके में पशुओं के अचूक चिकित्सक के रूप में जाने जाते थे।

बुआजी नागपुर में बस गई थीं, चाचाजी लखनऊ में, मामा कलकत्ता में, दीदी बिलासपुर में। सब टेलीफोन से रिश्तेदारी निभाते रहते थे। नदी पर पुल नहीं बना तो क्या उन्होंने टेलीफोन के ही पुल बना लिए थे।

नन्दू भाई से काफी दिनों तक कोई सम्पर्क नहीं रह गया था। भला हो इंटरनेट का, पिछले चार–पाँच सालों से उसने हम भाई–बहनों को फिर से जोड़ दिया था। मैंनें नन्दू भाई को ई–मेल किया था कि दिल्ली में पिछले चार–पाँच सालों में इतने फ्लाईओवर बन चुके हैं कि पहचानना मुश्किल पड़ जाएगा।

ऐसा नहीं है कि इन बीस सालों में मधुवन गाँव के लोग उस पुल को भूल गए हों। इस बीच गाँव में हाथ–हाथ मोबाइल आ गया था, रंगीन टेलीविजन आ गया था, सामूहिक जेनेरेटर आ गया था, स्कूल खुल चुका था और जानकीपुल...

कई बरसों बाद जब मैं पिछली बार दीपावली पर घर गया था तो पिताजी ने बताया था कि अगले बजट में पक्का बन जाएगा...

सोच रहा हूँ नन्दू भाई को यही ई–मेल कर दूँ। गाँव में अब भी लोग पाकड़ चौक पर बैठते हैं तो जानकीपुल की चर्चा चल पड़ती है। भले ही उसका शिलान्यास का पत्थर अब पहचाना नहीं जाता और वह सड़क जिसने पुल का सपना गाँववालों की आँखों में भरा था, वह भी जगह–जगह से टूटकर बदशक्ल हो चुकी थी। गाँववालों अब भी यही सोचते हैं कि एक बार पुल बन जाए सब ठीक हो जाएगा–जानकीपुल।

प्रभात रंजन

3 नवंबर, 197 को सीतामढ़ी, बिहार में जन्मे प्रभात रंजन ने कहानी लिखना कुछ देर से शुरू किया, लेकिन अपनी पहली ही कहानी से चर्चित हो गए। वर्ष 24 में 'सहारा समय कथा चयन' में इनकी पहली कहानी 'जानकी पुल' को प्रथम पुरस्कार के लिए चयन किया गया। 'जानकी पुल' शीर्षक से पहला कहानी–संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। 'बहुवचन' में सहायक संपादक और कुछ अंकों का संपादन भी कर चुके हैं। कुछ दिनों तक 'जनसत्ता' और 'आलोचना' से भी जुड़े रहे हैं। अनुवाद में सिद्धहस्त हैं, विक्रम चन्दा का उपन्यास 'श्रीनगर कांस्पिरेसी' और अनै फ्रैंक की डायरी 'एक किशोर की डायरी' का अनुवाद कर चुके हैं। अंग्रेजी साहित्य खूब पढ़ते हैं और उसपर लिखते भी हैं।

रंगमहल में नाची राधा

–नीलाक्षी सिंह

तो वह एक सुखी परिवार था, हर लिहाज से सुखी। सुदामा प्रसाद, एम.ए.बी.एल. अपने जमाने के मुँहफट वकली। इस जमाने तक जबान सही–सलामत आबाद थी। हालाँकि धार कुन्द हो चली थी... वक्त की मार। बहरहाल वे बासठ की उम्र में हट्टे–कट्टे थे। पंजा लड़ाने में आज की तारीख में, वे एक तरफ...और दोनों बेटे और तीन पोते एक तरफ हों, तब भी उनका पंजा ही ऊपर रहे, ऐसा हौसला। वैसे ये कोई खास हैरतअंगेज बात न हुई। आजकल के बेटों–पोतों में ताकत होती ही कितनी है। नए चलन में ताकत का केन्द्र शरीर की जगह दिमाग हुआ करता है। दिमाग मजबूत और शरीर पिलपिला। सुदामा प्रसाद अपने ओरिजिनल दाँतों से ईख की मोटी लग्गी सटाक से छीलते और पोतों को छोटी–छोटी गुल्लियाँ बनाकर देते, ताकि रस चूसने में सहूलियत हो। उनकी इस जवाँमर्दी से पोते किलकते और बेटों के मसूरों में टीस उठती। ठहाके वगैरह लगाने में वे परहेज नहीं करते और जितनी हसरत से क्रिकेट मैच देखा करते, दूरदर्शन धारावाहिकों के साथ भी वही सलूक होता। शहर में जब केबल के कनेक्शन का फैशन आरम्भावस्था में था, तभी उन्होंने एक पतला सफेद तार अपने घर में खिंचवा लिया था। और 'स्टारप्लस' उनका पसंदीदा चैनल था। सारत: वे स्वस्थ थे, मस्त थे और जीवन को चुस्कियों में पीते हुए भरपूर मजे से जी रहे थे।

दीवानबाई किस्से की तरह चंचल थी। छलिया सुपारी की शौकीन। उसके होंठ के पोर ताजे पान की लाली से सिले मिलते और आँखों के नीचे–ऊपर काजल होता था। एड़ियों में आलते की लाली और पल्लू के आखिरी छोर में चाभियों का काल्पनिक गुच्छा! दीवानबाई के हाथों में आज भी घर की दीवानी मौजूद थी।

दीवानबाई कहानी की तरह गंभीर थी। उसकी भौंहों के बीचों–बीच चवन्नी बराबर लाल सिन्दूर की बिन्दी रहती थी जो दिल ढलते–ढलते थोड़ा ऊपर की तरफ तिरछी लिप जाया करती थी। अपनी भौंहों के उठान–गिरान की तरह ही वह घर के पैबन्द और मखमल वाले–दोनों दिनों की साक्षी थी। सुदामा प्रसाद के साथ जब उसकी भाँवरें पड़ीं, तब दीवानबाई बमुश्किल सतरह–अठारह की रही होगी। हालाँकि उस जमाने में वर या वधू की रजा या नामर्जी जैसे सवालों का कोई रिवाज नहीं हुआ करता था। फिर भी देखें तो दीवानबाई की नामर्जी की घोर उपेक्षा करके उनका कन्यादान किया गया था। और इधर सुदामा प्रसाद के घर की लचर हालत चरमावस्था पर थी। सुदामा प्रसाद कानून की दाँवपेंच से भरी खर्चीली पढ़ाई पढ़ रहे थे और उनके स्वर्गीय पिता की धरी–छोड़ी पूँजी से उनकी पढ़ाई का खर्च चल रहा था–लोग ऐसा जानते थे। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही थी। सुदामा प्रसाद अपने माँ–बाप के बुढ़ापे की इकलौती सन्तान थे। उनके पिता मरे थे जरूर, पर बिना कुछ छोड़े। उस जमाने में शरीफ जाति की औरतें दिन–दहाड़े बाहरी काम नहीं किया करती थीं। तो उनकी उम्रदराज कुलीन माँ रात के अँधेरे में मुँह ढाँपकर रेलगाड़ियों में मूँगफली, भूँजा आदि–आदि बेचा करती थीं और दिन के उजाले में बचे–खुचे गहने और धराऊँ बरतन। इन दुबले–पतले पैसों से उनकी गाड़ी खिंचती थी। निम्न मध्यमवर्ग की हकीकतें कभी–कभी बड़ी चौंकाऊ हुआ करती हैं। दीवानबाई ब्याह के बाद जब इस हकीकत से रूबरू हुई तो उसकी चेतना सुन्न रह गई। पर जल्दी ही वह इस सदमे से उबर गई क्योंकि इससे बड़ा सदमा सामने था। एक रात, इसी तरह गाड़ियों से चढ़ने–उतरने वाले खेल में ट्रेन से उतरते वक्त सुदामा प्रसाद की माँ के कुलीन अभ्यस्त पैर साड़ियों में उलझ गए और गाड़ी एक सिसकी लेती हुई खच...खच...खचाक से रुकी और दो मिनट बाद फिर चल पड़ी। बिनबिकी मूँगफली, जो प्लेटफॉर्म और पटरियों पर छितर गई थीं उनसे उस रात कुत्तों का अच्छा भोज हुआ, पर तेरह दिन बाद सगे–सम्बन्धियों और ब्राह्मणों को जिमाने के लिए एक छोटे भोज का प्रबन्ध अच्छा न हो सका। माँ की दुआ, वक्त का फेर, दीवानबाई की किस्मत...जो कहें घटना के तुरन्त बाद सुदामा प्रसाद को एक राशन–पानी की दूकान पर छोटी–मोटी नौकरी मिल गयी। दीवानबाई ने खुशहाल, बचपन और सुस्त जवानी के कौमार्यावस्था वाले दिनों के अपने सीखे हुनरों को चमकाया और कुछ सादे कपड़े उसके घर आने लगे और उस घर से जाते वक्त उन कपड़ों पर किस्म–किस्म के फूल पत्ते–डालियाँ कढ़े होते। कशीदे के पैसों से दाल–नमक का जुगाड़ हुआ और बनियागिरी के पैसों से पढ़ाई पूरी हुई। फिर शुरू हुई वकालत और दिन पलट गए।

अब तक की कहानी से एक सवाल बनता है। ब्याह में दीवानबाई की नामर्जी थी, ऐसा क्यों? इसके बारे में थोड़ा ठहरकर। अभी सुदामा प्रसाद और दीवानबाई के कुल में उत्पन्न दोनों बेटों की बात। मूँगफली वाली बुढ़िया की तर्ज पर ही दीवानबाई को भी अपेक्षाकृत अधिक उम्र में मातृत्व सुख मिला। हालाँकि इन दो औरतों के इस संयोग की पृष्ठभूमि निहायत अलग थी। पहली जहाँ ईच्छा, आवश्यकता और प्रयास तीनों की उपस्थिति में भी उम्र ढलने पर माँ बन पाई थी, वहीं दीवानबाई के मामले में इच्छा तत्त्व का घोर अभाव था। फिर भी वह सास जितनी विलम्ब का शिकार होने से बच गई और ब्याह के दस साल बाद उसकी गोद में पहला बेटा आया। फिर दूसरा। दोनों बेटे जमाने के लिहाज से अपेक्षाकृत सपूत निकाले। बहुओं के स्वभाव में चंचलता, स्वतन्त्रता और उग्रता का हलका पुट था जरूर पर घर इस तरह सुदामा प्रसाद और दीवानबाई के शिकंजे में जकड़ा था कि उन्होंने अपनी इन भावनाओं को फिलहाल सुप्तावस्था में रहने देना ही श्रेयस्कर मान लिया था। बड़े बेटे के एक लड़का था और छोटे के दो। सुदामा प्रसाद इस बेदाग पुत्रों की नस्ल से गदगद थे और सन्तुष्टि थी कि अपने खानदान को कन्या के ग्रहण से अभी तक साबुत बचा लाए थे वे। बेटे पढ़ने-लिखने में कोई खास करिश्मा करते नहीं नजर आए थे तो उन्होंने अपने आरंभिक पेशे की ओर रुख किया। अब बड़े बेटे का एक काम-चलाऊ जनरल स्टोर था और छोटे का एस.टी.डी. बूथ कम फैक्स-जीरॉक्स सेन्टर। पोते अभी दूध चावल के दाँत के बीच की उम्र में थे।

समय अपनी सम गति से चल रहा था, जब अचानक ये घटना घटी। इस घटना के प्रभाव के सूत्र को समझने के लिए बीच में छूट गए उस प्रश्न का उत्तर आवश्यक है। सन् उन्नीस सौ तिरसठ-बासठ। वह जमाना, जब दीवानबाई उलटी पल्ला साड़ी पहने और रिबन से कसकर बाँधी गई दो मुड़ी-मुडी चोटियों को कानों पर लटकाते, शहर के इकलौते वीमेन्स कॉलेज में पढ़ने जाया करती थी। तीन मकान छोड़कर चौथे मकान के लगभग हमउम्र पर सम्पन्न विजातीय लड़के से उनका प्रेम हुआ। तत्कालीन अर्थों वाला प्रेम, और प्रेम होने की स्थिति और उसे करने का तरीका भी वही, जो उस जमाने में खूब चला हुआ था। पहले छत से देखा-देखी, फिर गली में कभी आते-कभी जाते नजरों का टकराना, या फिर मेले में, या फिर कॉलेज के बाहर...आदि-आदि। सम्वाद अदायगी के नाम पर एक रोज कॉलेज के बाहर बस नाम वगैरह का आदान-प्रदान हुआ था। बाकी समय बस मूक सन्देशों का ही सहारा था। लेकिन ऐन वक्त पर दीवानबाई के पिता खलनायक के गेट-अप में मंच पर नमूदार हुए। वे पेशे से वकील थे लिहाजा लॉ-कॉलेज में भी पढ़ते थे। और वहीं से उन्होंने एक जहीन पर आर्थिक

मोर्चे पर पस्त हाल जवाँई ढूँढ़ा अपने लिए। फायदा दोहरा। वर के सुयोग्य निकलने की गारन्टी थी और कमजोर हैसियत के पितृहीन वर को अपनी हैसियत की धाक दिखाकर मुक्त में कन्यादान निबटाए जा सकने का मौका भी था। दीवानबाई से न मर्जी पूछी गई ना उसने बताई। बस जिबह होने के लिए अपनी गरदन आगे बढ़ा दी। दूल्हा प्रसन्न, प्रेमी अवाक।

दीवानबाई अग्नि के फेरे लेने के बाद सरद गई। ठंडी सिल पर गृहस्थी की शुरुआत हुई। आरम्भ के दिन तो ताजे-ताजे बहूपने को सँभालने में गुजर गए और ट्रेन वाले हादसे में सुदामा प्रसाद की माँ के गुजरते ही दीवानबाई एकदम से सख्तजान बन गई। वह दिन-भर खटने लगी और अपने आपको काम में लसेड़े रही। पर किसके लिए? किसी और के लिए नहीं। शायद अपने लिए। ताकि यादों से और उन अँधेरों के सपनों से पीछा छुड़ाया जा सके। लेकिन अगर ऐसा संभव हुआ होता तो दुनिया की शायद हर प्रेम कहानी अधूरी रह जाती। कशीदा काढ़ते-काढ़ते उसी उँगलियों में सूई चुभ जाती कभी, तो आह उस तीन घर छोड़कर चौथे घर वाले के नाम की ही निकलती थी। जब कपड़े देने वाले, वापस उन्हें ले जाने लगते और दीवानबाई की मुट्ठी सिक्के और खुदरा रुपयों से भरी होती, तब अनायास उसका दिल चहकता-इन पैसों से उस मंगल मूरत, साँवली सूरत के लिए क्या खरीदा जाए। पर उसी तेजी से उसका दिल बैठ भी जाता और उसके होंठ सूख जाते वर्तमान के ताप से। लोगों ने कहा दीवानबाई की मेहनत रंग लाई...उसका पति वकील बन गया। दीवानबाई ने सुना उसका प्रेमी दिन-रात मेहनत कर रहा है...बाप के बाद उसका कारोबार बखूबी सँभाल लिया है उसने। तो दोनों अपने प्रेम की धार छिपाने के लिए और किस्मत की मार को भुलाने के लिए ताबड़-तोड़ मेहनत किए जा रहे थे! दीवानबाई जब पन्द्रह-बीस मिनट रिक्शे की सवारी कर अपने मायके पहुँचती तो शाम के लुकझुके में उसकी आँखें तीन घर पार वाली छत से चिपक जातीं। कहीं...कुछ...दिखे। शक्ल न...आकृति सही। एक बार दीवानबाई का बहुत टूट-फूटकर अम्मा-पापा-मामा बोलनेवाला डेढ़ साल का बेटा जब उस घर से दिन-दहाड़े कुछ फूल चुरा लाया था, तब दीवानबाई ने जमकर उसे पीटा था। फूल चुराने के लिए नहीं...बल्कि इसलिए कि दीवानबाई के लाख माँगने पर भी बच्चा उसे वे फूल देने को तैयार न था। बच्चे ने मार खा ली, पर मुट्ठी नहीं खोली। उसके सो चुकने पर दीवानबाई ने ढीली पड़ चुकी मुट्ठी की उँगलियाँ सीधी कीं और पसीने से नहाई बेली की तीन कलियाँ वहाँ से निकालीं। उन तीन मुरझाईं कलियों को अपनी हथेली पर खिलाया, आँसुओं से धो-धोकर। दीवानबाई जब उन कलियों को भरपूर प्यार कर चुकने के बाद अपने आँचल में बाँध, सहेज लेने चली,

तब बेली की एक नन्हीं पंखुड़ी उसके निचले होंठ के पोर से चिपकी रह गई। दीवानबाई की जवान आँखों के सामने उसके प्रेमी का घर बसा। उसकी बाल-बच्चेदार, लँदी-फँदी आँखों के सामने उसके प्रेमी के घर किलकारियाँ गूँजी। उसके चलनी के उस पार से चाँद और सुदामा प्रसाद को बारी-बारी से देखती आँखों के सामने उसका प्रेमी विधुर हुआ। उसके दूर की चीजें धुँधली दिखाई पड़ने वाली आँखों के सामने उसके प्रेमी के बाल सफेद हुए और अब...थोड़ा भी जोर देकर या लगातार कुछ देखने पर पनिया जाने वाली आँखों के सामने उसके प्रेमी के दोनों बच्चे अपने परिवार समेत, कार-दुर्घटना में मारे गए।

छोटा शहर था। कस्बा कहें, बात सींझते गोश्त की खुशबू की तरह फैलती थी। शहर का एक इज्जतदार भला आदमी और ऐसी विपदा! श्याम! श्याम! स्त्रियों की आँखें भर आई थीं और पुरुषों ने लम्बी आँहें लीं। सुदामा प्रसाद शाम की तफरी से घर को लौटे और उनके बदहवास होंठों पर ये खबर थी। घर में टी.वी. पर अन्ताक्षरी देखने की तैयारी थी। सब अपना-अपना आसन ग्रहण कर चुके थे। बस उनकी ही प्रतीक्षा थी। दीवानबाई चश्मा चढ़ाकर जल्दी-जल्दी सुबह के पाले के चावल बीन रही थी। यही दृश्य था जब मंच पर सुदामा प्रसाद ने आँहें भरते हुए वो नाटकीय संवाद प्रेषित किया। सभी लोग थोड़ा-थोड़ा होंठ खोलकर हक्के-बक्के रह गए। पर सबसे गहरा भाव दीवानबाई के चेहरे पर उभरा। बारीक नजरों से जायजा लें तो उसके चेहरे पर रेशमी डोरे जैसी महीन कई छोटी-छोटी रेखाएँ उभरी थीं। दीवानबाई के आगे के सारे कंकड़ और चावल एक रंग के हो गए। ये तो भेद के मिटने की शुरुआत थी। इसके आगे अपना-पराया, जायज-नाजायज, उचित-अनुचित, सही-गलत...सबके भेद एक-एक कर मिटने लगे उसके आगे से। वह चुपचाप उठकर अपने बिस्तर तक गई। छप्पन साल की उम्र में दो जवान बेटों की माँ दीवानबाई चित्त लेटी थीं। उसकी पलकें पथराई-सी अँधेरे में टँगी थीं। उनपर एक नवजात माँ के तुतले दूध की बूँदें फैल रही थीं। ये वे बूँदें थीं, जिन्हें उसकी युवावस्था ने सँभालकर रखा था अपने पहले प्रेमी से उत्पन्न सन्तानों के स्वागत के लिए और जिन्हें वह वृद्धावस्था की दहलीज पर लुटा रही थी उन सन्तानों को आखरी विदाई देने के लिए। उसके गले से एक बेसुध चीत्कार निकली और हिचकी और आँसू गड्डमड्ड पड़ गए। परिवार उसका, इस खबर के बाद धीमी आवाज में टी.वी. देख रहा था। लिहाजा दीवानबाई का विलाप उन्हें उसके कमरे तक खींच लाया। बड़े बेटे ने दीवानबाई को कसकर थामा... दीवानबाई तो भेद मिटाने की मुहिम पर थी... उचित-अनुचित, सही-गलत। ऐसी रुलाई, ऐसी चीख...कौन कहेगा कि जो बच्चे मरे, वे बिना माँ के थे। दीवानबाई के माथे पर बहुओं ने ठंडा तेल

चपोड़ा। तलुवों की मालिश की। पानी पिलाया और उसे अच्छी तरह ढंक-दाब कर सुलाया...दीवानबाई अर्धचेतना में रातभर चौंकती रही।

सूरज चैतन्य कर गया। आगे रात की आधी-अधूरी कड़ियों वाली कहानी थी। गड्डमड्डु-सी स्मृतियाँ थीं। उसने चिहुँककर अपनी साड़ी का अगला हिस्सा टटोला...कलेजे पर वाला। भीतर के कपड़ों का सूखापन परखा। वहाँ बूँदों की सिम-सिम स्मृति पसरी थी। मतलब? रात भर!

घर गंभीर था। लोग विचलित से थे और तीनों बच्चे आतंकित थे... दीवानबाई से। उसने दरवाजे की ओट से अपने कमरे में झाँकते सबसे छोटे पोते को इशारे से अपने पास बुलाया और आँचल में दुबका लिया। बच्चे ने अपनी नन्हीं उँगली उसकी नाभि में फँसा दी और दीवानबाई ने आँखें बन्द कर लीं। उसकी आँखों से फिर हाहाकार करते आँसू टपकते थे। उसने बच्चे को कसकर चिपकाया अपने से और आँसू पोंछकर अपने आपको मजबूत बनाया और वापस अपनी दिनचर्या में डूबने की कोशिश की।

रात हुई। सब सो चुके थे। दीवानबाई आँखें खोले लेटी थी। सुदामा प्रसाद ने उसकी ओर करवट फेरी तो नाइट बल्ब की शान्त नीली रोशनी में उसे ऐसे जागता हुआ देखकर हड़बड़ा गए। वे धड़फड़ी में उठे और दीवानबाई के ठंडे माथे पर तलहथी रखी अपनी। दीवानबाई ने पुतलियाँ उनकी ओर फेरीं, उसने नीले धुँधलके में उस इन्सान को देखने की कोशिश की जो उसका सबकुछ था... जो उसका कुछ नहीं था। कहाँ कमी रही गई इस रिश्ते में-दीवानबाई के भीतर तेजी से यह सवाल उठा... कहाँ तीव्र आकर्षण था उस रिश्ते में?... उसी जगह से पहले सवाल के जवाब में दूसरा सवाल उठा। सुदामा प्रसाद ने उसे खींचकर अपनी बाँहों में समेट लिया। दीवानबाई के ऊपर एक ठंडी परत चढ़ गई और ठीक उसी वक्त उसने महसूस किया कि उसके भीतर नादानी वाली उमर की वही तपिश अभी तक बाकी थी, जिसे मायके की दहलीज पर चुनवा आई थी वह बरसों पहले...कभी।

पर दीवानबाई और सुदामा प्रसाद की गृहस्थी की नींव ऐसी कच्ची थोड़े न थी! माना कि आधार उनके सम्बन्धों का सीली हुई जमीन पर रखा गया था। पर जमीन सीली हुई थी, दरकी हुई तो नहीं! दीवानबाई फिर घर-संसार के छोटे-छोटे कामों में उलझ-पुलझ गई थी। सुदामा प्रसाद और बेटों को चाँक से नीम का उबला पानी पिलवाना, पोतों की उँगलियाँ पकड़कर सड़क पार करवाना, बहुओं के लिए फेरीवाले से मोल-तोल पर चूड़ियाँ खरीदना, सूखे धनिया के स्वस्थ मोटे-गोटे को सिल पर दररना, चावल और कंकड़ को एक-दूसरे से अलग करना...दीवानाई वक्त की रफ्तार

से कदम साधकर चलना चाहती थी, पर अपने साथ छल करने के जुनून में कभी वक्त से आगे निकल जाती। कभी वक्त को पीछे छोड़ देता। और एक रोज वक्त उसके साथ छल कर गया...घटना के लगभग महीने भर बाद दीवानबाई छोटे पोते को साथ लिए मायके गई। मायके में सुख-दुख, हारी-बीमारी, हर तरह के हिस्सों की गाँठें खुल गईं। गप्प की बुनावट जब महीन और तराशी हुई सधने लगी, तभी किसी का ध्यान उचटा। और उस 'किसी' को यह ध्यान आया कि नन्हा मेहमान नदारद है। पल में गप्प-गोष्ठी बिखर गई और खोज मच गई। अब उसे क्या कहें कि दीवानबाई के आँचल में बेली के कलियों की तीन आत्माएँ सुगबुगाईं और उसके नथुने ताजी सुगंध से भर गए। सुध-बुध खोई पोते की तलाश में वह सीधे जाकर वहीं खड़ी हो गई, जहाँ पोता मौजूद था। इस बार पौधे बेली के नहीं थे...हरसिंगार की छतनार छाँह थी। अल-सुबह के चू गए हरसिंगार के फूल थे जमीन पर, जिन्हें नन्हा देवदूत मस्ती से बैठा चुने जा रहा था और उसे देखती दो मुग्ध आँखें थीं...जहाँ-तहाँ बेदर्दी से सफेद हो चुके केश थे, एक दुबली काया थी, लहराती उज्ज्वल धोती की फहक थी, बेदाग सफेद कुर्ता था... और नफासत भरी कोल्हापुर की चप्पल थी। दीवानबाई को धड़कनों का होश न था। उसका जूड़ा ढलक चुका और आँचल छितरा पड़ा था। सीना साँसों को लिए-लिए ऊपर जाता और फिर पछाड़ खाकर खुद को समेट लेता था। उसके खुले पाषाण चक्षुओं ने महसूसा किसी के अपनी ओर तल्लीनता से देखकर बढ़ते आते कदमों की आहट को। इतनी नजदीकी थी कि अगर सामने वाले की आँखों से कोई आँसू चूता तो दीवानबाई झटके से चेहरा आगे बढ़ाकर उन आँसुओं को अपनी जिह्वा पर ले सकती थी, उसकी आँखों में कोई कुछ खोज रहा था। किसी ने तो नहीं किया आज तक ऐसा! बाहर-बाहर जिसे जितना मिला... उसके आस-पास के लोग उतने से ही तो मतलब रखते आए थे आज तक। ऐसे भीतर जाकर कुछ खोज निकालना! उसकी इच्छा हुई कि सामने वाले की आँखों को जिस चीज की तलाश थी उसमें, वह उसे और भीतर छुपा ले अपने, ताकि उस चीज की खोज में वे आँखें उसके भीतर तक उतर सकें। आँखों से भी भीतर और भीतर... लेकिन तभी... बीच में ही सामनेवाला चेहरा पीछे मुड़ गया और धीरे-धीरे उससे दूर होता गया। वह मंत्रबिद्ध-सी सूत के माहे में फँसी-फँसी उसके पीछे बढ़ने लगी। घर के चबूतरे तक जाकर आगे वाले पैर थम गए और उसने पीछे मुड़कर दीवानबाई को बैठने का इशारा दिया। दीवानबाई बैठ चुकी। उसके बगल की जगह भी भर गई। उनके ठीक सामने हरसिंगार की वो छाँह थी, जिसके नीचे दो नन्हीं हथेलियाँ लगातार फूल चुने जा रही थी। बच्चा दीवानबाई की मौजूदगी से बेखबर था। दीवानबाई अपने आपकी मौजूदगी से बखेबर थी। सुख से पगे कुछ पल।

बरामदे पर बैठे दो लोगों के घुटने के बीच बित्ते भर से भी कम का फासला था। दोनों की नजरें उस फासले पर ही टिकी थीं। तभी बच्चा उठा। उसे सामने दीवानबाई दिख गई। उसकी फूलों से भरी दोनों मुट्ठियाँ खुल गई और हरसिंगार झहड़ कर वापस नीचे बिखर गए। दीवानबाई की बगल से कोई तेजी से उठा और पलक झपकते में वह लम्बी-सी परछाई बच्चे के पास थी। बच्चा तलहथी छितराए हतप्रभ-सा खड़ा था। परछाईं झुककर वापस उन फूलों को चुनने लगी। जो काम बच्चा इतने परिश्रम और इतमीनान से लम्बे-लम्बे मिनटों में कर पाया था, वही काम यहाँ क्षणों में सम्पादित कर दिया गया था, बच्चे की हथेलियाँ वापस फूलों से भर गईं, बच्चा प्रसन्न कम, विस्मित अधिक था। बच्चे के पास जो परछाई आई थी, वह उलटे पाँव लौट गई। इस बार धीमे कदम और अब वही परछाईं दीवानबाई पर पड़ती थी। दीवानबाई ने गरदन उठाकर आँखें मिलाईं और वह उठने का प्रयास करने लगी। पर घुटने अकड़े पड़े थे। वह उठ नहीं पाई। उसने पास की दीवार पकड़नी चाही कि तभी एक खुली हथेली उसके सामने बढ़ी, जिस पर हरसिंगार का एक सूखा फूल चिपका था। दीवानबाई के हाथ बगैर सोचे-समझे स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ गए, उस हथेली में अपना भार सौंप देने को। दीवानबाई उठ खड़ी हुई। उसने अपनी और सामने वाले की हथेलियों के बीच हरसिंगार की उपस्थिति महसूस की और तीसरे किसी की मौजूदगी से उसे लज्जा हुई। उसने अपनी हथेली वापस खींच ली। एक हथेली सामने बढ़ी ही रह गई जिस पर हरसिंगार... दीवानबाई का कलेजा धौंकने लगा। वह हड़बड़ाकर बच्चे के पास आई और उसे कन्धे से पकड़कर खींचती हुई बाहर ले जाने लगी। बच्चा मुड़कर पीछे देखता रहा अपने शुभचिन्तक को, पर वो जो थी दीवानबाई-मुड़ी नहीं वापस।

दीवानबाई ने आइने में सबसे छिप-छिपाकर अपने-आपको देखा। हैरत, गुस्सा। ठीक माँग के पास से सफेद हो आए केश, आँखों के नीचे... बीच गाल पर काली झाइयाँ, पसीना, चिपचिपाहट, चेहरे पर सूजन। इतने दिनों बाद दिखी भी तो ऐसा रूप लेकर! इस खयाल पर घिन-सी आ गई उसे अपने ऊपर। ऐसे वक्त में जब वो शख्स अपने बच्चों की मौत का दर्द झेल रहा था, क्या उसका ध्यान दीवानबाई की शक्ल, रंग-ढंग पर गया होगा! पता नहीं उसने उसमें दीवानबाई को देखा भी होगा या उसके मन की दशा ऐसी होगी कि उसे उसमें एक साधारण औरत नजर आई होगी। कोई भी हो सकने वाली औरत। परिचित-अपरिचित। कैसी भी। नन्हें हरसिंगार चुनते शिशु को निहारती उसकी वात्सल्य भरी दृष्टि किसे ढूँढ़ रही होगी? यह सोचते दीवानबाई का सीना भर आया। उसके मन में अपने प्रेमी के लिए पहली बार वात्सल्य जागा...

दीवानबाई मायके से अपने पुराने दिन के सपने वापस लाई थी। अब उसका चौतन्य उसे जबरदस्ती आइने के सामने से अलग करता। हल्का रंग अब अपनी उम्र के मुताबिक नहीं लग रहा था... चटक रंगों की जीवन में वापसी थी। चेहरा सौन्दर्य के तमाम घरेलू नुस्खों की पृष्ठभूमि बना पड़ा था और मन! मन तो मक्खन-सा छताकर पानी के ऊपर-ऊपर तैर रहा था। एड़ियों को झाँवा पत्थर से रगड़ते-रगड़ते दीवानबाई सोचती... अब तक अपने को साफ-सुथरा रखने का...सँवारने का खयाल किए बगैर जिन्दगी कैसे गुजर गई! और अभी भी जब उसमें सामने वाले को एक साधारण औरत ही दिखाई दी थी, तब ये सब फिर किसके लिए! नहीं... वो दीवानबाई को देखकर ठिठकना, उसकी ओर बढ़ता चला आना, वो हाथों का सहारा और वो मौन की भाषा... वो सब सिर्फ और सिर्फ उसी के लिए थे। दीवानबाई के लिए।

अपने पोतों के पीछे थाली लेकर... कौर बनाकर घूमते हुए... उनसे खा लेने की मनुहार करते हुए। उनका मुँह अपने आँचल में पोंछते हुए... अक्सर वह भटकने लगी। आगे-आगे दौड़कर उसे छकाता बच्चा कब कनपटियों पर सफेद बाल वाला रूप धर लेता, कुछ होश ही न रह पा रहा था। कौन रखता होगा उसके खान-पान का ध्यान! रात को सोऐ में अचानक खाँसी का दौरा आ जाता होगा तो कौन एक गिलास पानी तक लाकर देता होगा! कुर्ते मैले पड़ रहे हैं या चप्पल घिस रही है या वजन कम हो रहा है... कौन दिलाता होगा इसका ध्यान! दीवानबाई सोई रातों को उँगलियों से टटोल-टटोल कर बिस्तर पर कुछ ढूँढ़ती। उसका प्रेमी एक नवजात शिशु में सिमट आता... पूरी तरह से बस उस पर आश्रित। उसका खाना, सोना, पीना, नहाना सब दीवानबाई पर निर्भर। वह भूखा होता तो उसके होंठ दीवानबाई को तलाशते... उसे नींद आ रही होती तो उसकी आँखें दीवानबाई को ढूँढ़ती... दीवानबाई ने अपने सीने को दोनों बाँहों की गिरफ्त में कसकर जकड़ लिया... ये कैसा प्रेम था जो मातृत्व में, वात्सल्य में घुल-मिल जाता था!... क्या औरत एक उम्र के बाद सिर्फ और सिर्फ माँ रह जाती है? क्या औरत हर उम्र में सिर्फ और सिर्फ माँ होती है? नहीं?

रंगमहल से सफेद जड़ी के कशीदे वाला हल्का नीला परदा, उठा। रंगमहल की दीवारें धुले शंख की बनी थी। छोटे-बड़े, सफेद नीले, चितकबरे शंख। कक्ष की बाईं तरफ हाथी दाँत का बना एक नक्काशीदार खम्भा था। उससे लिपटा सोनजूही के लतरों का एक जोड़ा अपने में डूबा हुआ-सा साँसें ले रहा था। दूसरी तरफ चन्दन की महीन लकड़ियों से बना एक पिंजरा था, जिसमें चटख उन्नावी पंखों वाले पक्षियों का एक जोड़ा कोलाहल भरे उत्सव में लीन था। रंगमहल शमादानों की लौ से रौशन था। हवा

के महीन झोंके से कक्ष के श्वेत जहीन परदे इस कोने से उस कोने तक लहराते थे। रंगमहल के रंगोली सजे फर्श पर राधा के एक जोड़ी तलवों की छाया पड़ी और कक्ष के शमादानों की शमा फक से बुझ गई। अब वहाँ शेष रह गई... कक्ष के बीचोंबीच छत से लटकते फानूस की मद्धिम रोशनी। राधा के दाएँ तलवे से फर्श पर एक थाप पड़ी और रंगोली के गुलाबी अबीर का धुआँ कक्ष में तैर उठा। पक्षियों का कलरव थम गया और मृदंग की थाप कक्ष में गूँज उठी। मृदंग की थाप और पंजे-एड़ी की लय...रंगमलह अबीरमय हो उठा और एक-एक करके दीवारों के सारे शंख गुलाबी होने लगे। राधा का महीन पारदर्शी कपड़े के चुन्नटों से पटा लहँगा पूरे निखार पर आ गया और कमर की उठान तक उठते-गिरते लहरों से गुलाबी लहँगे के स्पर्श से एक-एक कर शमादान की लौ प्रज्ज्वलित होने लगी। कक्ष की दीवारों के परदे राधा के नृत्यरत शरीर में लिपटने लगे ओर रंगमहल में कुछ भी न बचा... सिवाय प्रेम और आनन्द के एक गुलाबी आवरण के...

दीवानबाई की आँखें झटके खुलीं, सुदामा प्रसाद उसे कन्धे से पकड़कर बुरी तरह हिला रहे थे–'अविनाश की माँ...'

दीवानबाई ने विस्फारित नेत्रों से उन्हें देखा। उसकी साँसें तेज-तेज चल रही थीं। जूड़ा बिखर चुका था और आँचल अपनी जगह से हट गया था। अविनाश की माँ–इस आवाज से मृदंग की थाप पर विजय पा ली थी। 'सपना देख रही हो?' सुदामा प्रसाद ने पूछा। दीवानबाई कोई उत्तर न दे सकी। वह बस देखती रही अपने पति की आँखों में। फिर उसने अचानक सुदामा प्रसाद को अपने-आप में समेट लिया। बाँहें कसकर उसके गिर्द बाँध दीं। उम्र के इस मोड़ पर ये कैसा भटकाव था। जब उम्र थी, इच्छाएँ थीं, भूख थी, तब जो सब नहीं कर पाई, उन चीजों की ओर अब... इतने सालों बाद! ये तो जीवन का अन्त करीब आ रहा था। अब फिर से एक नया जीवन जीने की चाह! वह भी इतने दायित्वों में बँधी होने पर... समाज, घर, परिवार, रिश्तेदार... एक औरत होने के बावजूद! नहीं। उसे अपनी पुरानी दुनिया में ही रहना होगा। उसी में रमा देना होगा अपने मन को। उसने सुदामा प्रसाद की पीठ को सहलाया अपनी तर्जनी से। उसे मालूम था कि उसके स्पर्श मात्र से सुदामा प्रसाद के मन में हसरतें जाग उठेंगी और फिर... वह हमेशा के लिए अपने को अपनी गृहस्थी में डुबो देगी। लेकिन ये क्या? कोई हरकत नहीं हुई, सुदामा प्रसाद में। उसने अपनी बाँहों का बन्धन धीरे-धीरे श्लथ किया। उसके कानों में सुदामा प्रसाद के खर्राटे की महीन आवाज आई। उसने सावधानी से पूरी तरह अपने आप को सुदामा प्रसाद से अलग कर लिया। दीवानबाई

ने नीले बल्ब की रोशनी में गौर से अपने पति का चेहरा पढ़ा। उसपर साफ–साफ लिखा था कि सुदामा प्रसाद ये बाजी हमेशा के लिए हार चुके थे। दीवानबाई ने करवट फेर ली और तकिए में अपना मुँह छुपा लिया। हर औरत के मन के एक कोने में कोई रंगमहल होता है और हर औरत के मन में एक राधा होती है। दीवानबाई ने आँखें कसकर मूँद लीं।

दीवानबाई ने अपने आपको सजाया और अपने प्रेमी के दरवाजे की घंटी बजा दी। दरवाजा खुला। उसका दुबला और थका हुआ मेजबान चौंक गया। दीवानबाई ने उसके कुछ कहने की प्रतीक्षा नहीं की और भीतर घुसकर अन्दर तक चलती हुई सोफे पर बैठ गई। अतिथि के पीछे उसका मेजबान। दीवानबाई ने उसके चेहरे पर नजरें जमाईं। वह सिर नीचा किए बैठा था। क्षणभर पहले का विस्मय धुल चुका था और अब विषाद की छाया वहाँ निखरकर पसरी थी।

'आप अपना ख्याल नहीं रखते ना...' दीवानबाई ने प्रश्न करना चाहा था। लेकिन वाक्य के पूरा होते–होते उसमें से प्रश्नसूचक पुट मिट चुका था और वह एक साधारण, सर्वमान्य उक्ति की तरह सामने था। दीवानबाई ने बिना लाग–लपेट के फिर कहा–'अगर मैं अपका ध्यान रखूँ तो?' सामने वाले ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। वह चुपचाप वैसे ही बैठा रहा। कुछ पल गुजर गए।

'चलती हूँ' दीवानबाई उठ खड़ी हुई।

घर में एक बार फिर से, पुराने तरीके से शाम ढली थी। बच्चे स्कूल से आने के बाद भाग–दौड़ पकड़ा–पकड़ी में मशगूल थे। बहुएँ जल्दी–जल्दी नाश्ता तैयार कर रही थीं। बेटे अपनी–अपनी दूकान पर थे। सुदामा प्रसाद शाम की सैर की तैयारी कर रहे थे। दीवानबाई ने सन्ध्या जलाई और प्रसाद देने के लिए पोतों को आवाज दी। बच्चे उसे घेरकर खड़े हो गए तो उसने मँझले पोते के सरि पर हाथ रखकर पूछा–'दादी न रहे तो प्रसाद कौन देगा?'

छह साल के बच्चे ने अचरज से उसे देखा। उसका छोटा भाई चिल्लाया–'दादी नहीं रहेगी तो हम पूजा करेंगे और प्रसाद किसी और को नहीं देंगे।' दीवानबाई ने मुस्कुराकर उसके सिर को हलके छुआ, प्यार से। बच्चा किलककर भाग गया। दीवानबाई देहरी पर बैठ गई। कितना छोटा और सधा हुआ जवाब था। उसके सारे अन्तर्द्वन्द्व, ऊहा–पोह, भीतरी उठा–पटक का जवाब इस नन्हें से बच्चे ने कैसे पलक झपकते दे दिया। कितना सही। कितना नपा–तुला। वह नहीं रहेगी, तब भी दुनिया उसी रफ्तार से चलेगी। कोई और ले लेगा उसका स्थान। उसने अपने आप को लोप

कर मंच का जायका लिया। अगर उसकी अचानक मौत हो जाए, असमय तो...? शाम ऐसे ही ढलेगी। बहुएँ चूल्हें में व्यस्त रहेंगी, बच्चे धमा–चौकड़ी मचाते रहेंगे, बेटे अपनी–अपनी दूकान पर और सुदामा प्रसाद टहलने जाने की तैयारी में, सुदामा प्रसाद के पास आकर भी दीवानबाई की सूई अटकी नहीं, सुदामा प्रसाद की दिनचर्या में उसकी क्या जगह थी? सुबह पाँच बजे जागना, सुबह की सैर, अखबार, दाढ़ी बनाना, स्नान, नाश्ता, फिर घर के बगल में बने अपने छोटे से दफ्तर में कानूनी दाँव–पेंच, दोपहर का भोजन, शाम की बागवानी, टहलना, फिर टी.वी. चैनल घुमा–घुमाकर कोई भावनात्मक फिल्म तलाशना, उसे देखना। न मिले तो गाने जिन चैनलों पर आते हों हमेशा, उन्हें चाव से देखना। नए जमाने के कपड़े उघाड़ गाने भी वे उसी आनन्द से देखते जैसे सुरैया और सहगल के जमाने के गाने। दीवानबाई को न तो टी.वी. के चैनलों की जानकारी हो सकी आजतक, न कार्यक्रमों की। और सुदामा प्रसाद! बेटे और बहुएँ तक उनकी जानकारी के मोहताज हैं। टी.वी. देखते–देखते भोजन और फिर पक्की नींद, दीवानबाई कहाँ थी? कहीं नहीं। न वो; न उसकी परछाईं, छोटी बहू ने भीतर से उसे आवाज लगाई। दीवानबाई ने उठने की कोशिश की। पर घुटने जवाब दे गए। उनका दाहिना हाथ सामने बढ़ गया। पर उसे थामने के लिए हरसिंगार की कली चिपकी कोई हथेली वहाँ नहीं थी...

रात ढल चुकी थी। सुदामा प्रसाद सोने की तैयारी में थे। दीवानबाई की साँसें तेजी से उठ–गिर रही थीं। उसका सिर खिड़की से टिका था और हवाओं के झोंके में आगे के बाल जूड़े से निकलकर चेहरे पर फहरा रहे थे।

''बत्ती बुझा देना। आज बारिश होगी। क्या सोच रही हो भई?'' सुदमा प्रसाद ने उसे टोका।

दीवानबाई ने वैसे ही खिड़की से लगे–लगे, थोड़ा रुककर कहा ''सोचती हूँ अगर मैं ना रहूँ तो क्या होगा?''

हँस पड़े सुदामा प्रसाद ''अरे भई, तुम बड़ी भाग्यशाली कहलाओगी। अपने पीछे इतना सुखी घर छोड़ जाओगी। मैं तुम्हें मुक्ति दूँगा। और क्या चाहिए? इसमें इतना सोचने का क्या है?'' दीवानबाई चुप रही वैसे ही, तो सुदामा प्रसाद आगे बढ़े।

''मजाक कर रहा था भई। तुम भला अभी जाओगी कहाँ? ये सब क्या सोच रही हो आज अचानक?'' उन्होंने दीवानबाई का कन्धा पकड़कर उसे अपनी ओर मोड़ दिया।

''अचानक नहीं...'' दीवानबाई की आँखों में कुछ था, जिसे देखकर सुदामा प्रसाद ठगे रह गए। वह बोलती गई ''अचानक नहीं... अगर मैं कहूँ कि मैं संन्यास लेना चाहती हूँ तो?''

''संन्यास...'' इस बार हँस नहीं पाए सुदामा प्रसाद, हालाँकि बात हँसने की थी सरासर। पर दीवानबाई की आँखों ने उन्हें हँसने नहीं दिया।

''आप हमें जाने देंगे?''

''क्या हो गया है तुम्हें?'' कुछ ठिठककर सुदामा प्रसाद बोले ''मैं सोता हूँ।''

''नहीं। जो बात मुझे आपको पहली रात बतानी चाहिए थी, उसे आखरी रात तो बता लेने दीजिए।''

सुदामा प्रसाद ने आँखें छोटी कर उसे देखा और उसके माथे पर अपनी तलहथी रखी।

''ताप नहीं है मुझे। मैं ठीक हूँ। शादी से पहले किसी और के साथ मेरे सम्बन्ध थे और मैं उसके पास जाना चाहती हूँ।'' दीवानबाई ने मुट्ठी में आँचल को दबाया और पैर का अँगूठा जमीन में धँसाया।

''कैसे सम्बन्ध?'' ये हथौड़े की गहरी आवाज थी।

''मन के संबंध''

सुदामा प्रसाद ने दोनों हाथरों से उसका चेहरा पकड़ा, उसके बालों को भरपूर खींचा और उत्तेजित होकर उसे धकेल दिया बिछावन पर। वे काँप रहे थे बेतरह।

''मैं उसके पास लौटना चाहती हूँ। इस घर के सारे कर्त्तव्य पूरे कर दिए मैंने। अभी आपने कहा कि अपने पीछे मैं एक सुखी घर छोड़ जाऊँगी। आपने कहा था आप मुक्ति देंगे मुझे। मुझे मुक्ति चाहिए।'' दीवानबाई बिस्तर पर हाँफ रही थी। सुदामा प्रसाद झपटकर उस तक पहुँचे।

''मुक्ति तुम्हें मैं देता हूँ'' उन्होंने दीवानबाई का गला पकड़ लिया और पूरी ताकत से उसे दबाने लगे। दीवानबाई जूझ रही थी। माथे से, नाखून से। उसे मुक्ति चाहिए थी। लेकिन मरकर नहीं। उसे जीना था। उसने अपने दाँत गड़ा दिए अपना गला दबाते हाथ में, कलाई से थोड़ा ऊपर। बन्धन श्लथ हुआ और वह झपटकर अलग हुई। दोनों योद्धा की साँसें फूल रही थीं। सुदामा प्रसाद जल्दी सँभले। उन्होंने ताबड़-तोड़ मारना शुरू किया दीवानबाई को। उन्होंने दीवानबाई को मार-मारकर चूड़ डाला।

आखिर वे पति थे उसके! इतना तो हक बनता था। दीवानबाई ने उठना चाहा, पर वह भुरभुराकर बिस्तर पर बिखर गई।

दुनिया जानती थी कि सुदामा प्रसाद की पढ़ाई का खर्च उनके पिता की रख छोड़ी सम्पत्ति से चल रहा है जबकि दिनभर इज्जत से कुलवधू बनकर गुजार देने वाली उनकी गरीब माँ अँधेरा होते झोला, तराजू, बटखरा, कागज का ठोंगा... लेकर चल पड़ती थी। इन्हीं दो जिन्दगियों के बीच तालमेल बिठाने के फेर में उसके पैर रेलगाड़ी और प्लेटफॉर्म के बीच लय न साध पाए। क्या दो समानान्तर जिंदगियों के बीच सम साधने वाली औरत की हमेशा ऐसी ही नियति होती है...! दीवानबाई में हरकत हुई। उस रूह ने, जिसके पैर रात के अँधेरे में ठीक-ठीक प्लेटफॉर्म की थाह नहीं ले पाए थे, दीवानबाई के जिस्म पर हाथ फेरा... सर से पैर तक। दीवानबाई उठ खड़ी हुई। उसने घर के मुख्य दरवाजे की सांकल हटाई। बाहर घुप्प अँधेरा। बारिश तेज हवा, वह नीम बेहोशी में चल रही थी। पता सीधा-साधा, मायके के तीन घर बाद। दीवानबाई ने अपनी नई मंजिल के दर पर सर झुका दिया। वह एक बंद दरवाजे के आगे निढाल हो गई। रूह का सफर पूरा हो गया। उसने एक बार फिर दीवानबाई के जिस्म पर हाथ फेरा और वह वहाँ से चली गई। चुपचाप, जहाँ उसकी मंजिल थी, उधर।

आसपास में और भी बहुत बारिश के आसार थे। रातभर बारिश होगी तय था। सुबह क्या होगा? बारिश शायद थम जाए। पर बंद दरवाजे पर रखे इस सवाल का क्या होगा! हो सकता है कल का सवेरा किसी इन्द्रधनुष का साक्षी बने! और अगर... नई मंजिल ने इस सवाल से मुँह फेर लिया तो! फैसला चाहे जो भी हो, जिसके भी हक में हो, इतना क्या कम है कि सुदामा प्रसाद की माँ की आत्मा को मुक्ति मिल चुकी थी।

नीलाक्षी सिंह

नीलाक्षी सिंह का जन्म 17 मार्च, 1977 को हाजीपुर, बिहार में हुआ। नई शताब्दी के बिल्कुल शुरुआती वर्षों में नीलाक्षी ने कहानी लिखना शुरू किया और नई संवेदना और नए शिल्प से लोगों का साक्षात्कार हुआ। नीलाक्षी ने अपनी कहानियों के मार्फत से नई दुनिया को खोला। कहानी के लिए नीलाक्षी को रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार, कथा सम्मान, साहित्य अकादमी का युवा साहित्य सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। अब तक उनका एक कहानी संग्रह 'परिन्दे का इन्तजार सा कुछ' और एक उपन्यास 'शुद्धि पत्र' प्रकाशित हो चुका है। दोनों पुस्तकें भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हैं।

यूटोपिया

–वन्दना राग

नज्जो के अब्बा नहीं थे।

गुजर चुके थे उसके पैदा होने के दो ही साल बाद। नज्जो को याद नहीं, अब्बा दिखते कैसे थे? एक धुँधलाई सफेद काली तस्वीर देखी थी अम्मी के गुलाबी फूल हरे पत्ते वाले टिन के ढक्कन वाले बक्से में कभी। खेलते–खेलते पहुँच गई थी वो, घर के अंतिम कोने की आखिरी काली दमघोंटू कोठरी में। कोठरी एकदम काली–काली थी। वहाँ कुछ नजर नहीं आता था, सिर्फ टिन के बक्से का गुलाबी फूलों वाला ढक्कन अबूझ आकर्षण से नज्जो को अपनी ओर खींचने लगा। नज्जो गिरती पड़ती बक्से तक पहुँची और बक्से पर चढ़ गई। वो उस पर चढ़कर अपनी फ्राक दोनों हाथों में भींच दाँए–बाँए खूब इठलाई। फिर उसे लगा उसके कूदने पर भी बक्सा झन–झन कर ही नहीं रहा है...क्यों? उसने जमीन पर बक्से के सामने पालथी मारी और बैठ गई। उसने बक्से के ढक्कन से जोर आजमाइश शुरू कर दी। बक्से का कुंदा उसके हाथ में आ गया और उसकी आँखें चमक उठीं। उसने जोर लगाया और बक्सा खुल गया। वाह! उसमें तो मजेदार चीजें थीं। तरह–तरह की। चमकदार और लुभावनी। उसे एक चमचमाता मोतिया बटुआ दिखा, एक लौंग का पंखा जिसमें नीले लाल शनील की झालर लगी थी और ढेर सारे चाँदी के बर्तन जो कुछ मटियाये सफेद दिख रहे थे, और इन सब ठस्समठस चीजों के नीचे, खूब नीचे दबा था एक कालापन लिए लाल–लाल गरारा सूट। नज्जो की आँखों की रोशनी और चम–चम कर उठी। ''अल्लाह शादी का जोड़ा...।'' ऐसे कई जोड़े उसने देखे थे, उन बेगिनती शादियों में जिसमें वह अपनी अम्मी की उँगली पकड़, उनकी परछाई बन जाया करती थी। उन शादियों में उसकी

इस अदा पर खूब ठिठोली भी हुआ करती थी ''अए नज्जो, छोड़ अम्मी की उँगली...।'' क्या अपनी शादी में अम्मी को लेकर जाएगी? दहेज बनाकर...?'' नज्जो की आँखें डबडबा जाती थीं। उसके अंदर की जिद, दीदे फाड़ फब्ती कसने वालों को जवाब देती ''मैं अम्मी को छोड़ कहीं नहीं जाऊँगी...?'' ''अच्छा...?'' औरतें नजरें मटकाती, हाथ घुमाते नचाते कहतीं, और 'शादी... न करेगी?' 'नहीं!' वो जिद को गुस्से में ढाल चीखती 'कभी नहीं करूंगी, शादी।' औरतें फाहश हँसी हँसती, अम्मी तुरंत उसकी बलैया लेने लगतीं, 'अल्लाह करम करे, ऐसा नहीं बोलते...।' लेकिन बचपने वाली जिद नज्जो के व्यक्तित्व का दूसरा हिस्सा बन हरदम ही उसके दिल में ठोस ढंग से प्रतिध्वनित होती रही, ये घर के लोगों को बहुत बाद में समझ आता। नज्जो तो सब जानती थी। उसी का खेला था सब, उसी का किया कराया।

लाल जोड़ा निकाल नज्जो उसे बेतरतीबी से अलटने पलटने लगी। एक पुलक के साथ। उसे शादी करने का ख्याल चिढ़ाता था लेकिन शादी का जोड़ा उसके मन में न समझ में आने वाली एक खुशी का एहसास फूँक देता था। नज्जों का जी होता, लाल जोड़ा पहन खूब नाचे इतराए, मगर अम्मी का साथ न छूटे कभी। उसका उसकी अम्मी से लगाव इस कदर बेपनाह था कि उसके भाई चिन्ता करते 'अम्मी, माना एकलौती है, माना सबसे छोटी है, माना अब्बू नहीं अब, लेकिन इसका आपसे ऐसा लगाव' ठीक नहीं, इतनी ढील देती हो, जिद्दी हो रही है।' अम्मी रसोई में सालन पकाते हुए ठिठक जातीं, रुक कर अपने तीन जवान लड़कों को देखतीं और उनका जी जुड़ा जाता। अपने खाविंद के जाने का गम आधा हो जाता। लड़के उनके तीनों समझदार थे। उनके प्यार के पप्पू, गुड्डू और राजा। पप्पू को तो उसके अब्बू के इंतकाल के बाद उन्हीं के आफिस वालों ने, वहीं ड्राइवर रख लिया था, जहाँ वे खुद थे। पप्पू ने अपनी जान–पहचान की बदौलत गुड्डू और राजा को भी प्रायवेट गाड़ियों पर लगवा दिया था। मिला जुला कर तीनों दस बारह हजार की आमदनी हर महीने पैदा कर लेते थे। अभी सब ठीक था। अम्मी जानती थीं, दुल्हनों के आने पर सारे मामले दुबारा जमाने पड़ेंगे। नज्जो की शादी भी चार–पाँच साल में कहीं ठहरानी होगी। उनके जिगर का टुकड़ा थी वो, लेकिन जीवन भर अपनी छाती पर थोड़े बिछा कर रख सकती थीं वे उसे। बेपनाह लाड़ था उसका इस घर में। हो सकता है, इससे थोड़ी जिद्दी हो गई थी वो? लेकिन अम्मी जानती थीं, लड़कियाँ बारह तेरह साल की हुई नहीं कि खुद ही सँभल जाती हैं। अक्ल न जाने कैसे उनकी सारी अदाओं, आदतों को चीर, घुस जाती है, उनके जेहन में। फिर दुपट्टा ठीक से लपेटने को कहना भी नहीं होता है उन्हें। थोड़ा सा ढलका

और लड़कियाँ खुद ही चौकस अपनी चीजों को सँभालने लगती हैं। अम्मी भी उसी रास्ते बड़ी हुई थीं। उसी तरह दुपट्टा सँभालने से लेकर नमाज की पाबन्दी और सालन पकाने का हुनर अख्तियार किया था उन्होंने। अम्मी अपने जवान बेटों की चिंता का मर्म समझते हुए भी उसे ज्यादा तवज्जो नहीं देती थी। क्या करना है? अकुवा के जंगली झाड़ों की तरह बेसँभाल ढंग से बढ़ना है लड़कियों को, वो बढ़ेंगी ही। कुछ साल और। फिर कहाँ चहकेगी नज्जो उनके इस घर में, उसे तो फैलना होगा किसी दूसरे की ओट में। पूरी की पूरी ओट में। अम्मी के ऊपर सोच-सोच कर घबराहट तारी हो जाती। उनके मियाँ ने तो पर्दा नहीं कराया उनसे, बुर्का बुर्का कुछ नहीं, बस चादर से ढँका उन्होंने अपने आपको, मगर क्या जाने नज्जो की ससुराल वाले कैसे हों?

अम्मी बेटों को आँखों ही आँखों में मुस्कुरा कर राहत की बदली से भिगो देतीं। 'मैं हूँ न...' की तर्ज पर। लड़के अम्मी का मान रखते थे। मेहनतकश कामकाजी थे, अनावश्यक हील हुज्जत, से दूर रहते थे।

अम्मी को सालन पकाते-पकाते अपनी बहुत देर से गुम बिटिया की याद आई। गुम बिटियाओं से घर हमेशा ही हौलनाक और गमगीन हो जाया करते हैं, अम्मी जानती थीं। उनके घर की फुदकती चिड़िया उन्हें हमेशा जिंदगी के खूबसूरत मायने बताती थी। उस आवाज के बिना उनको सूनापन घेरने लगा। उन्होंने अपने चारों ओर यूँ ही बुन गए, मकड़जालों को हटा हटा कर साफ किया और चिल्लाई 'नज्जो...! नज्जोऽऽ!' नज्जो!'

नज्जो अभी लाल गरारा सूट ठीक से देख भी न पाई होगी कि लगा कि अम्मी की आवाज कहीं दूर किसी पहाड़ की तराई को पुकारती, गूँजती सी उस तक पहुँची। नज्जो ने न पहाड़ देखे थे न तराई। उसने गाँव और खेत भी ठीक से नहीं देखे थे। उसकी आँखों के दायरे में तो इस शहर की पूरी परिधि भी नहीं बँध पाई थी। उसके लिए राजीव नगर मुहल्ले से थोड़ी दूर बना उसका ये आधा पक्का आधा कच्चा घर ही उसकी पूरी दुनिया थी। कभी-कभी बस वह शहर की सैर को निकलती थी, जब भाइयों की ड्यूटी खत्म हो जाती थी और तब भी गाड़ी उनके हाथों में रहती थी। भाई उसे लाड़ से शहर घुमा लाते थे, वर्ना तो अम्मी का हाथ पकड़ वह मुहल्ले और रिश्तेदारों में जाने तक को ही अपना जहान नापना मानती थी।

अम्मी की आवाज का टूट-टूट कर उस पर आना उसे न जाने क्यों दहला गया। उसने चिहुँक कर गरारा हाथ से गिरा दिया। गरारे के हाथ से छूटते ही एक कड़ाक की आवाज हुई और आवाज के साथ अम्मी के तेजी से नजदीक आते कदमों की थापों की

जादुई जुगलबंदी हुई और वे नज्जो की दुनिया में अचानक ही कई जानकारियों के साथ प्रवेश कर गए। 'अरे नज्जोऽऽ, यहाँ अँधेरे में क्या कर रही?' 'अरे क्या तोड़ा?' 'लिल्लाह ये लड़की ये लड़की न जाने क्या गुल खिलाएगी?' 'अरे कहाँ मर गई?' नज्जो ने पहली बार अपनी जिंदगी में अम्मी को बेगानी अम्मियों की तरह बोलते देखा। पहली बार अम्मी के हाथों के नर्म खरगोशपने के बदले कच्ची कैरी के चटकपने का स्वाद लिया और अम्मी की उस टूटी हुई जमींदोज चीज के उठाने पर जाना, अम्मी की बरसों से छुपाई उस इकलौती चीज का उसने नुकसान कर दिया था। उसी दिन नज्जो ने अपने जीवन का पहला दुख भरा गीत अपने दिल में बजते हुए सुना। दुख दिल में इतने निचोड़ पैदा कर आँख के रास्ते बहता है यह भी नज्जो ने जाना उस दिन। इतने सारे दुख के आयामों के उद्घाटन के बावजूद, नज्जो ने समझा 'अम्मी का गुस्सा लाजमी था उस दिन।' उसने अंधेरी कोठरी से घिसटते हुए चुँधियाती रोशनी में पटके जाते हुए जाना कि अँधेरे के बाद यदि आँखें आराम से, के बजाए हड़बड़ी में खोल दी जाएँ तो कितनी तकलीफ होती है। लगता है आँखों में कीलें ठुक रही हैं। उन्हीं सब दुख जानकारियों के बीच, बताया था अम्मी ने बार-बार दिखा-दिखा कर कैसे उसने अपने अब्बू की इकलौती तस्वीर का फ्रेम और काँच अपने खेल की खातिर पटक कर तोड़ दिया था। उसी दिन तो देखा था उसने, अब्बू उसके कितने काले थे। लंबी भूरी दाढ़ी वाले काले-काले। उसने अपने नए कमाए दुखों के बीच एक हल्की फाँक सी खुशी महसूस की थी, 'वो अब्बू जैसी नहीं, वो तो अपनी अम्मी जैसी गोरी-गोरी सुन्दर है।' उसने रोते-रोते लाड़ से अम्मी के हाथों से अब्बू की तस्वीर ले ली और अम्मी के हाथ खाली कर दिए। अब अम्मी की गोदी थी और अम्मी के हाथ जिसे उसने अपने चारों ओर लिपटवा लिया और उन्हें बीते हुए कल से आज बना फिर से बामकसद बना दिया।

'अरे पगली..!' अम्मी की आवाज थी या सिसकी का शुबहा।

'एक ही तो फोटो थी तेरे अब्बू की, अब उसमें दुबारा फ्रेम जड़वाना पड़ेगा।'

'अम्मी' उसने सब कुछ परे धकेलते हुए उम्र और उसके कौतूहल की ईमानदारी से पूछा था, 'तुमने अब्बू की तस्वीर बक्से में क्यों बंद कर रक्खी थी, यहाँ क्यों नहीं टाँगी दीवार पर, इन तस्वीरों के साथ?' उसने 'मक्का मदीना' की काली फाइबर पर उकेरी उजली तस्वीरों को दिखाते हुए पूछा था। यहाँ तो इनका कुछ नहीं बिगड़ता और हम रोज, अब्बू को देखते उनके यहाँ नहीं होने पर भी।

'नहीं..!' अम्मी की उदासी घनी थी। नज्जो नहीं देख पाई उस पार जाके, बहुत

छोटी थी तब।

जिद कर कुछ उदासी की परतों को फलाँगते हुए नज्जो ने पूछा, ''अम्मी क्यों नहीं?'' अम्मी अचकच हो गईं, उन्हें लगा क्या समझाएँ अभी इसे? उनके अंदर का यकीं पक्का था ही, सीख लेगी लड़की जात सब जीवन के कायदे पाबंदियाँ, रोजा, नमाज, सब जल्द ही।

उन्होंने धीरे से नज्जो को गोद से उतारा उसकी फ्राक खींच कर उसे घुटनों से नीचे करने का असफल प्रयास किया और समझ गई, फ्राक अब नहीं खिंच पाएगी। लड़की बड़ी हो गई है, जल्द सलवार कमीज पहनाने पड़ेंगे। टाँगें तो ऐसी लंबी और चिकनी होती जा रही हैं उसकी। रंग भी माशा अल्लाह खिलता गंदुमी था और मोटी काली आँखें थीं। बाल भी खूब लंबे और काले थे। लंबी चोटी पीठ पर फुदकती रहती थी। आँखों का कजरारापन साँप बन लोगों को डसता रहता था। तभी, उनकी देवरानी ने पहले ही कह दिया था 'बा जी नज्जो हमारे यहाँ ही आएगी। लड़के तो इस खानदान के लुटेपिटे दिखे हैं, इस लड़की से ही रौनक होगी। नस्लें सुधरेंगी।' अम्मी अपनी देवरानी के चुहल के भीतर छिपी गंभीरता से बहुत पहले से परिचित थीं, उन्हें सोच–सोच, कँपकँपी छूटती थी कि उनकी लाड़ो की, ऐसी गंभीर सास के साथ कहीं साँस तो न बंद हो जाएगी? ऊपर से हाँ बोलते हुए वे हमेशा ही ना ना मनाती थीं। एक दो बार उन्होंने अपने तीनों जवान लड़कों को कहा भी था, 'नज्जो का रिश्ता परिवार से बाहर ही ठीक रहेगा।' लड़कों ने ऐसी बात पर तबज्जो देना बंद कर दिया था। वे जानते थे, अपनी नज्जो की बाबत सारी बातें अम्मी और सिर्फ अम्मी तय करेंगी, फिर बोल चाहे वे कुछ भी लें।

अगले दिन अम्मी नज्जो को घर में खेलता छोड़भरी ठेलमठेल गर्मी की जलनखोर नासमझी को अपने मकसद की जरूरत से बेपरवाह उड़ाते हुए, 'अग्रवाल एण्ड संस' की दुकान पर पहुँचीं। वहीं सेठ की दुकान पर उनका खाता चलता था। सेठ अम्मी जैसे खातेदारों को देख रंग जाता था–खुशी से!धंधा उसका इस छोटे शहर में इन्हीं लोगों की मार्फत जिंदा रहता था, जो तत्काल भुगतान न करते हुए, लगातार उधारी पर रहते थे। इससे ग्राहकों की संख्या कभी घटती नहीं थी और भले ही तुरंत का नुकसान उसकी छाती को धोबी पछाड़ सा कूटता था, फिर भी वह आगामी संभावनाओं की वर्षा से बेफिक्र हो जाया करता था। 'जाएँगे कहाँ ये सारे?' आज नहीं तो कल उसका उधार चुकता करेंगे ही, वर्ना पुलिस और पार्टी के सेवक सब उसकी मदद को तैयार रहते थे। दोनों जगह अच्छा टैक्स भरता था वो।' बड़े दुकानदारों में गिनती थी उसकी।

'बोल्लो क्या देखना है?' उसने आवाज में चाशनी घोली। अम्मी को सेठ ठीक नहीं लगते हुए भी ठीक लगता था। उनकी कई एक उधारियों के वक्त भी सेठ की चाशनी कम मीठी नहीं होती थी। एक तो उधार की फिक्र उसपे यदि दुकानदार बदतमीजी से बात करे तो अपने मुफलिस होने का सच उजागर हो जाने को धमकाता था और चूँकि अम्मी फिलहाल मुगालतों को पोसना चाहती थीं, इसलिए मँहगी लेकिन मीठी चाशनी से ही वो बार–बार वास्ता बनाए रखना चाहती थीं। उन्होंने एक छोटे लाल फूलों वाली बिस्कुटी रंग की थान पर हाथ रख दिया, 'भइया इसमें से तीन मीटर और इसी फूल से मैचिंग लाल जार्जेट का दुपट्टा।' 'दुपट्टा कितना?' दुकान का नौकर चिल्लाकर पूछने लगा। 'दुपट्टा डेढ़ मीटर कर दो।' सेठ अम्मी की आँखों में आँखें डाल चाशनी गाढ़ी कर बोला ''अच्छा बिटिया रानी के लिए ले रही हो? तो ये काटन क्यों? एक बनारसी कपड़ा आया है, उसमें से ले जाओ अभी तो शादियाँ भी आ रही हैं, जँचेगी लड़की इसमें।' 'ऐ...लड़के, दिखा इनको नया आया बनारसी कपड़ा।' सेठ की चाशनी झाड़ू की फटकार में बदल गई थी। अम्मी को बुरा नहीं लगा। अम्मी का रुतबा नौकर से ऊपर रखा था सेठ ने। बनारसी कपड़े के थान पटकने के अंदाज में नौकर की छिपी नाफरमानी ताड़ ली अम्मी ने 'अरे भइया ठीक से दिखा–।' उन्हें सेठ की चाशनी का दम था। नौकर दोबारा प्रहारों के बीच पैरों के घुटने मोड़ बैठ गया, विशुद्ध व्यवसायिक अंदाज में। उसे भावनाओं से परहेज करने का सबक बचपन से बालघुट्टी में घोल–घोल पिलाया गया था। 'ये लो...कौन सा..देखो...!' अम्मी की आँखें फट गईं। 'क्या सुन्दर चमकीले रंगों के कपड़े थे सारे!' सब पर जरी का ताना बाना था। कपड़े के अंदर से सुनहरे फूल उग आए हों जैसे। उन्हें पीले रंग वाला थान सबसे उम्दा लग रहा था। उन्हें लग रहा था इस हल्द पीले पर उगे ये सुनहरे फूल उनकी गंदूमी रंग की बिटिया पर जब खिलने लगेंगे तो कैसे फुलवारी सी महक जाएगी। उनकी हसरत पूछ बैठी 'ये तो महँगा होगा?' नहीं... बनारसी है लेकिन उसके आधे दामों पर।' अम्मी को दिलासे से धीर बँधया 'बनारस वाले अब हम जैसों के लिए भी कपड़ा तैयार करने लगे!' उन्होंने पीले बनारसी थाने से भी तीन मीटर कपड़ा मोलवाया और मुट्ठी में भींचे एक पुराने मुसे कुसे बटुए से दो सौ रुपए निकाल सेठ की ओर बढ़ा दिए 'दुपट्टा भी मैच करवा देना और अगले महीने के खाते में पैसा लिख लेना।' सेठ ने पैसों पर झपट्टा मारा, बाकी के आगे लिखा–3 रुपए और अपना काम खत्म करने के बाद की मुद्रा में अपना मुँह टेबल की दराजों में गड़ा दिया।

अम्मी भी नीली पन्नी में सिमटे अपने सामान को ले दुकान से बाहर निकलीं।

उनके मन में आया कॉटन का सूट वे खुद सिल लें, मगर बनारसी वाला शकीला दर्जन को दें। क्या बढ़िया लेडीज सूट सिलती थी। अभी हाल में अम्मी का एक सिला था उसने। अपने सूट को याद कर अम्मी को अजीब सी शर्मिंदगी तबाह करने लगी। उन्होंने एक उल्टी साँस खींची। इतने सालों से साड़ी के अलावा कुछ नहीं पहना था, उन्होंने, लेकिन इधर कुछ अर्सा पहले उनके बड़े बेटे पप्पू ने नमाज के बाद मस्जिद में होने वाली बातचीत का हवाला देते हुए कहा था, 'अम्मी मौलवी साहब कह रहे थे, औरतों को नमाज पढ़ते वक्त सलवार कमीज पहनना होगा। साड़ी में नंगापन होता है।' अम्मी उम्र के इस पड़ाव पर बेटे के मुँह से ऐसी बात सुन हिल गई थीं। पचपन की पहुँचती उम्र में साड़ी के बाहर उसका पेट बालिश्त भर नजर भी आ जाता, तो क्या नजर आता वहाँ? झाँकती, छुपती कुछ सफेद फटी लकीरें और झूलती ढीली चमड़ी? वो क्या किसी की भी आँखों से देखने पर नंगई होती? वो तो इतने बच्चों को पेट में रखने का नतीजा था बस। मुहल्ले की ज्यादातर औरतों ने लेकिन मौलवी साहब की बात का लिहाज रखते हुए अब नमाज पढ़ते वक्त सलवार कुर्ते पहनने शुरू कर दिए थे। अम्मी के अंदर कुछ खौफ सा अधकचरा बवाल उठता। कहीं बात न मानने की वजह से उन्हें मुहल्ला बदर न कर दिया जाए, या कुछ उल्टा-सुल्टा कह दिया जाए तो...? लिहाजा बहुत झिझकते हुए वो नमाज के वक्त अपना सूट पहन लिया करती थीं।

शकीला दर्जन खूब खुलकर हँसी कपड़ा देख 'क्यों नज्जो की अम्मा, लड़की के लिए रिश्ते आने लगे क्या?' 'नई...नई,' अम्मी ने मुस्कुरा कर शकीला के उत्साह का साथ दिया। 'अरे-तुम्हारी बिटिया तो चंदा है, कितने भी कपड़ों से ढक दोगी, फिर भी रोशनी खिलाएगी। उसे संभाल कर रखना होगा तुम्हें। मुहल्ले में लौंडों की फौज बढ़ती जा रही है। ये जो हिन्दुअन के लड़के हैं न, ये आजकल ज्यादा ही चढ़बढ़ गए हैं। वैसे भी जमाना खराब है, लड़की जात के लिए, क्या हिन्दू क्या मुसलमान?' ये सब सुन अम्मी अनजानी बदख्यालियों से भर गईं। 'अभी तो पाँचवी में है, आठवीं तक सगाई कर दूँगी उसकी।' उन्होंने तय किया और शकीला को कपड़ा कम पैसे में सिलने की धौंस दे घर चल पड़ी।

भारी गर्मी पड़ रही थी। अम्मी को लगा चलते-चलते कहीं पिघल न जाएँ वे। उन्होंने अपनी साड़ी का पल्ला सिर के ऊपर खींच कर सिर ढक लिया अपना और तेज कदमों से चल पड़ीं। उनकी चाल की वजह से उनकी हल्की नीले रंग की साड़ी भी फदर फदर हवा में शोर करते उड़ती फिरी। अम्मी को समझ में ही नहीं आया अब

मौलवी उस्मान अली उनके सामने पड़ गए। अम्मी को देख वे ठिठक गए और सलाम वालैकुम की रस्म अदायगी के बाद अम्मी को रोक कुछ-कुछ बतियाने लगे। अम्मी की नजरें चोर हो गईं। वे मौलवी उस्मान अली की आँखों से होते हुए अपने उघड़े पेट पर जाकर लुक गईं। उन्होंने वहीं लुके-लुके जानना चाहा कि पेट पर कुछ नंगई नाच रही है क्या? मौलवी साहब अपनी पैनी आवाज में पान थूक कह रहे थे 'जमाना बड़ा खराब है बीबी, लड़कों बच्चों को सँभालना होगा। ये टी.वी. सिनेमा की बदौलत सब कुछ...!' अब हम कितनी तकरीरें करें, जब घरवाले नहीं समझते तो बच्चों को क्या समझाया जाए? जवान लड़कों ने मस्जिदों में नमाज पढ़ने आना बंद ही कर दिया समझे। सिर्फ जुमे के दिन मस्जिद भरती अब तो। ठीक नहीं सब। मौलवी ने नाराज निराशा से अपनी लंबी भूरी दाढ़ी पर हाथ फेरा। अम्मी के सीने में क्या कुछ बराबर होने को मचलने लगा। उन्हें मौलवी उस्मान अली की बातों से पैदा हुई हलचल नागवार लग रही थी। उन्होंने 'जी... जी' ...कर मौलवी के पार जाना चाहा। ये ल्लौ...मौलवी उस्मान अली ने उनके लिए रास्ता बनाया और साथ हो लिए। वक्त की नाजाकत को सँभालते हुए अम्मी कह उठीं 'मेरे लड़के तो मौलवी साहब जब भी ड्यूटी से फुर्सत मिलती है नमाज की पाबन्दी निभाते हैं...कहीं हों।' 'तुम्हारे लड़कों की नहीं कह रहा मैं, जमाने की कह रहा हूँ।' 'बीबी-पैसा!' रहस्य से आवाज धीमी की मौलवी ने, 'शहर के सारे सेठों का पैसा तो हिन्दुओं के त्यौहारों में फूँका जा रहा है। अब मस्जिद के पास ही देख लो 'नव दुर्गा समिति' बना कर बैठ गए हैं, ये तो सारी तंग करने वाली बातें हैं न। लौंडों की फौज है, वहीं गाना बजाना करेंगे, हल्ला मचाएँगे और हमारी नमाज में खलल डालेंगे।' 'जी, अच्छा' अम्मी ने टालने की गरज से एक टुकड़ा जवाब दे डाला। लेकिन मौलवी कहाँ मानने वाले थे-जारी रहे 'इस बार मुहल्ले का वो जवान छोकरा बन गया है, समिति का कर्ताधर्ता। आवारा कहीं का।' 'कौन?' अम्मी की भवों ने जिज्ञासा का लिबास ओढ़ तलबगारी की। 'अरे वही तुम्हारे मुहल्ले वाला। वही जिसका बाप अपने फारुख मियाँ के साथ वाली दुकान में फल लगाता था। कित्ता भला आदमी था उसका बाप। फारुख और उसकी कैसे घुटती थी। अब इसके लौंडे को देखो कुछ किया कराया नहीं, बस इसी करने में लगे हैं। फिजा खराब करते हैं ये बीबी...।'

अम्मी की चोर निगाहें अब उनके अपने मन के भीतर घुस गईं। जिस लड़के की बात मौलवी कर रहे थे उन्हें वो लड़का कुछ बरस पहले तक बड़ा प्यारा लगता था। नज्जो के अब्बा से उस लड़के के अब्बा के अच्छे ताल्लुकात थे। घर आना-जाना भी था।

गुजरे जमाने की बातें थीं सभी, अब कहाँ। अम्मी ने एक शर्मिंदा साँस को आजाद किया। लगता था उनके इस छोटे से कस्बाई शहर का पूरा समाज ही बदल गया था। बचपन में उस लड़के को कई एक बार पुचकारा था उन्होंने, कैसे गुलाबी होंठ थे उस लड़के के, एकदम लड़कियों जैसे नर्म। हाँ, अम्मी को उसका नाम पसंद नहीं था, इतना लंबा और जीभ घुमाऊँ नाम था। 'अच्युतानंद गोसाई'। उसके घर के बगल वाले खाली प्लाट में खेलता था वो, मुहल्ले के और बच्चों के साथ। अक्सर, टोली बना दुर्गा उत्सव का चंदा लेने आता था उनके यहाँ। बस यही कोई पिछले दो सालों से ये चंदा माँगने वालों का चंदा माँगने का सिलसिला, यों ही ठप हो गया था। हालाँकि अम्मी को चंदा माँगने वालों से परेशानी होती थी, लेकिन चंदा माँगने में अचानक आई तब्दीली बरसों से चले आए एक सिलसिले को कर्कश आवाज से तोड़ती थी। उसका तीखापन सुई सी पैनी टीस के साथ एक नए उग आए घाव से, फर्क की ओर इशारा करता था, जिसे अम्मी का जी आसानी से कुबूल करने को राजी नहीं होता था। उनके बचपन के जमाने के शहर से कितना बदल गया था, आज के जमाने का शहर! उनके जमाने से तो कहीं ज्यादा बदल रहे थे मुसलमान, पढ़ना लिखना, नौकरी सब में इजाफा हो गया था, लेकिन साथ ही साथ एक न समझ में आने वाली सख्ती भी मुसलमानों के अंदर ही अंदर पकती जा रही थी। उस पकने की तासीर का असर इधर-उधर हर जगह होने लगा था। मुसलमानों के भीतरपने से बाहर हिन्दुओं के भीतरपने में भी। अम्मी के घर उनके लड़के आके सारी बातें बताते थे, दुनिया जहान की। वे बड़ी पार्टियों को टूर पर ले जाते थे, कभी आगरा, दिल्ली, मैसूर। वहाँ की बातें, वहाँ की इमारतें लाल किले से ताज महल तक सब देखती थीं अम्मी लड़कों की बातों में, वे सियासत और नेताओं की नजदीकी बातें भी समझने लगी थीं, लड़कों, टीवी और अखबार के बदौलत। वे जानती कम थी, और समझती ज्यादा थीं। 'बच के रहना' उनकी जिंदगी का फलसफा बनता जा रहा था। जब अनजाने ही लोगों की नजरें बदलने लगें, पलटने लगें, अपने बरसों के रिश्तों की गर्मी घुल कर बह जाने से, तो शरीर को ढक, मन को बाँध, सिमट जाना होता था, अपने-अपने मैले दड़बों में, अपने समान नकूशों वाले ढेरों बकरों समान। डरते, लेकिन, एक साथ होने के नकली हौसलों से जीते जिलाते। न जाने दड़बों के बाहर कौन खड़ा हो झटके के गोश्त के इंतजाम में। मौलवी उस्मान अली की बातें नागवार होते हुए भी वक्त के सच्चे जरूरी घंटे बजाते हुए फिजा में हल्के से बार-बार बहने का एहसास कराती थीं। उनका मन होता इस मुए को भगा दें यहाँ से कहीं, उनके अंदर के असमंजसों को और बढ़ाता था ये इंसान। 'खुदा हाफिज' वो बोलने को हुईं और परूक गईं। बचपन से ऐसे ही बोलते आई थी, लेकिन इधर लड़कों के कहने

पर 'अल्लाह हाफिज' कहने में आने लगा था। 'अल्लाह' अपने होने का एहसास एक भारीपने से करवाता था। समाज में लोगों को अब 'खुदा' लफ्ज की खुशनुमाई से ज्यादा भारीपना और बयान पसंद आने लगा था, लिहाजा मन मार कर सलवार कमीज के साथ 'अल्लाह हाफिज' भी उनके वजूद में चल निकला था। उन्होंने आवाज में पूरा ठहराव भर 'अल्लाह हाफिज' कहा। मौलवी उस्मान अली को यूँ टरका दिया जाना अच्छा नहीं लगा, वे शिकायत करने लगे 'अए क्या, मुझे लगा चाय पिलवाओगी?' 'ओह!' ...अम्मी का एतराज असरदार था। 'अभी मंडी जाना है, सब्जी खत्म है।' 'अच्छाऽऽ' हवा में मायूसी टाँगने की कोशिश की मौलवी ने, लेकिन अम्मी पे उसका एक हिस्सा भी न खुल पाया। वे मौलवी को अपने ही घर के दरवाजे पर वापसी की राह बता, अंदर घुस चुकी थीं।

ये बाहर का कमरा उनका पक्की सीमेंट का बन गया था और इसके साथ लगा पप्पू का कमरा। उनका सोचना था धीरे-धीरे कर तीन कमरे तो पक्के करवा ही लेंगी। तीन लड़कों को तीन दुल्हनों के वास्ते। नज्जो तो 'इंशाअल्लाह' ससुराल चली जाएगी ही। रही बात उनकी, तो, उनका क्या, बाहर के कमरे के एक कोने में उनका पलंग बिछ जाया करेगा। 'अल्लाह' का शुक्र था, नज्जो के अब्बा के यूँ ही अचानक उठ जाने के बाद के गड़बड़ हालत अब लम्हा-लम्हा सुधर रहे थे।

'नज्जो... नज्जो', उन्होंने पुकारा, नज्जो अम्मी का लाया लाल दुपट्टा सिर पर डाल इठलाने लगी। अम्मी ने झल बलैयाँ चटखीं। इस लड़की के बड़े होने से खतरे बढ़ते जा रहे हैं। उन्होंने तय किया, ढीले से ढीला कुर्ता सिलेंगी और शकीला दर्जन को भी कल कभी जाकर हिदायक दे आएँगी।

मुहल्ले के लड़कों की टोली नज्जों के घर के पास वाले खाली प्लाट में रोज ही धमाल मचाया करती थी। इधर अम्मी ने मना कर दिया था नज्जो को वहाँ जाकर उनके साथ खेलने को, क्योंकि रोज ही वह शक्ल से पिटी हुई वापस आती थी। वर्ना तो नज्जो रोज वहाँ चलते क्रिकेट के खेल में हिस्सेदारी कर दिया करती थी। लड़के उसे दौड़ा-दौड़ा कर फील्डिंग करवाते थे और उसके टेढ़ेमेढ़े आड़े तिरछे दौड़ने पर खूब हँसते थे। वहीं एक दिन उसे अच्युतानन्द गोसाई ने शाट मार कर, बॉल पकड़ने को खूब दौड़ाया था। वहीं सब बेहिसाब हँसते-हँसते गिर पड़े थे और नज्जो अपनी दुर्गत पर घुटनों में सिर रखकर थकान और तौहीन के आँसू रो दी थी। वहीं फिर उसने सिर उठाया था, घुटनों के बीच से, वहीं अच्युतानन्द गोसाई का पहला तआरुफ हुआ था, दो दहकते अनारों के इर्द-गिर्द डसते साँपों से। वह एकाएक सहम गया था, फिर एक

उदास न समझ में आने वाली तर्ज में हल्के, डूबने उतराने लगा था। उसे जोर की रुलाई आने लगी थी। उसका दिल किया, नज्जो के गाल पर चिपके उन अनारों को नोंच कर फेंक दे। वे इतने लाल क्यों थे? उसी दिल किया नज्जो की आँखें ही फोड़ दें, वो इतनी काली क्यों थीं? वो उसे इतनी चोट क्यों पहुँचा रहीं थीं? उसने आँखों बंद कर लीं, और जब उन्हें दोस्तों के हिलाने पर खोला तो देखा नज्जो गायब थी। उसे लगा सामने का दृश्य पूरा खाली हो गया है, कभी न भरने के आतंक सा खाली! उस दिन के बाद से नज्जो नहीं आई उस खाली जगह को भरने। उस जगह का खालीपन अच्युतानन्द के हृदय में कभी न जाने की धमकी सा बैठ गया।

एक साल बड़े होने में बीत गया। अच्युतानन्द की मसें भींज गईं। उसकी आवाज फट कर मर्दाना हो गई, उसके कपड़े छोटे हो गए, उसने खाली प्लाट पर क्रिकेट खेलने जाना बंद कर दिया।

अच्युतानन्द को दो सामान्तर ग्रहणों ने एक साथ दबोचा–बाप की असमय मृत्यु ने उसे फल वाली दुकान पर बैठने को मजबूर कर उसकी सारी आवारा आजादी पर अंकुश लगाया और उसके अंदर के निरंतर बढ़ते खालीपन ने उसे कहीं का न छोड़ा। वह ग्रहणग्रस्त हो झँवाता चला गया।

एक दिन दुकान में ऊब बैठा था, जब पार्षद श्री राममोहन उसकी दुकान पर आए और उसके भइया से कहने लगे, 'लड़के को कहाँ उलझा रखा है?' अरे हमारे साथ लगा दो, कुछ पार्टी का काम सिखाएँगे, यहाँ तो पैसे का हिसाब करते करते, ये भरी जवानी में बूढ़ा हो जाएगा।' बड़े भाई को धंधे के सिवाय कुछ खास समझ में आता नहीं था। उसने भावुक अंदाज में हाथ जोड़ कहा, 'ले जाओ साहब आदमी बनाओ इसे, मैं कोई लड़का रख लूँगा अपनी मदद को, पर इसे तो आप अपने साथ रख कुछ बना ही दो...।' पार्षद राममोहन हँसे 'हँ–हँ...' 'चल बे उठ, आज से ही मेरे साथ चल। ये फल का थैला पकड़।' थैले में पपीते, चीकू एक–दूसरे के घाव सहला रहे थे, अच्युतानन्द को खीज उठ आई, उसे फलों में आदमी और आदमियों में फलों का रूप क्यों नजर आता था? कई बार वो आदमियों को फल समझ काट डालना चाहता था, पहले दाँतों से फिर उनके जिद्दी और कड़े होने पर छुरी से। उसे सारी बातें दिमाग में एक कोहरे के अंदर छटपटाती दिखती थी। बाप के मरने पर कोहरा और घना हो गया था। स्कूल में लगातार दो बार तीन साल तक फेल होने पर उसे निकाल दिया गया था। वैसे भी सत्रह साल का लड़का सातवीं कितनी बार पढ़ता? एक दो साल तो दादागिरी में मजा था, फिर ऊब होने लगी थी। अच्युतानन्द अपने लिए माकूल ठिकानों और

मकसदों की तलाश में यूँ ही बेवजह भटक रहा था कि श्री राममोहन उसके जीवन में अवतारित हो गए थे। उसे वो खास पसंद थे नहीं। मोटे भसन्दर, तरबूजे से गाल। मन होता वहीं चाक लगा कर देखे, अंदर से सुर्ख लाल हैं कि नहीं। आदमी लेकिन वह काम के थे, पैसा रुपया उगाना जानते थे, बेरोजगार लड़कों को काम पर लगाना जानते थे, एवज में उनसे जम के काम लेना जानते थे और कुल मिला–जुला कर लड़कों को आगे बढ़ाते हुए उन्हें मकसद देना जानते थे।

सबसे पहले वे अपने रंगरूटों का खूब बढ़िया भोजन करवाते थे, फिर पीने–पिलाने के तौर–तरीकों की शुरुआत, बियर से होती थी। जब लड़के उनके डेरे पर बैठने के आदी हो जाते थे, तो उसकी विधिवत कोचिंग होती थी। उन्हें धर्म, भारतीय संस्कृति के प्रेरक प्रसंग सुनवाए जाते थे। शहर में यज्ञों का आयोजन, शहर उत्सव समिति में शिरकत और त्यौहार प्रबंधन समिति के कार्यकर्ता तैयार कराए जाते थे। मकसदहीन लड़के बामकसद हो, श्री राममोहन के पूरे मुरीद हो जाते थे। कोचिंग के अंतिम चरण में इधर दो साल से शहर में वीडियो टेप्स और साधुओं के भाषणों में दिमागी शुद्धिकरण का प्रयास ताबड़तोड़ जारी था, उम्मीद थी युवा लड़कों के दिमागों में बात का असर, ज्यादा मारक ढंग से होगा और ये शहर की आबोहवा बदलने में मददगार साबित होगा।

अच्युतानन्द गोसाई का पहला असाईनमेंट था, भारत–पाकिस्तान क्रिकेट मैच में पाकिस्तान की हार के लिए, शहर में यज्ञ का आयोजन। घोषणा हुई, शहर में माइक रख आटो घुमाया गया, सभी खास बजार और स्टेशन पर बैनर लगाए गए। शहर में हल्ला बोला गया। देश में आस्था प्रकट करने की सब शहरवासियों से अपील की गई। पार्टी के सारे युवा कार्यकर्ता बटोरे गए। शहर के ज्यादातर लोग जमा हो गए, सब भारत की जीत के लिए प्रार्थना करने बैठ गए। टी.वी. पर डाइरेक्ट टेलीकास्ट था। सबने देखा 'ॐऽऽ स्वाहा ॐऽऽ स्वाहा ॐऽऽ स्वाहा' के मंत्रोच्चार के बीच अच्युतानन्द गोसाई का चेहरा धधकने लगा। देश के प्रति आस्था की रोशनी जगमग करने लगी। उसकी छाती फूल गई, इतनी कि मुँह पर हाथ रख वो खाँसने लगा। लोगों ने दौड़ कर उसे पानी पिलाया। जब बाद में भारत ने पाकिस्तान पर पाँच विकेट से जीत दर्ज कर ली, तो शहर में अच्युतानन्द गोसाई को कंधे पर बैठा घुमाया गया। खुली जीप में बैठे लड़के भाँगड़ा जैसा कुछ बल्ले–बल्ले करते चले। अच्युतानंद हीरो का दर्जा पा रहा था, शहर वाले देख रहे थे।

राजीव नगर के खाली प्लाट के बगल वाले घर में भी सबने टीवी पर देखा। वो

छोकरा जो बॉल लाने के लिए उस घर में रहने वाली एक लड़की को दौड़ाता था, अब मुहल्ले का अदना क्रिकेट खिलाड़ी नहीं रह गया था, अब वो बॉल के बजाए देश की चिंता करने वाले जवान में तब्दील हो गया था। उस घर में इस समाचार को देखने के बाद, बेचैनी और घुटन के चूल्हों पर उल्टे तवे पर रख रोटी सेंकी गई जो अजीब धुँआए स्वाद से भरी थी। नज्जो का मन किया उस स्वाद को गुसलखाने में कहीं थूक आए और पानी से हरहरा कर बहा दे। उसके अंदर एक रोष का जुगनू कट-कट करने लगा। कुछ भी कहीं भी उस धुँआए स्वाद से बेइज्जत न हो, न तख्त, न कुर्सी न दर, न दीवार, न गुसलखाना। चूल्हों को नए सिरे से धो दिया जाए और दरवाजे कसके बंद कर दिए जाएँ, जो बाहर सड़कों से आते विजय गीतों की ताल को वहीं सड़क छाप बना छोड़ दिया करें। माहुर का रंग गीतों को नशीला बना रहा था और और नज्जो ने अपने बड़े होने के समय में पहली बार किसी ऐसी जिद का इजहार किया, जिसका तर्क अम्मी की अब समझने वाली अक्ल भी न समझ पाई। 'अम्मी... पर्दे लगाओ मोटे-मोटे खिड़कियों पर। बहुत धूप गर्मी और धूल होती है। खास तौर से खाली प्लाट की ओर खुलती खिड़कियाँ ढकनी जरूरी हैं-लूँ चलती है वहाँ से!!!'

अच्युतानन्द गोसाई मंझ रहा था। उसके भीतर तक अंदरूनी अलख जगती जा रही थी, जिसमें कई गुत्थमगुत्था अड़चने थीं। उसमें कई तरह के फल थे, फलों में आदमी थे और आदमियों में फल थे। उसमें कई तरह की गंधें थीं। कई तरह के अस्पष्ट स्मृति दंश थे और इन सबसे बना एक साँवला झुटपुटा था। यह अलक और झुटपुटे का युद्ध था, जिसमें श्री राममोहन की ट्रेनिंग की बदौलत, झुटपुटे के पार जाने की एक आश्वस्त सी ताकत थी। उसके अंदर पहली बार इस अलख का जोर हुआ, कुछ वीडियो रेकार्डिंग्स देख। वह सन्न रह गया। उसके सर्दियाये हाथ, पैर अकड़ कर उसे गठरी बना गए। 'एक पुरानी मस्जिद थी कहीं। कहीं किसी शहर अयोध्या में, जो शायद इसी भारत के किसी कोने का हिस्सा थी। वीडियो में बताया जा रहा था, उस मस्जिद की बुनियाद झूठ पर रची थी।' कमेंटरी चल रही थी और मस्जिद टूट रही थी। 'हमें नीच समझा..., डरपोक समझा, हम पर राज किया...। अब तो इकट्ठे हो जाओ और इस मस्जिद को खत्म करो, वर्ना नपुंसक कहलाओ। यह संदेश दो, हमारी कौम नामर्द नहीं और उन लोगों को कह दो इस देश में रहना है तो यहाँ के बन के रहें।''

अच्युतानन्द ने जैसे ही उन लोगों को यहाँ का बन के रहें सुना, उसकी कनपटियाँ गर्म होने लगीं। उसे कुछ बरस पहले के दहकते अनार किचमिच हो बार-बार नजर आने लगे। उसका ध्यान बार-बार उस खाली प्लाट आर उसके बगल में रहने वालों

पर घूम-घूम पर जाने लगा। वीडियो रिकार्डिंग और उन लोगों में मेल ही क्या था...? फिर भी! उसने अपनी देह की गठरी को खोला और श्री राममोहन के डेरे से बाहर निकल आया। बाहर शाम का झीनापन घिरने को था। एक सतरंगी आभा आसमान में धीमी चाल से पसर गई थी। वो आसमान और सड़क के बीच पतंग और डोर बन गया। वो उड़ कर सड़क नापने लगा, पहले बाजार, फिर स्टेशन, फिर न समझ में आने वाली ललक से राजीव नगर, उसके बाहर, उसके नजदीक का खाली प्लाट और वह खाली जगह। वो जाकर उस खाली जगह के सामने बैठ गया और उसने पाया कि प्लाट के अंतिम छोर पर एक गुलमोहर का पेड़ तेजी से बड़ा हो चुका था और उसमें लाल-लाल फूल भी आने लगे थे। ये उसके यहाँ से कुछ बरस पहले चले जाने के बाद की नई घटना थी। कच्चे पेड़ के लाल फूलों को देख वो रोमांचित हो उठा। उसने उठ कर पेड़ के कई फूलों के गुच्छे तोड़ डाले और वापस लौट उस खाली जगह को उन फूलों से भर दिया, जिस खाली जगह से वो इतने दिनों तक जुड़ा हुआ था और जो उसके अंदर के खालीपन का अंतहीन सबब बनी हुई थीं। फूलों को सामने रख वो पैर जोड़ धूल में बैठ गया और अनजाने रस से भीगते हुए उसने अपनी आँखें बंद कर लीं, इस नाउम्मीद ख्याल से कि अब उसमें कुछ पुराना लौटता हुआ दिखाई पड़ेगा। लेकिन आँखें बंद करने पर उसे काले भुतहा दृश्य दिखाई दिए, जिसमें किसी खौफनाक बाबर की शक्ल थी, एक बेतरतीब ढही हुई मस्जिद थी, हजारों नई ईंटें थी और जिनपे मर्यादा पुरुषोत्तम का न मिटने वाला नाम था, और इन सबके साथ लाखों लोग थे जो उन ईंटों को सिर पर ढोए चले जा रहे थे। खूब सारी चीखों पुकार के बीच एक वाक्य था जो करोड़ों प्रहार के समान दमदार और रसूखवाला था 'एक धक्का और दो'।

अच्युतानन्द गोसाई को कस के गुस्सा चढ़ आया। पिछले तीन चार बरस से जिस दिमागी कोहरे को श्री राममोहन पार्षद साफ करने में लगे थे वो उसकी दिमाग में और गहरा गया था। साँझ रात हो चुकी थी। बाहर कालापन था, भीतर उससे भी ज्यादा कालापन घिर गया। अच्युतानंद अपनी आँखों खोजने में लग गया। खूब ताकत लगा कर आँखें खोलने पर उसे दिखाई दिया एक अदृश्य सा वृत्त, उसके अंदर कैद एक ठोस खाली जगह जिसे आज उसने गुलमोहर के लाल फूलों से भरना चाहा था। लेकिन कोई कमाल नहीं हुआ, कुछ मजा भी नहीं आया। वह तमक कर उठ खड़ा हुआ। फूल टूटने पर जल्द कुम्हलाने लगे थे। उसने अपने जूतों में पैरों की पूरी ताकत भर दी और उन फूलों को और मसल डाला, फिर खाली जगह पर एक किक मारी और ढेर सारी धूल कालेपन के साए में उड़ाता हुआ चल दिया।

अम्मी ठीक समझती रहीं। नज्जो का बढ़ना कोई कहाँ रोक पाया, न अम्मी के ढीले ढाले कुर्ते, न चादर की तहें, न रोजा, नमाज की पाबंदियाँ न घर की छतों दीवारों की महफूज सरहदें। मुहल्ले के बाहर, नज्जो के उर्दू स्कूल के कैम्पस के बाहर नज्जो पर लाइन मारने वालों की लम्बी कतारें हुआ करती थीं। मगर नज्जो समझदार हो गई थी, बहुत समझदार। उसे रोजा, नमाज से लगाव हो गया था, नज्जो के चलन का मुसलमान घरों में कसीदा पढ़ा जाता था, उसे ऐसे घरों से अपनाइयत महसूस होती थी, उसका जी होता था, उसके जी में मचलने वाली हजारों ख्वाहिशों के बावजूद वो अल्लाहवाली बनी रहे और राहें मौजूँ होती रहें। वो अब फ्राक उठा कर नाचने वाली लड़की भी नहीं थी, अब तो वो अपने सभी कपड़ों को सलीके से दबा, मुँह पर, सर पर दुपट्टा बाँध चलती थी। उसकी सहेलियाँ खूब लुत्फ उठाती थीं। घायल मजनू उसे देख और घायल हो जाते थे। एक मजनू तो रोज अपने बालों को पीछे दबाता सा, गाता मिल जाता था 'झलक दिखला जा, एक बार आजा आजा आजा...।' सहेलियाँ हँसती चली जाती थीं, नज्जो को छेड़ती हुई। मस्त और खुशगवार सी बयार उनके शरीरों से हवा में बिखरती जाती थी। उन सभी को बड़े होने में खास मजा आ रहा था।

एक दिन लड़कियों ने फैसला किया, स्कूल से लौट कपड़े बदल बाजार जाएँगी। इस बार टेकरी वाली मस्जिद के पास वाली नव दुर्गा समिति ने खूब बढ़िया मूर्ति बैठाई है। मूर्ति पर खूब सुन्दर कपड़े गहने हैं और साथ में कुछ बिजली से चलने वाली झाँकियाँ भी है। लड़कियाँ शाम को सज धज कर चलीं। बाजार में लड़कियाँ खुश रोशनी हो गईं, और जगमग करने लगीं।

ठसमठस भीड़ के बीच लोगों को कतार में बाँध, पण्डाल की सज्जा और झाँकियाँ दिखाई जा रही थी। लड़कियाँ भी कतार में बँध खिल-खिल कर आगे बढ़ रही थीं। 'चलिए, चलिए, ज्यादा समय मत लगाईए, बढ़ते जाइए... एक जगह भीड़ मत बढ़ाइए।' वॉलन्टीयर लड़के बोले जा रहे थे और लोग आगे बढ़ते जा रहे थे। इन्हीं मिली जुली आवाजों के बीच लोगों के कानों ने सुना एक खाली भारी आवाज को 'प्रसाद भी देते जाओ भाई...।' नज्जो के कानों में भी आवाज के बँटते रेशों को तार-तार अपने तक पहुँचते हुए पाया। उसे आवाज का खालीपन और भारीपन दोनों अखर गया। उसने सिर उठाकर देखा। उसके सिर पर दुपट्टा था, उसका सिर्फ चेहरा दिख रहा था, बदन पर कपड़ों की मजबूत तालेबन्दी थी। आसपास खड़े लोगों ने झलक भर देखा और उस एक झलक में जान गए कि लड़की की उम्र ज्यादा नहीं, फिर भी ज्यादा लगने की तैयारी में थी। उस खाली और भारी आवाज के जिस्म में अच्युतानन्द गोसाई

का साबका हुआ, वह आवाज हुआ, फिर जिस्म हुआ, उसने भी सामने देखा और उसके अंतर की ऐतिहासिक खोज भड़क उठी। इतनी भीड़ के बीच भी उसने बिलकुल साफ आँखों से देखा, उसे फल ही दिखाई दिए। दो दहकते अनार और इर्द गिर्द डसते साँप- कुछ बरस पहले जो उसके जीवन में धमक मचा कर और फिर रूठ कर चले गए थे और जिनके जाने से वहाँ एक खाली जगह बन गई थीं, जो न मालूम क्यों आज तक खाली बनी हुई थी। अच्युतानन्द गोसाई को एक चुप लग गई, उसने लोगों की कतारों को चीरते हुए, भीड़ को नियंत्रित करने वाली रस्सी के उस पार जा कर, उस लड़की के बहुत पास जाकर, अपनी चुप की खोई आवाज में फुसफसा कर कहा 'नज्जो...नज्जो है न तू?'

विभिन्न हलचलों के वातावरण में एक नई हलचल पैदा हो गई। उस हलचल का रंग न काला था न सफेद, उसमें जो शोर था उसकी भाषा को भी ठीक-ठीक खोला नहीं जा सकता। वह मिलीजुली थी, वह कुछ नया बनाने का संकेत करती थी, वह अभी अनगढ़ थी, लिहाजा गीली गीली थी, उस हलचल में पानी की थपकी नहीं शोर था, उससे तरावट नहीं, एक उद्वेलन तारी हो रहा था और शायद इसीलिए लड़कियाँ बेजोड़ ढंग से डर गई। उन्होंने उतावली घबराहट से नज्जो को आगे की ओर धकेल दिया, 'निकल यहाँ से निकल... वे भूतों की भाषा में बुदबुदाईं। गिरते पड़ते, डरी-डराई वे पंडाल से बाहर हो गई। अच्युतानन्द वहीं ठगा, खड़ा रह गया।

लड़कियों ने आपस में ही अच्युतानन्द के यूँ ही अचानक नजदीक चले आने की बात को सीने में दफन कर देने की सौगंध ली, वर्ना उन सभी के घरों से बाहर अकेले निकलना बंद कर दिया जाता। 'कुछ मत बताना यार... वर्ना भाई लोग...।' 'हाँ' नज्जो ने गंभीर हो अपने बड़े भाइयों को याद किया... ...नहीं...नहीं, किसी को नहीं पता चलना चाहिए।' मौलवी उस्मान अली का उसी वक्त बगल की टेकरी वाली मस्जिद से इस घटनाक्रम के उस एक क्षण में तपाक से प्रवेश कर जाना, कुछ जिन्नात के बलबले सा लगा लड़कियों को। मौलवी की मौजूदगी ने उनकी बोलती बंद कर दी। बड़ी मुश्किल से उन्होंने अपनी आवाज कहीं से ढूँढ़ी और कहा 'अस्सलामवलैकुम...।' उनके रहस्यों में मौलवी उस्मान अली की घुसपैठ वक्त का तकाजा बन गई और लड़कियाँ सहम पर झुक कर दुहरी हो गई।

खाली प्लाट के बगल वाले घर में अगले दिन सारी बातों को समझदारी से अपने दिमाग से खारिज करते हुए नज्जो ने सुना, वक्त उसकी खारिज बातों को अपनी झोली में लपक चुका था, और उसे कुछ सजाएँ देने पर उतारू था, क्योंकि उसके जैसी

लड़कियाँ सजा से ही पाक बनी रह सकती थीं। टी.वी. पर एक परिवार का झगड़ा चल रहा था, टी.वी. से भी ज्यादा ऊँची आवाज में पप्पू भाई को बोलना पड़ रहा था, क्योंकि जिद्दी नज्जो कभी टीवी की आवाज कम नहीं करती थी और अम्मी उसे कभी कुछ न कहती थीं। 'अम्मी, मौलवी उस्मान अली बता रहे थे ये लड़कियाँ कल देवी देखने गई थीं। ये कुफ्र है, उस मूर्ति की छाया से लड़कियाँ खराब हो जाएँगी। एकदम नापाक।'

नज्जो बचपन के बाद आज फिर उसी तरह दहल गई जैसे कभी कुछ नई जानकारियों के जीवन में प्रवेश करने से दहल जाया करती थी। अम्मी का जवाब सुनने की उत्कंठा से उसके शरीर में एक सिकुड़न फैल गई। उसके दिमाग ने सारी नमाज परस्ती के बावजूद, मूर्ति की छया और उससे उसके खराब हो जाने के दबाव को छूटते ही नकार दिया, 'क्यों बेजान चीजें किसी को खराब कर सकती हैं?' वो दम साधकर बैठ गई। दम साधने पर बचपन की छुप्पम छुपाई का खेल उसको धड़कनों की आवाज को अपनी मुट्ठी में बंधक बना गया। उसे उस अंदर के सन्नाटे से बहुत दिन बाद रूहानी ताल्लुकात बनाते हुए, जाना पहचाना एहसास हुआ, इतने दिनों के बाद मिलने के अटपटेपन से परे सा। वहीं उसे अम्मी की आवाज रेशा-रेशा कर पास आती सुनाई पड़ी।

'मैं समझा दूँगी, अकेले आना-जाना नहीं करेगी अब।' सन्नाटा कच्ची मिट्टी का घड़ा बन कहीं भीतर टूट गया। वहाँ एक क्रिकेट की गेंद आ कर लगी थी और सब कुछ इतना चुपचाप हुआ था कि मिट्टी समेटने का न तो वक्त रहा था न मौका। अगर सिसकी से कुछ बिखरे टुकड़े समेटे जा सकते थे, तो सिसकी भी अपने पूरेपन के शबाब पर आने से इंकार कर रही थी। जिल्लत, सिर्फ जिल्लत और-और जिल्लत के अलावा उस अच्युतानन्द गोसाई ने नज्जो की जिंदगी को कोई और रंग नहीं दिया था। उसका नज्जो से क्या कहीं कोई रिश्ता था? वो तो उससे इतना दूर था, लेकिन फिर भी उसकी जिंदगी तबाह करने पर तुला था। वो क्यों हर जगह था? वो क्यों खाली प्लाट पर था, टी.वी. पर था, बाजार में था, नव दुर्गा समिति के पंडाल में था? उसकी सहेलियों के बीच, उसकी अम्मी के और उसके बीच, उसके और उसके भाइयों के बीच और यहाँ तक कि मौलवी उस्मान अली और उसके बीच रोड़ा बनता हुआ, उसके अंदर काँटे उगाता हुआ न होने पर भी उसके उसके लोगों से खींच कर दूर करता हुआ। नज्जो की मुट्ठियाँ बँध गई, आवेश से बदन थरथराने लगा। उठ कर उसने घर के बाहर जाने वाला मैरून फूलों वाला पर्दा सरकाया और मुँह में उठ आए जिल्लत के बगूले को हिकारत और नफरत से थूक दिया।

इधर नज्जो के अंदर एक नए शिष्टाचार ने जोरदार दस्तक दी। स्थाई रहनवारी के सिब्जबाग में चंदन के लोबान की मौसिकी थी। नज्जो ने मौसिकी को शब्द दिए और जोर से मन कह उठा 'नफरत-बनाम अच्युतानन्द गोसाई।' वही वह दूसरा था, उससे अलग, जिस दूसरे की हवाओं में गुपचुप बातें हुआ करती थीं। वह भी जानती थीं, कुल एक मस्जिद की कहानी से शुरू हुई थी बातें सब, उसके शहर में। टी.वी. पर तो सब दिखाते थे, कैसे उसके पैदा होने के दो साल बाद कोई मस्जिद थी, जिसे अच्युतानन्द जैसे लोगों ने किसी अयोध्या शहर में गिरा दिया था और उसके गिरने की थरथराहट से उसका ये शहर भी काँपा था इस देश के और बाकी शहरों के साथ, और एक सिलसिला सा बन गया था। उसके पैदा होने के ठीक दो साल बाद जो आज तक बरस दर बरस जारी था, और वो इन्हीं बरसों में बड़ी होती जा रही थी और अब पुख्ता हो रही थी, इस जानकारी के साथ कि नफरत जैसे शिष्टाचार से वाबस्ता होना उसे उसके अपने लोगों के बीच कितना महफूज और अपना बनाता है। छः दिसम्बर को, हर बरस जब से उसने पढ़ना सीखा था, उसने जाना था, उसके शहर की दीवारें कैसे गेरुए अक्षरों से पुती रहती थीं। 'राम लला हम आएँगे, मंदिर वहीं बनाएँगे।' यह जुमला कभी पुराना नहीं होता था, हर बरस यूँ ही नया और ताजा हो दीवारों पर दमक उठता था। उसके अपने घर में भी हर बरस छः दिसम्बर से पहले तैयारियाँ कर ली जाती थीं। घर के पर्दों को खींचकर ताना जाता था, दरवाजों पर ताले जड़ दिए जाते थे। मिट्टी के तेल के कनस्तर भरवा लिए जाते थे और छुरों में धार बढ़ाई जाती थी। अम्मी ऐसे समय में कुछ गम खा जाती थीं। वे किसी बाबर को नहीं जानती थीं। उन्हें अयोध्या की सरहदों और उसके होने के बारे में भी बहुत कम ही पता था। यहाँ इस शहर में बैठे-बैठे क्या फर्क पड़ता था, अगर कहीं कोई मस्जिद बचे या ढहे...? मगर पप्पू, गुड्डू और राजा को फर्क पड़ता था। मौलवी उस्मान अली फर्क पड़वाते थे और इस तरह पूरे मुहल्ले में फर्क एक निहायत जरूरी जज्बे की तरह हवाओं के हाजमें में फूँक दिया जाता था बेहद जिन्दा और पोशीदा तरीके से।

श्री राममोहन के घर पर लकड़ी के सोफे पर ऊँघता पड़ा था, अच्युतानंद गोसाई। शहर के आर्चीज शो रूम में टँगे, गुब्बारे कार्ड्स और गुड्डे-गुड़ियाँ बार-बार उसकी आँखों में कौंध रहे थे। लाल, सफेद, गुलाबी गुब्बारे रूपी दिल। फट-फट कर टूट जाने वाले असली दिल! असली दिल टूट जाने वाले! सभी को फोड़ा था, तोड़ा था, उसने अपने इन्हीं हाथों से, इसी बरस चौदह फरवरी की दोपहर जब, प्रचार हो रहा था, किसी वेलेण्टाइन डे का ये कहते हुए कि यह प्रेम दिवस है और उस दिन खुली छूट

होती है, प्रेम प्रदर्शन की। श्री राममोहन के निर्देश पर अच्युतानन्द अपने छः शागिर्दों के साथ लाठी और चेनों के साथ उस दुकान पर पहुंचा था और इंतिहा मच गयी थी। सारे प्रेम प्रदर्शनों पर खूब मार पड़ी उस दिन। उसने अपने इन्हीं हाथों से गला घोंटा था उस सबका। लेकिन आज लगभग आठ महीने बाद उसे वो गुब्बारे, गुब्बारों को थामे गुड्डे गुड़ियाँ खूब याद आ रहे थे। वो टूटती-फूटती दुकान, वो हाथ में पकड़ दबोचे गए, फटाक की आवाज के साथ टूटते दिल...।

यार लोग अच्युतानन्द गोसाईं उर्फ उनके लिए अच्चू भैया जी के इस गमगीन मिजाज से अपरिचित थे। उन्होंने भइया जी को ठंडी बियर की कई बोतलें खोल कर देनी चाहीं, लेकिन भइया जी ने आँख उठाकर नहीं देखा। भइया जी की बात भी राममोहन को बताई गई तो वो एक आँख शरारत से दबाकर हँसे, लड़कों की सब जरूरतों से वाकिफ ही नहीं रहते थे वे, बल्कि उन जरूरतों की पूर्ति के लिए सचेत भी। ''जाओ, पिक्चर वगैरह दिखाओ इसे, अच्छी शराब पिलाओ, या कुछ इंतजाम करो...।'' इंतजाम का नाम रीना, सायरा या मीना हो सकता था और वो शहर के दूसरे छोर पर स्टेशन के पास वाले मुहल्ले में हो सकता था। शार्गिदों ने भइया जी को कंधे पर उठाया, ठीक इस तरह जिस तरह जश्न जीतने के वक्त उठा कर 'जय हो' करते थे और भइया जी हँस बन, गर्दन सिकोड़-मोड़ अपनी जयकार का अभिवादन स्वीकार करते थे। लेकिन आज भइया जी ने आश्चर्यजनक रूप से अपना बदल ढीला छोड़, गिरा दिया और अजीब लुंजपुंज अंदाज में जीप पर सवार सुख की तलाश में ही लिए।

रीना, सायरा, मीना... की फेहरिस्त लंबी थी। इंतजाम के कई गुणात्मक मूल्य थे, एक चमकती दमकती थाली में परोस कर प्रस्तुत किए गए। भइया जी की देह लू लगी तपिश समान जल रही थी, और भइया जी के मन का सूरज अस्ताचल की ओर विश्राम करने चल पड़ा था। उन्होंने आँख उठाकर भी सामने परोसे नैवेद्यों को नहीं देखा। अब शागिर्दों को चिंता नाम का कीड़ा काटने लगा, वे निराश हो गए। उन्होंने भइया जी को, इतने दिनों बाद उनके घर छोड़ दिया, भइया जी के बड़े भाई और भाभी के पास। भाभी ने अपने छोटे देवर को देख चिंता से इतना ही पूछा 'क्या हुआ अच्चू को?' 'तबियत नासाज है भाभी, कुछ ताप चढ़ आया है। कल हम लोग डाक्टर को यहीं लाकर दिखवा देंगे।' भाभी ने अच्चू की तीमारदारी की, हाथ पैरों में ठंडा तेल मला, सिर सहलाया, लेकिन अच्चू के शरीर में चुस्ती का संचार नहीं कर पाई। अच्चू का मुखड़ा निस्तेज ही बना रहा, पीला, निचुड़ा। भाभी ने अच्चू भैया के शागिर्दों को फोन कर दिया 'लगता है कुछ भूत प्रेत का साया तो नहीं, कुछ ओझा बुला झड़वा दिया जाए। रात भर कुछ' 'नज... नज...' कर बड़बड़ाता रहा।'

'अच्छा...।' शगिर्दों को वह जर्द पीला चेहरा जो नज की रट में और निचुड़ रहा था और कुम्हलाती जाती जान का संबंध अब समझ में आने लगा। उन्हें अच्चू भैया से शिकायत होने लगी 'क्या भइया?' नं. एक बोला

'क्या भइ इया... नं. दो बोला',

'क्या भइया, इशारा किया होता? नं. तीन ने उत्तेजना दर्शाई।'

'भइया वही चाहिए, तो कभी कहते आप। उठाना मुश्किल थोड़े ही था। वैसे भी उन लोगों की लड़कियाँ उठाने का मजा कुछ और है, साले हमारी लड़कियों को आए दिन भगा ले जाते हैं।' अच्युतानन्द गोसाईं के लुंज पुंज पड़ी देह में इसपे आड़ी तिरछी हरकत हुई और आग के शोले उसकी आँखों में सवारी करने लगे। वे तपिश से वैसे ही लाल हुई जा रही थीं, अब जलने लगीं। बोलने वाला शार्गिद सिटपिटा गया, उसने तो अपने ट्रेनिंग के हिस्से पैदा हुई बातों को ही दुहराया था।

अच्युतानन्द गोसाईं के दिमागी कोहरे पर लपटें आवेग से उछलने लगीं थीं। उसमें कई दृश्य यूहीं घुलमिल जाते थे। वो दृश्यों को अलग कर उन्हें उनके अलग वजूदों के साथ स्पर्श करना चाहता था और श्री राममोहन से पूछना चाहता था, 'साहब, इन बार-बार वीडियो में दर्शाये दृश्यों का खाली प्लाट के बगल में रहने वाली लड़की से क्या ताल्लुक?' लेकिन वह कभी नहीं पूछ पाता था, क्योंकि वह उन दृश्यों को कभी छाँट कर आजाद हस्तियों वाला नहीं बना पाता था।

सारे शार्गिदों ने अपने ताजादम तेज दिमागी घोड़े दौड़ाए और उनकी आँखों के आइनों में उनकी शख्सियतों की बची खुची भोलेपन की टिमटिमाहट चमक गई। ''अच्चू भैया का दिल कहीं उस मियाइन में अटक गया था।'' इस बार इस शहर में छः दिसंबर की बरसी अभूतपूर्व ढंग से मनाई जाएगी, और उस मिंयाइन और उसके परिवार वालों और उसके कौमवालों की ऐसी की तैसी की जाएगी। साले, अच्चू भैया को तबाह करने पर तुले हैं। सालों को सबक सिखाने के मकसद से मस्जिद गिराई गई थी, फिर भी नहीं सुधरते, डिस्टर्बेन्स पैदा करते रहते हैं...।

श्री राममोहन पार्षद ने अपनी कार्यकर्ताओं की सभा आयोजित की और एक महीने पहले से ही छह दिसंबर का दिन जोरदार ढंग से मनाने का निर्णय ले लिया गया।

चिंताओं के सरकते दौर में, अम्मी का मन भारी हो, दुखने लगा था। नज्जो की शादी ठहराने का ख्याल दबिश डालता जवान हो रहा था। अम्मी ने मन ही मन अगले

बरस के कुछ दिन तय कर लिए मँगनी और शादी के लिए। नज्जो के लिए पैगामों की कमी नहीं थी। बस अम्मी को ही सब सोच समझ तय करना था। साथ ही शादी की तैयारियाँ करनी थीं। उन्हें लगा एक साथ तो तब कर नहीं पाएँगी, धीरे-धीरे कुछ कपड़े सिलवती चली जाएँगी, कुछ गहने बनवाती जाएँगी, बेटों को कह दिल्ली, मुम्बई से घर के मिक्सी, गैस मँगवाती चली जाएँगी, तो एक बरस काफी होगा और एकदम से पैसों की जरूरत नहीं अखरेगी। 'वे अग्रवाल एण्ड संस' के सेठ से लगभग रोज मिलने लगीं।

प्रोग्राम तय हुआ था पाँच दिसंबर की रात का। श्री राममोहन ने गोपनीय निर्देश दिए थे, ज्यादा नहीं, बस दो चार घर, वही जिनके लौंडे, दूसरी पार्टियों के मंच से झूठे सेक्यूलरिज्म का दावा करते हैं, उन्हें ही ठिकाने लगाना है। साले हर बरस हफ्ते भर पहले से ही हथियार इकट्ठा कर बैठ जाते हैं।

नज्जो के घर कुछ खास तैयारी नहीं थी इस बरस। पप्पू, गुड्डू भाई दोनों ड्यूटी पर थे। शहर के मिजाज में ठंडापन था, शौर्य दिवस अपने पूरे रंगों के बावजूद इस बरस थोड़ा कम चमकदार दिखाई पड़ रहा था। इससे अम्मी के मन में थोड़ी ठंडक पड़ी हुई थी और राजा दो दिन की छुट्टी मनाते हुए बिस्तर पर खूब सोने का मन बना रहा था।

अम्मी 'अग्रवाल एण्ड संस' के सेठ को पैसे देने जाने का मन बनाने लगीं। यह देख नज्जो जिद पर उतर आई, बचपना वही...। अम्मी ने बस आँखों के कोने तिरछे कर निमंत्रण दे दिया। नज्जो वही, वही नज्जो, खुश अपनी अम्मी की परछाईं बन चल पड़ी। दुकान पर भारी भीड़ थी। श्री राममोहन पार्षद के लड़के खड़े थे वहाँ, बता रहे थे सेठ को कि कल दुकान बन्द कर शहर में निकलने वाले जुलूस में शामिल होना होगा। सेठ सारी बातें गौर से सुन, सहमति में सिर हिला रहा था। इस सब के दरम्यान भी सेठ ने अम्मी को देख लिया, अम्मी से उसका बरसों का नाता जो था। वो दुकानदारी पुलक के साथ बोला 'रास्ता खाली करो भाई, आने दो...ग्राहक को आने दो।' लड़के झक सफेद कुर्ते पायजामे पहने हुए थे। कुछ के चमकते ललाटों पर लाल दहकता शृंगार था, त्रिपुण्ड के आकार का। वे खूब मस्त लग रहे थे, नाजे नहाए और तन्दुरुस्त। उन्होंने एक पल ठिठक कर सेठ की बात सुनी और बित्ते भर की जगह खाली कर दी, जिसमें से पहले अम्मी कसम्कस कर जूझीं और अंदर गद्दी की ओर धकिया दी गईं और पीछे से बचपन वाली नज्जो अम्मी की उँगली न छोड़ने की कसम से बँधी, सीधे गद्दी पर ठेल दी गई। अच्चू भैया के किसी नामालूम नाम के भगत के ही स्पर्श से आगे ठेली गई थी नज्जो। नामालूम नाम के भगत ने नज्जो को गौर से देखा, गोया

तय कर रहा हो, सामने ठेली गई चीज, चीज थी या चीज में भरी जान। उसका दिल उछल कर गले में अटक गया, जब उसने देखा चीज में भरी जान, नर्म जान थी और वो वही नर्म जान थी, जिसकी वजह से बिचारे अच्चू भैया को ताप चढ़ आया था।

उधर नज्जो के अंदर एक उबाल सिमसिमाने लगा। उसके सिर से दुपट्टा ढलक कर कंधों पर झूल रहा था। उसे वहाँ मौजूद शक्लों के बीच न जानें क्यों हर शक्ल में नामौजूद अच्युतानन्द गोसाईं की शक्ल दिखने लगी। उसका मन किया अंदर के उबाल को उस ठिगने चकले सफेद कुर्ते पायजामे पर उलट दे, जिसने उसे भीतर ठेला था। अच्युतानन्द ही था, उस शख्स में भी घुसा हुआ कहीं से। अच्युतानन्द के कितने सिर थे।

हिकारत घुट कर कहीं छुप गई जब अग्रवाल एण्ड संस का सेठ पैसे बटोरने के बाद झिलमिल सूट के कपड़े दिखाने लगा। रंग और डिजाइन ने मन से सारा कलषु पोंछ दिया। नज्जो के चेहरे पर रंग और डिजायन टँक गए और इतनी रौनक बढ़ गई कि सेठ के मन में भी एक बार कुछ ममता जैसा उग आया, फिर तुरन्तु उसकी दुकानदारी ने हावी हो अपने सामने बैठे ग्राहकों से ग्राहकों का सा सलूक किया और खाते में अम्मी के नाम के आगे उसने झट लिख डाला–बाकी, रुपए 2,5/–

अम्मी और नज्जो अब 'अग्रवाल एण्ड संस' से बाहर निकले तो शाम का झुरमुट घिर आया था। बाजार अपने दरवाजे बन्द कर सर्दियों में जल्दी घर जाने को बेचैन दिखता था। रामरतन बरतन वाला, दुकान के बाहर रखे ग्लास, डोंगे और जग हड़बड़ाकर समेट रहा था। गुड़िया चूड़ी स्टोर के बाहर लगभग ताला बंद होने की तैयारी थी। अलबत्ता ओ.के. डेली नीड्स और जैन बुक स्टोर पर थोड़ी भीड़ डटी थी। अल्पना सिनेमा के बाहर कुछ कम भीड़ थी, रात के नौ बजे वाले शो में अभी काफी वक्त था, पर चाट पापड़ी वाले अपने घर जाने को मुड़ रहे थे। नौ बजे वाले शो में अब कम ही लोग जाते थे। सर्दी की बारिश का नम आभास हवाओं को और सर्द बना रहा था। कुछ धुँधलाई सी सर्द चुप्पी शहर की सड़कों पर बिछ रही थी। अम्मी के कदम तेज चाल में तब्दील हो रहे थे और नज्जो रुक रुक चल रही थी। उसे रुक रुक कर बचपन के वाकये याद आ रहे थे। उसे याद आया बचपन में इसी तरह वह अम्मी के साथ कई बार अकेली जाया करती थी और किस्से कहानियों की फरमाइश कर अम्मी को तंग कर देती थी, उसका मन किया वापस उसी बचपन में कूद कर प्रवेश कर जाए, अम्मी के संग 'अम्मी, यहीं पर सवार आता था न?। अम्मी सवार की बात सुन डर गई, उन्होंने अपनी चाल धीमी कर नाराजगी से नज्जो की ओर देखा 'अभी ये बात क्यों

उठा रही है? पागल है क्या तू?' नज्जो को अम्मी का अंदाज बेगाना लगा 'क्या बड़ी हो गई अब वह इतनी कि बचपन की बातें दुहराई भी न जा सकें?' उसे याद आया, अम्मी कितने चाव से सुनाती थीं, ऐन इसी सुनसान सड़क पर चलते, किसी पीर की कहानी जो आज भी सर्दियों की रात में घोड़े पर सवार इस सड़क से गुजरते हैं। 'अल्लाह माफ करे,' कई लोगों ने उन्हें रूबरू देखा था यहीं। सवार की कहानी कई सौ सालों से चली आ रही थी और आज भी कई राहगीर दावा करते थे, उन्हें रोक पूछा था सवार ने 'कौन?' 'कौन हो तुम?' 'जाओ, ठीक से जाओ।'

'कौन?' 'कौन हो तुम?' बोलता हुआ एक ठिगना चकला सफेद कुर्ता पायजामा नजदीक आया। नज्जो का दिमाग पलटियाँ खाने लगा, उसे लगा उसके बचपन की कहानी का सवार यहाँ उपस्थित हो कैसे गया। कहानी जिन्दा कैसे हो गई? उसने नीम निगाहों से देखने की कोशिश की, सवार घोड़े पर नहीं, एक बन्द जीप में आया था और उसकी सूरत किसी पीर से नहीं मिलती थी, बल्कि उस गंदली सूरत से मिलती थी जो कुछ देर पहले 'अग्रवाल एण्ड संस' के भीड़ भरे माहौल में दिखाई पड़ा था। उसके हलक में एक काँपती हुई सनसनी फैली जो चीख के बजाए चीख का एहसास भर बन पाई और उसके सीने में दुबककर, कहीं हमेशा के लिए खो गई। उसे लगा उसे चक्कर आ रहा है और उसकी डरी आँखें डर से भागने की बेचैनी में मुँद गईं पूरी की पूरी। अम्मी ने अपने पीछे मुड़ देखा, 'क्या किसी ने उन्हें पुकारा था?' पीछे मुड़कर देखने पर न पुकार थी न आवाज न दृश्य न सच्चाई। उन्हें लगा बच के रहने का फलसफा भी आज उन्हें धोखा देने पर उतारू हो गया है। यह क्या है? उनकी नज्जो कहाँ है, ये किसी और दुनिया की बातें हैं और उन्हें किसी और दुनिया में होना चाहिए। उन्हें लगा ठीक–उन्हें मर जाना चाहिए। इच्छा करते ही मौत मिले...। अम्मी को लगा मिल गई, वो पढ़ने लगी कलमा, 'ला इलाहा इल्ललहा...' जब उनके माथे पर कुछ जोर की चीज टकराई। गिरते–गिरते लेकिन उन्होंने इतना जरूर देख लिया, कि नज्जो को उन लोगों ने उठाकर उस बंद जीप में भर दिया था, और खूब सारा धुआँ और हाहाकार छोड़ती हुई जीप उस नम सर्द हवा के चुप्पी भरे अंधेरों में कहीं विलीन हो गई थी।

'नई दुनिया' लॉज का वाचमैन श्री राममोहन पार्षद के सब लड़कों को पहचानता था। शहर से पच्चीस किलोमीटर दूर था लॉज। लड़कों का अड्डा था वो, और श्री राममोहन का शहर से दूर एक अंतरंग ठिकाना। वहाँ बस दो चार नौकर थे, वो भी पूरे ट्रेन्ड। उनका काम था, लड़कों को आते देख, नजर दूसरी ओर कर लेना, बिना नजरों में आए। कमरे खोल देना। बिस्तरों के चादर, तकियों के गिलाफ बदल देना। बाथरूम में साफ टावल लटका देना। कमरे में साफ पानी का जग और गिलास रख देना और उसके बाद अपने आप में अपने वजूदों को ले कहीं अदृश्य हो जाना, अगले आदेश आने तक। उसके बाद के रिक्त स्थानों में न उनकी उपस्थिति भरी जाती थी, न उसकी दरकार थी। सब निर्धारित था।

अच्युतानन्द गोसाईं, 'नई दुनिया लॉज' के कमरा नं. 1 में लेटा हुआ था। उसके सामने एक गोल मेज पर एक प्लास्टिक का फूलदार टेबल क्लाथ बिछा हुआ था, जिस पर लाल–लाल फूल खिले हुए थे। मेज के ऊपर विस्की की आधी खाली बोतल और एक अधखाली ग्लास उसके बगल में थोड़ा टेढा सा पड़ा हुआ था। अच्युतानन्द उन्हें बार–बार वहीं लेटे लेटे देख रहा था और सोच रहा था, उसे आजकल विस्की अच्छी क्यों नहीं लगती थी, और पीने पर नशा चढ़ता क्यों न था? वही हल्के–हल्के सुरूर वाला गुनगुना नशा! तभी उसके कमरे में भड़भड़ाते हुए दाखिल हुए दो शर्गिद और उनके हाथों और कंधे के सहारे, एक गिरती–पड़ती छाया, जो उसे अपने ख्यालों में छाई नज्जो की छाया से मिलती जुलती सी लग रही थी। लेकिन कैसे? वह लपक कर उठ कर बैठ गया, तो देखता क्या है, छाया उसके बगल में सर के नीचे तकिया रख लिटा दी गई। उसे जोर का नशा चढ़ने लगा। उसने अपनी नशे सी चढ़ी आँखों को नीचे कर देखा, दहकते अनार वैसे ही थे। उसे लगा छाया में जान थी, धक–धक करती हुई। उसे लगा कैसे? सब उसकी दिमागी करामत है, यह छाया का खेल सब...! वह निराशा में वहशी हँसी हँसने लगा, सब भ्रम था, सारा का सारा! अच्चू भैया को इतने दिनों बाद हँसते देख, शार्गिदों का हौसला बुलंद हो गया और वे गदगद हो बोले ''भइया आपके लिए तोहफा है, कल की तारीख में खोलिएगा इसे। गुडनाइट!''

अच्चू भैया ने बच्चों के भोलेपन सा हाथ पटका पलंग पर और लटपटाए 'साले... बहन... ये सच है कि सपना? कुछ समझ में नहीं आ रहा है?' 'भैया जी, सच है सच, भैया जी कसम से सच, आप ज़रा छू कर तो देखो...।' और इतना बोल शार्गिद कमरे से बाहर हो गए।

उनके जाने के बाद अच्युतानन्द गोसाईं ने अपने दिमागी कोहरे के पास जा, सारी घटना को समझने की कोशिश की। ये यारों ने क्या कर डाला? क्या सचमुच ही? आह! उसने बगल में लिटाई छाया को छू–छू कर तय करना चाहा, ये सच है या सपना? क्या...? सबसे पहले उसने दहकते अनारों की दहक परखने की कोशिश की। उसकी उँगलियों में जुंबिश हुई और अनारों को छूते वक्त उसके हाथ जल गए। उसे झुँझलाहट ने घेर लिया, एक तो हाथ जल गए, दूसरे अनारों के इर्द गिर्द जो साँप

हुआ करते थे, वो दिखाई नहीं पड़े। उसने खोज शुरू कर दी। कस के उँगलियाँ समेट कर उसने छाया की बाँह पर चिकोटी काटी। 'आह...।' एक आवाज कहीं बाहर हो जैसे, वैसी ही धीमी, धुँधली सी, सुनाई पड़ी जो कमरे की दीवारों पर मकड़ी बन चिपक गई। अच्युतानन्द खुश हो गया, उसका सपना बोलता सपना था। वो लंबी दूरियाँ पार कर उस तक पहुँचा था और सच हो गया था।

अम्मी को होश, उस सुनसान रास्ते में चलने वाले राहगीरों ने दिलाया। अम्मी गिरी सड़क पर थीं, उठी तो सड़क के किनारे थीं। उनकी बेबसी शूल पैदा कर रही थी। वो चीखना चाहती थीं। 'हाय मेरी नज्जो...।' पर लड़की जात की इज्जत का सोच वो धीरे-धीरे रो रही थीं। अपने अन्तस को डुबाते, एक ऐसे गड्ढे में, जो नज्जो के अब्बा के गुजर जाने के वक्त उनके अंदर एक बड़ी जगह घेर चुका था, लेकिन वक्त ने जिसे रफ्ता-रफ्ता सुखा दिया था, वह आज फिर बेहयाई से गहराई तक खुद गया था। वह अपने होने के एहसास से अम्मी को झिंझोड़ रहा था, अम्मी की सिसकियों के साथ...। 'क्या हुआ?' 'अरे देखो क्या हुआ?' 'बहन जी क्या हुआ? कौन थे बदमाश, कुछ चुराया क्या?' 'हाँ...हाँ...हाँ, नहीं...नहीं...नहीं।' एक दोपहिए वाले को रोक, राजीव नगर तक पहुँचा दिया गया अम्मी को। अम्मी बदहवास घर की ओर दौड़ीं। राजा बाहर यारों की मंडली जमाए बैठा था। 'नज्जोऽऽऽ' बोल गिर पड़ीं अम्मी। जब तक माजरा समझ में आता, लड़के तैयार हो गए..., हथियारों से लैस। अम्मी बौरा कर चिल्लाने लगी, 'अरे लड़ाई-झगड़े से मेरी नज्जो कैसे मिलेगी, पहले उसे ढूँढ़ो, पुलिस में चलो...!' लड़के बिफरने लगे। तमतमाहट और अपमान से राजा की आँख भींगने लगी, वह गरजा 'सबको खत्म करो...सालों को...!' अम्मी अपने तर्कों के वजन के बावजूद हारने लगीं और मिनमिनाई... 'पुलिस...पुलिस की मदद।' लड़के उन्हें वहीं छोड़ राजीव नगर के घरों में चल दिए, जवानों को अपने अभियान में शामिल करने। तैयारी तो पहले से थी ही। अम्मी मतसुन्न, डगमगाते कदमों से अपने घर के आखिरी दमघोंटू कमरे में चलती चली गईं। वहाँ एक गुलाबी फूल और हरी पत्तियों वाला टिन का बक्शा अभी भी रखा हुआ था, जिसपे चिढ़ने का जिद में नज्जो एक बार गुम हो गई थी। अम्मी नीम अंधेरे में वहीं नज्जो के पैरों के निशान तलाश करने लगीं।

अच्युतानन्द अपने भाग्य से रश्क करता हुआ चीखना चाहता था, उत्तेजित आह्लाद से भर, 'नज्जो तू सचमुच यहाँ है, मेरे इतने पास?' लेकिन वो चीख नहीं पाया। उसे अचानक ही दो काले साँप दिखे जिनकी खोज में वो कुछ देर पहले ही भटक गया था। वे उसके सामने कुंडली मारे बैठे थे उसे डसने को तैयार। हालाँकि वह अभी जीत

के घोड़े पर सवार था, लेकिन फिर भी वह सहम गया, उसने झुक कर अपना मुँह उस चेहरे की ओर किया जो नज्जो की परछाईं का ही चेहरा था, और अब परछाईं से निकल पूरा का पूरा नज्जो का चेहरा बन चुका था। उसके ऐसा करने पर उसे अपने मुँह पर कुछ लिसलिसा सा गंदे एहसास वाला फैलता महसूस हुआ, जो उसके अपने मुँह से उसके अंदर तक जाने को तत्पर था। उसे खराब-खराब लगने लगा। उसने अपनी जेब से रूमाल निकाला और पहले नज्जो का मुँह पोंछा फिर अपना। उसे नज्जो के मुँह से कुछ टूटे-फूटे शब्द निकलते सुनाई पड़े। उसने अपने दिमाग और कानों को उस दिशा में मोड़ा जहाँ से शब्द निकल रहे थे। उसने टूटे-फूटे शब्दों को जोड़ा तो उसे घृणास्पद जज्बों से सने शब्दों के अर्थ समझ में आए। उनमें कुछ विषैले तीर भी थे। उसे आश्चर्य हुआ, इतनी नाजुक लड़की इतना मैल अपने अंदर कैसे रख पाई थी? वह इतनी सारी नई बातें देख उन्हें समझने की कोशिश में थक गया। सुस्ताने की गरज से उसने थोड़ी देर के लिए अपनी स्थिति में परिवर्तन किया। वह पलंग के सामने रखी कुर्सी पर बैठ गया और वहीं से नज्जो के भीतर के रहस्यों को देखने की कोशिश करने लगा। उसके कान में एक घड़ी की टिकटिक सुनाई पड़ी। उसी सुनाई पड़ने के साथ उसे याद हो आए वो वीडियो फिल्म्स के दृश्य जो श्री राममोहन के यहाँ उसे बार-बार दिखलाए गए थे। वो एक टूटी-फूटी सी मस्जिद, उसके आस-पास हजारों कार सेवक, मस्जिद के ऊपर चढ़े लोग, चीखती आवाजें, 'एक धक्का और दो...।' उत्तेजना से उसका पूरा शरीर फड़कने लगा, उसने अपना मोर्चा सँभाला, उसके कानों में वही-वही आवाजों की रेलपेल मच गई। घड़ी की टिकटिक, समय का बदलना, नए दिन का आगाज, नई दुनिया की ईजाद..., के स्वर से स्वर मिला सारी की सारी पृथ्वी थरथराई और अलसुबह शौर्य दिवस का सूरज इस्तकबाल में इठलाता चला आया।

वन्दना राग

युवा लेखिका वंदना राग ने अपने कहानी लेखन की शुरुआत 'हंस' पत्रिका से बहुत पहले की, लेकिन फिर एक लम्बा अन्तराल रहा। वन्दना एक लम्बे अंतराल के बाद दुबारा आईं और कहानी के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण नाम बनकर उभरीं। लगातार कहानियाँ लिखीं, हर महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कीं। अब पहला कहानी संग्रह 'यूटोपिया' राजकमल प्रकाशन से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। अनुवाद भी करती हैं। संवाद प्रकाश से हाब्समॉस की पुस्तक का अनुवाद 'पूँजी का युग' के नाम से अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

यस सर

–अजय नावरिया

'तिवारी, पानी डाल।'

डी.जी.एम. नरोत्तम सरोज की भारी आवाज, बाहर स्टूल पर बैठे रामनारायण तिवारी के पेट में पारे की तरह उतरती चली गई। बाईस साल की नौकरी में ऐसा पहली बार हो रहा था तिवारी के साथ, कि जब भी नरोत्तम आवाज देता तो तिवारी को हाजत-सी महसूस होने लगती। उसने सिर को एक तरफ झटका ताकि वहम दूर हो। पिछले साल से उसे वहम का यह रोग लग गया था। साल भर पहले ही नरोत्तम सरोज तरक्की पाकर ए.जी.एम. से डी.जी.एम. बना था।

'नीच! उम्र का भी कोई लिहाज नहीं करता। मुझसे कुछ नहीं तो बारह साल छोटा होगा। कोटे से बन गया अफसर तो टेढ़ा-टेढ़ा तो चलेगा ही। कोटा नहीं होता तो कहीं झाड़ू लगा रहा होता।' वह भुनभुनाते हुए तेजी से कमरे में घुसा। 'ति' सुनते-सुनते ही उसने यह सब सोच लिया था और 'वारी' तो उसने नरोत्तम के कमरे में दरवाजा खोलकर सुना।

दिल्ली के अक्तूबर की इस सुहावनी ठण्ड में भी तिवारी को गर्मी महसूस हुई थी।

'यस सर।' कह तो गया तिवारी, पर कहते हुए उसकी जैसे जीभ छिल गई। उसे लगता कि कोई उसे गहरे कुएँ में डुबोता जा रहा है। वह खुद को समझाता रहता कि कुछ दिन बाद नरोत्तम का तबादला हो जाएग। रोज सुबह तिवारी को पूजा करने की आदत अपने परिवार से मिली थी, जिसे वह 'संस्कार' मानता था। वह रोज पूजा करते

वक्त नरोत्तम के तबादले की प्रार्थना करता। कभी-कभी तो उसके मन में आता कि वह विष्णुजी से इस राक्षस की मौत माँग ले, पर संस्कार उसे रोकते थे। वह सोचता था कि आखिर इसने मेरा बिगड़ा ही क्या है।

तबादले के लिए तो वह सत्यनारायण की कथा बोल चुका था। हर रोज वह दफ्तर यही सोचते हुए जाता कि आज जब वह दफ्तर पहुँचेगा तो पाएगा कि नरोत्तम जा चुका है। पर उसका यह ख्वाब, हकीकत नहीं हो पा रहा था।

'अब वहीं खड़ा रहेगा, इसमें पानी भर।' नरोत्तम बिना आँख उठाए अपना काम करता रहा। वह कुछ लिख रहा था। इस हुक्म में कोई तल्खी नहीं थी पर तिवारी बुरी तरह आहत हो गया। तिवारी ने कई बार सोचा था कि वह उसके पानी में जहर मिला दे तो... पर बस सोचकर रह गया था। कमबख्त खुद को अंग्रेज की औलाद समझता है। कॉफी और पानी का थर्मस भी अपनी कार में घर से लेकर आता है। कहता है कि यहाँ के पानी का कोई भरोसा नहीं। तिवारी कसमसाया।

'तुमने देखा है कभी आर.ओ. सिस्टम, तिवारी, हमारे यहाँ कई सालों से है।' उस दिन नरोत्तम ने कहा तो तिवारी सुलग गया, उसके अहंकार से। 'अच्छा बता तिवारी, आर.ओ. का क्या मतलब होता है?' नरोत्तम ने फाइल पर लिखना बन्द कर दिया और गाढ़ी नजर से उसकी आँखों में झाँका।

तिवारी को लगा कि इन निगाहों में वह कीड़ा-मकोड़ा बन गया है। 'आर.ओ. मतलब एक तरह का एक्वागार्ड सर।' तिवारी ने सतर्क होकर जवाब दिया। वह दिखा देना चाहता था कि वह कोई मिट्टी का माधो नहीं है।

'बस तुम लोगों में यही कमी है... गधे घोड़े सब बराबर।' नरोत्तम झल्ला पड़ा। 'टूथपेस्ट खरीदने जाओगे तो कहोगे कोलगेट खरीदने जा रहा हूँ और डिटरजेन्ट खरीदो तो कहोगे सर्फ खरीद रहा हूँ। अरे बेवकूफ, एक्वागार्ड तो कम्पनी का नाम है। इसे वाटर प्योरिफायर कहते हैं... पानी साफ करने वाली मशीन और आर.ओ. सिस्टम तो दो अलग चीजें हैं। टी.वी. पर नहीं देखते? इसे ड्रीमगर्ल हेमामालिनी अपनी दोनों बेटियों के साथ बेचने के लिए आती है।' यह कहते हुए नरोत्तम अपनी आदत के विपरीत कुछ मुस्करा गया। यों वह कभी मुस्कराता भी नहीं था।

मुस्करा तो तिवारी भी जाता, पर उसकी छाती में तो नरोत्तम का कहा 'बेवकूफ' शूल की तरह गड़ गया था।

रामनारायण तिवारी ने अपनी जिंदगी के शुरुआती अट्ठारह साल अपने गाँव में

बिताए थे। उसके पिता पण्डित शिवनारायण तिवारी की कभी आस-पास के दस गाँवों में जजमानी थी। वह अब भी गाँव से जुड़ाव खत्म नहीं कर पाया था। उसका बड़ा बेटा तो वहीं हुआ था। वह अपनी पत्नी को जापे के लिए शहर से गाँव ले आया था। वह जब भी गाँव जाता तो भूल ही जाता कि वह भारत सरकार के एक सार्वजनिक उपक्रम में चपरासी है। गाँव के बस अड्डे पर उतरते ही उसका सत्कार शुरू हो जाता था। गाँव तो वहाँ से लगभग एक किलोमीटर दूर था, पर तेज धूप में भी यह दूरी मीठी लगती थी। हर दस कदम पर, कोई आदमी या औरत, रामा-श्यामा करता था या पैर छू लेता था।

गाँव में आज तक उसने बताया भी नहीं था कि वह दिल्ली में चपरासी के पद पर है। इसकी तीन वजह वह अपनी आत्मा को समझाता था। एक, इससे लोगों का क्या लेना-देना है कि वह शहर में क्या काम करता है? दूसरे, दस गाँवों में प्रसिद्ध, सत्यनारायण और मानस के कथावाचक स्वर्गीय पण्डित शिवनारायण की प्रतिष्ठा को दाग लगाने का उसे कोई अधिकार नहीं है। और तीसरे यह कि उसे कोई हक नहीं कि वह गाँव के लोगों के इस भोले विश्वास को तोड़े कि उनके गाँव के आदरणीय ब्रामन देवता, शहर में अपने अफसरों के जूठे बर्तन धोता है। यह जानकर ही उन लोगों को पाप लगेगा। इसलिए वह खुद को बाबू ही बताता और गाँव के कुछ लोग उसे बाबूजी पुकारने लगे थे। 'पंडितजी पांय लागू' से ज्यादा 'बाबूजी पांय लागू' तिवारी की आत्मा को सुकून देता था। गाँव के धीमा बाल्मीकि से, जब उसने कन्धे पर हाथ रखकर हालचाल पूछा, तब से उसका गाँव में कद और बढ़ गया। 'कौन छोटा, कौन बड़ा, सब इंसान हैं' वह उदारता से कहता 'एक नूर से सब जग उपजा।'

'आर.ओ. यानी रिवर्स ऑस्मोसिस सिस्टम।' नरोत्तम ने कहा तो तिवारी का मुँह खुल गया, आँखें सिकुड़ गईं और माथे पर सलवटें आ गईं। किसी शिष्य की अपने गुरु के सामने जो हालत हो जाती है, वही हालत तिवारी की हो गई थी।

'अच्छा छोड़, तू कॉफी डाल और जा।' नरोत्तम समझ गया।

'यस सर।' तिवारी के स्वर में अदब था। कुछ जान छूटने का भाव भी। किसी दिन बाहर से कॉफी मँगाए तो जहर घोल दूँगा इसकी कॉफी में... और नहीं तो, कॉफी में थूककर तो जरूर ही पिलाऊँगा... अपने स्वर्गीय पिता की कसम खाई कि झूठी करके तो जरूरी ही पिलाऊँगा। लेकिन जब उसे दो-एक बार मौका मिला तो वह ऐसा नहीं कर सका। उलटे वह कॉफी के कप को प्लेट से ढँककर बड़े जतन से लाया। इतने जतन से तो वह अपने लिए भी चाय नहीं लाता था। अपनी करनी और कथनी को

वह बार-बार कोसता। कभी इस बात के लिए कि वह आखिर क्यों ऐसा नहीं कर पाया और कभी इसलिए कि आखिर वह किसी इन्सान के लिए ऐसा कैसे सोच सकता है। यह इंसानियत नहीं है। पर क्या यह इंसानियत है कि कोई अपने से दस-बारह साल बड़े आदमी से तू-तड़ाक से बात करे!

'मेरे बेटे से सात-आठ साल ही तो बड़ा होगा।' पल भर को उसकी आँखों में उसके खूबसूरत बेटे का चेहरा घूमता रहा। गोरा रंग, चौड़े कन्धे, काले घुँघराले बाल, लम्बा कद, भूरी आँखें, चौड़ा माथा और ऊँची नुकीली नाक, बीस साल का प्रथम श्रेणी से पास ग्रेजुएट युवक। 'यह नीच तो रिजरवेशन से यहाँ तक पहुँचा है।' उसने नरोत्तम को कोसा।

'अब कब तक यहाँ मेरे सिर पर खड़ा रहेगा तिवारी?'

नरोत्तम की आवाज अब भी भारी थी, पर होंठों पर एक हल्की मुस्कान थी। तिवारी उसकी मुस्कराहट से झुलस गया। 'जा यह फाइल मिश्राजी को दे आ... जल्दी।' नरोत्तम ने फाइल मेज पर फेंक दी। 'बीच में मत अटक जाना।'

'यस सर, नहीं-नहीं मतलब नो रस।' वह झुँझला गया। 'आप बताइए सर मैं क्या कभी काम में देरी करता हूँ।' तिवारी का यह जरूरत से ज्यादा खुशामदी स्वर था। तिवारी खुद भी हैरान हुआ कि यह उसके भीतर से क्या निकल रहा है? यह कौन उसके भीतर से बोल रहा है? वह इस नीच के आगे क्यों घिघिया रहा है? कमरे से बाहर निकलते हुए उसका अपने झुके हुए कन्धों पर ध्यान गया। उसने कमर कसी, रीढ़ सीधी की और भरसक छाती को बाहर निकाला। वह ए.जी.एम. राममूर्ति मिश्रा के कमरे में घुस गया।

'सर...।'

'हूँ।' मिश्रा अपने काम में डूबा हुआ था और उसका ध्यान भी नहीं पड़ा कि कब रामनारायण अंदर आ गया। तिवारी की आवाज सुनकर उसने नजरें उठाने की जगह, पूरी गर्दन उठाई। चश्मा लगाने वालों को अक्सर पूरी गर्दन उठाकर देखना पड़ता है।

'फाईल।' तिवारी ने फाइल मेज पर रख दी। उसकी आवाज उदास थी और वह चाहता था कि मिश्रा इसका नोटिस ले, इसलिए उसने चेहरा भी दुखी बना लिया।

'कोई और काम?' मिश्रा ने बेरुखी से पूछा और लिखना शुरू कर दिया।

'साहब, काम क्या, कलयुग आ गया है... ब्राह्मणों को नीचों के जूठे बर्तन धोने पड़ रहे हैं।' तिवारी ने मिश्रा को उकसाने की कोशिश की।

'तो नौकरी छोड़ दो। किसी डॉक्टर ने बताया है कि यहाँ काम करो?' जाओ गाँव में, भीख माँग कर खाओ।' मिश्रा की इस करारी आवाज से वह सहम गया।

'नहीं, सर, मेरा कहने का मतलब यह नहीं था, मतलब..., जहाँ आप जैसे विद्वान ब्राह्मण का बैठना तय हो, वहाँ एक नीच जात 'कोटे' से आकर, हम पर हुक्म चलाए तो क्या खराब नहीं लगेगा?'

तिवारी ने एक बार फिर दाँव खेला और मिश्रा के चेहरे पर चित्त के भाव उभरे। मिश्रा ने 'हूँ' कहकर खुद को सँभाल तो लिया, पर पेन मेज पर रख दिया। उसका मन उचट गया। वह थोड़ी देर पहले वाली तल्लीनता खो गई।

'उस शाम आपसे कैसे बदतमीजी से बोला था, फाइलों को आपकी तरफ फेंक दिया था नीच ने।' मिश्रा के मुरझाए मनोभावों को पकड़ लिया तिवारी ने।

'अब यह सब तो होना ही है।' मिश्रा की आवाज में मायूसी से ज्यादा मजबूरी थी। पुराना घाव कसक गया था। 'कल का लौंडा, हमारे सिर पर बैठ गया। एम.बी.ए. किया है तो क्या हमारे सिर पर मूतेगा?' हम बीस साल में, कलम घिसते-घिसते यहाँ तक पहुँचे हैं। मेरी बेटी से साल-डेढ़ साल बड़ा है बस। कोटा नहीं होता तो क्या यहाँ पहुँच सकता था?'

मिश्रा ने लंबी साँस भरी।

'घमंड बहुत है सर इसमें। ऐसे तो कभी बात ही नहीं करता, पूरा दिन चुपचाप बैठा रहता है। कभी की भी तो, सातवें आसमान से बोलता है।' 'तिवारी की आवाज सुलग रही थी। 'आपको पता है-वह थर्ड डिवीजन है।' तिवारी ने अवाज धीमी की, जैसे कोई राज की बात बता रहा हो।

'हाँ, मुझे पता है।' मिश्रा का स्वर अब तो उदास था। उसे वह दिन याद आया, जब नरोत्तम ने अपने एम.बी.ए. के संघर्ष के बारे में बताया था। थर्ड डिवीजन होने के दंश के बावजूद वह रात-दिन पढ़ाई में लगा रहा और पहली ही कोशिश में, एम.बी.ए. में पहुँच गया। 'जब जागो, तब सबेरा।' नरोत्तम ने यही मंत्र बनाया था।

'अरे साहब कमीना है साला।' तिवारी का भड़ास निकालते-निकालते और हौसला बढ़ गया।

'अरे तू जा।' मिश्रा की आवाज एकाएक सख्त हो गई। उसकी सख्ती ने तिवारी को उसकी औकात समझाई।

तिवारी अपनी गलती समझ गया और मुड़कर जाने लगा।

'हाँ सुन, तुझे मैंने पहले भी दस बार कहा है कि कमरे में घुसने से पहले दरवाजा खटखटाकर पूछ लिया कर।' तिवारी ने पलटकर देखा मिश्रा उसी तल्लीनता से काम में लगे थे, जैसे नरोत्तम दिखता है।

'दोगला...इसीलिए तो जात-बाहर किया हुआ है गाँव में।' तिवारी बाहर आकर मिश्रा को गलियाँ बकने लगा। चलते हुए तिवारी की नजर दीवारघड़ी पर पड़ी-'अरे बारह भी बज गए!'

'अरे पंडिजी नमस्कार।' तिवारी ने पलटकर देखा। स्टोर रूम के पास रखे सोफे पर दुर्गादास बाल्मीकि पसरा हुआ था। वह हाथ के इशारे से उसे अपनी तरफ आने को कह रहा था। वह अनमने मन से, उसकी तरफ बढ़ गया। दुर्गादास के पास पहुँचने पर वह उठा नहीं तो तिवारी को बुरा लगा।

'क्या पंडिजी, आप तो सारे दिन मारे-मारे फिरते हैं, थोड़ा बैठिऐ।' यों तो दुर्गादास पचपन साल का था, पर तीन फ्लोरों पर झाड़ू लगाने की मेहनत के कारण उसकी काया मजबूत थी। 'सिगरेट पियोगे?'

तिवारी उसके साथ बैठ गया। दुर्गादास ने उसकी तरफ ट्रिपल फाइव का सुनहरा पैकेट बढ़ाया तो उसकी आँख में चमक आ गई।

'कहाँ से मारा बे?' तिवारी के मुँह से, बेसाख्ता गिर पड़े अल्फाज। तिवारी ने फुर्ती से हाथ बढ़ाकर एक सिगरेट होंठों पर अदा से लगा ली।

'आप भी पंडिजी... मारी क्या...खुद ही दे दी साहब ने।'

'किस साहब ने?' तिवारी ने सिगरेट सुलगाई और पैर फैलाकर, चीफ जी.एम. अभयसिंह डबास की तरह कश भरने लगा। वह सुरूर में आ गया था।

'अरे पंडिजी, जिन्हें मैंने कल अपने बीस सूअर बेचे थे, वही साहब।' दुर्गादास ने सिगरेट को मुट्ठी में भींचकर जोर का सुट्टा लगाया।

यह सुनकर तिवारी के मुँह से सिगरेट गिरते-गिरते बची। दुर्गन्ध का एक तेज भभका उसके मुँह में घुस गया। उसका मन हुआ कि वह सिगरेट फेंकर उसे जोर से फटकार लगाए।

'क्या कोई पंजाबी था?' तिवारी ने आस पकड़ी।

'अरे पंडिजी, आप सच में तिरकालदरसी हैं, इसीलिए मैं आपकी इतनी इज्जत करता हूँ।' दुर्गादास ने उसके घुटने दबाने शुरू कर दिए।

तिवारी को यह सुनकर जैसे साँस मिल गई। उसने जल्दी-जल्दी दो तेज कश लगाकर घिन को धक्का दिया। उसने फिर पैर फैला दिए और उसी अंदाज में छत की तरफ मुँह करके कश लगाने लगा, जैसे सी.जी.एम. डबास लगता था।

'हाँ, कोई चोपड़ा साहब थे, हमारे दूरे के समधी के जिनेस पार्टनर हैं। हमारा समधी भी देख लो तो आप उसे कश्मीरी ही कहोगे। पन्द्रह साल पहले पिग फार्म खोला था, सरकारी लोन से, आज साला करोड़ों में खेल रहा है।' दुर्गादास के चेहरे पर पछतावा था, गर्व था, प्रतिद्वंद्विता थी। 'मुझे चिढ़ाने' को उसने ट्रिपल फाइव की सिगरेट मेरी तरफ बढ़ाई, जैसे मैंने पहले कभी देखी ना हो। पर गुरुजी, मैं भी समझ गया, एक नंबर का चंट हूँ, पूरा पैकेट पकड़ लिया और पूछा 'रख लूँ' तो साला फँस गया। शेखी में बोला 'रख लो, रख लो'। खूब जानता हूँ पैकेट तो चोपड़ा साहब का था।

'दुर्गा, तू अच्छी भली नौकरी में है। तुझे क्या पड़ी ये सूअर-वूअर पालने की?' लात मारो ऐसे गंदे धंधे में।' तिवारी उबर गया था।

'अरे पंडिजी, ऐसा अशुभ मत बोलो। सूअर तो हमारे बच्चे हैं, हमारी लक्ष्मी हैं। इनकी वजह से चार पैसे की आमदनी हो जाती है। अब क्या लोग गाय-भैंस, भेड़-बकरी नहीं पालते? ऐसे ही हम सूअर पालते हैं। धंधा कैसा गंदा, कैसा छोटा, पैसा जरूर छोटा-बड़ा होता है। अब चोपड़ा भी तो यही धंधा कर रहा है, बस बड़े पैमाने पर कर रहा है। पंडिजी, बस पैमाने का फर्क है। झाड़ू के काम को भी बड़े पैमाने पर कर दो, कुछ गलत नहीं बचेगा।' तिवारी की बात उसे गहरे तक चुभी थी।

'चल ठीक है, साहब की कॉफी का वक्त हो गया।' तिवारी ने उसकी पीड़ा को महसूस कर लिया था। उसने सिगरेट फर्श पर रगड़कर बुझाई और टोटा सोफे के नीचे सरका दिया।

'एक और ले लूँ?' तिवारी घुटने पर जोर देकर उठ गया।

'दो रख लीजिए पंडिजी।' दुर्गादास ने पैकेट तिवारी की तरफ बढ़ाया। तिवारी ने ईमानदारी से दो सिगरेट निकालीं और पैकेट वापस लौटा दिया।

तिवारी कुछ चुस्त कदमों से नरोत्तम सुमन के कमरे के सामने पहुँच गया। उसने घड़ी देखी। बारह दस। दस मिनट ऊपर हो गए, कॉफी देने में, नीच जरूर डाँट लगाएगा। सोचते-सोचते उसने अपनी कमीज की चढ़ी हुई आस्तीनों को खोलकर, कलाई तक लाकर बटन लगाए।

'एक तो ससुर, इतनी ठण्ड में भी ए.सी. चलाकर बैठता है।' वह मुर्गे की तरह

कुड़मुड़ाया। 'अंदर आऊँ साहब?' तिवारी का यह अति विनम्र स्वर था।

'हाँ, जरा ए.सी. देख, कितने पर है।' नरोत्तम अब कंप्यूटर की स्क्रीन पर कुछ लिखने में व्यस्त था।

'साहब, बाइस पर है।'

'अट्ठाईस पर कर दे, हर काम पूछकर करेगा क्या? मौसम बदल रहा है, पर तुम मेहनतकश लोगों की तो खाल मोटी होती है न। तुम्हें कैसे पता लगेगा?' उसकी नजरें अब भी कंप्यूटर पर गड़ी हुई थीं।

'साले, हरामी, कुत्ते, कमीने, नीच, बाप ने ना मारी मेंढकी, बेटा तीरन्दाज।' तीवारी को जितनी गलियाँ याद थीं, उसने मन-ही-मन सब दे डालीं। उसे बेतहाशा, पहले वाला डी.जी.एम. मनोहर पटेल याद आया। मनोहर पटेल कभी तिवारी को नाम से नहीं पुकाराता था। अपने जूठे बर्तन धुलवाना तो दूर वह उससे पानी पिलाने को भी नहीं कहता था। बस वह फाइलें ही उसके साथ इधर-उधर भिजवाता था। उन दिनों तिवारी की खूब मौज थी। अफसर पहले आता था और चपरासी बाद में, पर कोई शिकायत नहीं। मुसीबत तब शुरू हुई जब दफ्तर में पंचिंग मशीन लग गई। अब उनके कार्ड पंच होने लगे तो सबको ठीक नौ बजे पहुँचना जरूरी हो गया।

तिवारी ने इस नई मशीन को कई दिन तक कोसा था। आज भी जैसे ही इस मशीन की बात चल जाती है तो जैसे पुराना घाव कसक जाता है।

'ले तिवारी।' नरोत्तम की तरफ तिवारी की नजरें उठी थीं। उस हाथ में दो कागज थे। हाथ कि दिशा तिवारी की तरफ थी और निगाहें अब भी कंप्यूटर पर गड़ी हुई थीं।

तिवारी ने चुपचाप और लगभग तत्परता से वह कागज पकड़े थे। हालाँकि, कागजों की लिखावट अंग्रेजी थी, पर मतलब की बात हो तो लिखावट तो चीनी भाषा में भी समझी जा सकती है। वह जोर से चिल्लाना चाहता था, पर चिल्ला न सका। खुशी से आवाज ही चीख पड़ी—'आपकी मेहरबानी सर... आप जुग-जुग जिओ सर... आपकी पद-प्रतिष्ठा और बढ़े।' एक कागज में नरोत्तम ने तिवारी की कर्मठता और स्वभाव की पुरजोर प्रशंसा करते हुए उसके प्रमोशन की पैरवी की थी। यह पत्र सी.जी.एम. अभयसिंह डबास के नाम था। दूसरा पत्र सी.जी.एम. का था, जिसमें पैरवी को स्वीकृति दे दी गई थी।

'खुश है तू?' नरोत्तम ने अपनी मूविंग चेयर घुमाकर उसकी तरफ की।

तिवारी की आँखों में 'तू' सुनकर भी कृतज्ञता झिलमिला रही थी। तिवारी की

आँखों में नरोत्तम का रूप पहली बार उतरा। उजास से भरी साँवली रंगत, छोटी-सी नाक, घने काले बाल, बड़ी-बड़ी कजरारी आँखें, मोटी-मोटी भवें, घनी मूँछें, सुती हुई गर्दन, मजबूत कंधे और हल्के नीले रंग का सूट... एक भव्य व्यक्तित्व लगा उसे नरोत्तम का।

'एकदम भगवान राम जैसे दिखते हो आप सर।' तिवारी के मुँह से कृतज्ञता में गिर पड़े शब्द। 'कितने पैसे बढ़ जाएँगे?'

'लगभग दो हजार!' नरोत्तम की आवाज मुलायम और उत्साह से भरी हुई थी, जैसे कोई गर्म रोटी फूली हो।

यह सुनते ही तिवारी के कान में मधुर संगीत छिड़ गया था। वह ध्यान से थर्मस से कॉफी कप में डालने लगा। उसने नरोत्तम को कंप्यूटर पर व्यस्त देखा तो दबे पाँव बाहर निकला ताकि उसके जूते के घिसटने की आवाज न हो। बाहर निकलते हुए उसने दरवाजा बहुत धीमे से बंद किया। दरवाजे की चर्र-मर्र की आवाज तक उसने न होने दी।

उसने लगभग हर केबिन में जाकर अपना दिखाया। उसे फिर भी शांति नहीं मिली। पहले उसने सोचा कि पत्नी को शाम को बताकर चौंका देगा। उसके चेहरे के भावों को देखकर मन ठंडा करेगा। काफी देर इधर-उधर करने के बाद आखिर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बता देने में कोई हर्ज नहीं है। फिर उसने फोन करके पत्नी को ही नहीं, साले, जीजा, भाई, भौजाई, मामा-मौसा सबको एक-एक करके उनका हालचाल पूछते हुए अंत में इसकी सूचना भी सहज ढंग से दे दी। उन सभी ने उसे खूब-खूब बधाई दी, पर कमबख्त चैन जाने कहाँ चला गया था। चैन की इसी गुमशुदगी के बीच जाने कब उसने साहब का लंच परोसा और कब खुद खाया।

'चलो एक घंटा रह गया।' तिवारी घड़ी देखते हुए बुदबुदाया। सामने घड़ी में साढ़े चार बज गए थे।'

'तिवारी!' नरोत्तम की आवाज ने उसके एकान्त में प्रवेश किया। वह मंत्रबिद्ध सा उठा और अदब से कमरे में घुसा। अब न यह आवाज उसे चुभी और न ही कोई घबराहट सरसराई।

'जा यार जरा स्वीपर को बुला ला, क्या नाम है उसका?'

'सर, लायकराम।'

'हाँ, उसी को, देख ये सारा रूम।' नरोत्तम की आँखें सिकुड़ी थीं।

तिवारी आगे बढ़कर टॉयलेट की तरफ गया। टॉयलेट में पानी रुक गया था और फर्श की तरफ बहकर रूम में आ रहा था। 'यह पानी आया कहाँ से?' तिवारी का ध्यान, सोचते-सोचते, उस नल की तरफ गया, जो धीरे-धीरे यह बह रहा था। उसने आगे बढ़कर नल की टोंटी घुमाई तो वह और तेज बहने लगा।

'सर, नल की चूड़ी फ्री हो गई है।' तिवारी टॉयलेट से ही चिल्लाया।

'हाँ, मुझे पता है।' नरोत्तम ने वहीं बैठे-बैठे सहमति जताई।

तिवारी ने किसी तरह नल को वापस उसी तरह बंद कर दिया। पानी फिर धीरे-धीरे बहने लगा। वह छप-छप करते हुए टॉयलेट से बाहर आया और पायदान से जूते रगड़ते हुए बाहर निकल गया। उसने एक कमरे से दूसरे कमरे और फिर एक तल से दूसरे तल तक, सभी सम्भावित जगहों पर लायकराम को ढूँढ़ा, पर वह नहीं मिला।

'ड्राइवर रूम।' उसके दिमाग में एकाएक कौंधा। वह बिल्डिंग के ग्राउंड फ्लोर पर बने ड्राइवर रूम में पहुँचा, जहाँ लायकराम अक्सर अड्डेबाजी करते हुए मिल जाता था। इसमें उसका जोड़ीदार सरदार लक्कीसिंह रहता।

'ओए आ जा बे पण्डत के।' लक्की सिंह सामने ही चिल्लाया।

'तेरा याड़ी कहाँ है बे सरदार?' तिवारी जानता था कि ये दोनों हमप्याले-हमनिवाले हैं। तिवारी की आवाज में झुँझलाहट थी।

'ओ उस हराऽऽमी नूँ तो मैं वी देख रां एँ... पता नी अज कधौं निकल गया।' लक्कीसिंह भरा बैठा था। शाम घिरने को आई थी और अड्डे का जोड़ीदार गायब था।

तिवारी समझ गया कि आज लायकराम दफ्तर में नहीं है। वैसे भी वह दफ्तर में होता भी तो इस वक्त तो पिए हुए ही मिलता। वह किसी धार्मिक नियम-भाव की तरह ठीक चार बजे पी लेता था। इसमें उसने कभी नागा और देरी नहीं की। यह बात सब अफसर जानते थे पर कोई कुछ नहीं करता था। एक बार तो उसने नशे में फेक्स ऑपरेटर शीला तनेजा को 'टंच माल' तक कह दिया था। शीला ने उसकी लिखित शिकायत की थी पर जी.एम. आर.एस. जैने ने जाने क्यों लायकराम को बचा लिया। लायकराम ने शीला के पैर पकड़कर माफी माँग ली थी। लेकिन इस घटना के दो दिन बाद ही वह शीला के फेक्स रूम में पेशाब कर आया। उस वक्त वह ज्यादा नशे में था। अब उसे कोई कुछ नहीं कहता।

तिवारी अब सब जगह दुर्गादास बाल्मीकि को ढूँढ़ने लगा। हालाँकि वह जानता

था कि टॉयलेट की सफाई का काम दुर्गादास का नहीं है, पर उसने सोचा कि यह करने में उसे कोई दिक्कत नहीं होगी, आखिर है तो वह भी बाल्मीकि।

तीनों फ्लोरों पर ढूँढ़ने के बाद भी दुर्गादास नहीं मिला। वह हारकर टाइपिस्ट रीना साहनी के सामने बैठ गया।

'क्या हुआ तिवारी?' रीना ने लिपिस्टिक ठक करते हुए अपना छोटा-सा शीशा बन्द किया। वह दफ्तर से निकलने से कुछ देर पहले वैसे ही तैयार होती थी, जैसे वह सुबह घर से निकलते वक्त तैयार होती थी।

'ये एस.सी. लोग ऐसे ही होते हैं तिवारी।' तिवारी के मुँह से सारी बातें सुनकर रीना ने बज्र प्रहार किया।

'नहीं-नहीं, मैडम, सारे एक से नहीं हैं।' तिवारी बचाव की मुद्रा में खड़ा हो गया।

'दुर्गा के मोबाइल पर फोन क्यों नहीं करते?' रीना ने कहा तो तिवारी ने अपने माथे पर हाथ मारा–'धत् तेरे की...इतनी-सी बात दिमाग में नहीं आई।'

'अरे दुर्गादास भाई कहाँ हो?' तिवारी का स्वर अतिरिक्त मुलायम था।

'हाँ, पण्डितजी, मैं सरोजिनी नगर आया हूँ, जैन साहब ने भेजा है।'

'कब तक लौटोगे?' यह तिवारी का अधीर स्वर था।

'कह नहीं सकता।' कहते हुए फोन काट दिया था।

दुर्गादास ने तिवारी को साफ झूठ बोला था। वह बिल्डिंग के नीचे बेसमेंट में बैठा ताश खेल रहा था। बेसमेंट में ही सभी कर्मचारियों और अधिकारियों की कार-स्कूटर की पार्किंग होती थी। लक्कीसिंह, लायकराम का इंतजार छोड़ बेसमेंट में ही अपने किसी नए साथी की तलाश में आ गया था। उसी ने तिवारी की सारी बात वहाँ बताई थी। इसके बाद दुर्गादास वहाँ रुका नहीं। उसने अपनी मोटर साइकिल में किक मारी और निकल गया। शराब का शौक उसने डाला ही नहीं था।

'साहब, न कहीं लायकराम है और न दुर्गादास।' 'तिवारी ने नरोत्तम को सूचना दी। हालाँकि उसके मन में कहीं डर था कि कहीं नरोत्तम उसी को न कह दे कि तुम कर दो।'

'ठीक है, तू जा। कल लायकराम को कह देना।' नरोत्तम फाइल पढ़ने में व्यस्थ था।

'मैं करता हूँ न सर... आप नाहक परेशान होंगे।' तिवारी के मुँह से गिर पड़े अल्फाज-तिवारी हैरान-परेशान कि कमबख्त कौन है यह नीच, जो भीतर से चिल्ला पड़ता है।

'तुम?' नरोत्तम की नजरें पहली बार तिवारी की नजरों से मिलीं। 'तुम क्यों नाहक परेशान होते हो?' अनपेक्षित ढंग से इस प्रश्न में आश्चर्य, आदर और अकबकापन था।

'क्यों सर... क्या हमारे घर में बाथरूम बंद नहीं होता...? बस दो डंडे मारता हूँ, सब ठीक।' कहते हुए तिवारी टॉयलेट में घुस गया।

टॉयलेट से घर घुऽऽर घर घुऽऽर की आवाजें आने लगीं। 'काम में क्या शर्म, सर।' तिवारी की आवाज इन्हीं आवाजों के बीच बाहर आई।

'पानी उतर रहा है तिवारी?' दो-चार मिनट के इंतजार के बाद नरोत्तम ने आवाज लगाई।

तिवारी का प्रफुल्ल स्वर मक्खी की भिनभिनाहट की तरह बाहर आया–उतर रहा है सर धीरे-धीरे।'

अजय नावरिया

6 जून, 1972 को जन्मे अजय नावरिया दलित साहित्य में बहुत ही तेजी से अपनी पहचान बनाने वाले प्रमुख कहानीकार हैं। अजय ने आरक्षण और शहरीकरण के उपरान्त दलितों के जीवन में आए बदलाव को अपनी कहानियों में बारीकी से पकड़ा और उसे सधी हुई भाषा में लिखा। एक कहानी संग्रह 'पटकथा और अन्य कहानियाँ' वाणी प्रकाशन से और एक उपन्यास 'उधर के लोग' राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित है।

स्वीट होम

–उमा शंकर चौधरी

(वह एक ऐसा घर था जहाँ उजियारा कभी खत्म ही नहीं होता था।)

उस घर के पते में फलां विला, चिलां काटेज की तरह कहीं भी स्वीट होम नहीं था, और न ही मकान मालिक ने उस मकान के बाहर नेम प्लेट पर नम्बर के साथ ही स्वीट होम लिखवा रखा था। वह घर बाहर से देखने पर बिल्कुल सामान्य घर की तरह ही दिखता था और उसमें रहने वाले लोग भी लिलिपुट के निवासी की तरह बिल्कुल नहीं होकर सामान्य ही थे। लेकिन हमारे लिए वह घर असामान्य था और हम उस घर को 'स्वीट होम' कहते थे। स्वीट होम इसलिए कि वह घर हमें एक ठंडक और सुकून देता था और हम उस घर से बाहर कहीं भी रहते, उस घर में लौट आने को बेताब होते थे। उस घर में पैर रखते ही हमारी सारी बेचैनी और सारा तनाव फुर्र से उड़ जाता था और हम एकदम से हलके हो जाते थे।

उस घर में ढाई फ्लोर थे। उसमें एक ग्राउंड फ्लोर था, एक फर्स्ट फ्लोर था और आधा सेकेंड फ्लोर था। सेकेंड फ्लोर जो आधा बना हुआ था उसकी छत आधी खाली थी और वहाँ गमले रखे हुए थे। जहाँ गमले रखे हुए थे वहाँ वह गर्मी के मौसम में शाम को हवा खाने और ठंड के मौसम में धूप सेंकने आती थी। हम उस खाली जगह को जन्नत कहते थे और वहाँ जाकर उसके अहसास को जीने की कोशिश करते थे। उस घर में ढाई फ्लोर थे, जिसके ग्राउंड फ्लोर में वह रहती थी यानि उसका पूरा परिवार यानि मकान मालिक रहते थे और ऊपर के डेढ़ फ्लोर में हम किरायेदार रहते थे। वह नीचे के फ्लोर में रहती थी इसलिए हम ऊपर के डेढ़ फ्लोर में रहते थे।

उन दिनों हम छात्र थे और सफलता–असफलता के बीच पेंडुलम की तरह झूल

रहे थे। हम किराए के मकान में रहते थे और खूब पढ़ाई किया करते थे। हम जहाँ भी रहते थे तीन चार लड़के इकट्ठे रहते थे, जिससे कमरे के किराए और भोजन पर होने वाले खर्च पर बनिस्पत असर पड़ जाता था। हम तीन या चार लड़के एक साथ रहते तो थे पर यह जरूरी नहीं था कि वे लड़के हमेशा वही होते थे। हमारा साथ, हमेशा जब तक साथ होते तो बहुत ही मजबूत दिखता था फिर अचानक पता चलता कि तीन दिन के बाद उसे छोड़कर जाना है।

लेकिन यह कहानी तब की है जब हम इकट्ठे लगभग दो साल से साथ रह रहे थे।

अपने पहले वाले मकान के छूटने के बाद जब हम अपना नया आशियाना ढूँढ़ने निकले थे तब हम चार लड़के साथ थे। चार लड़के यानि चार छात्र। वह मकान तीन ओर से खुला था और उसमें धूप सीधे बालकनी में आती थी। वह मकान सोफियाना था और सामने अमरूद का पेड़ था। अमरूद का पेड़ इतना घना था कि फर्स्ट फ्लोर और सेकेण्ड फ्लोर की बालकनी से हाथ बढ़ा कर उसे तोड़ा जा सकता था। उस अमरूद के पेड़ पर लगने वाले अमरूद के बीज लाल थे। उस पेड़ पर प्रायः एक ऐसा पक्षी आकर बैठता था जिसकी चोंच आगे की ओर नुकीली थी और जिसका रंग अजीब तरह से स्लेटी था। हमने इससे पहले ऐसा पक्षी नहीं देखा था। हम उस पक्षी का बालकनी में बैठकर इंतजार करते थे। सामने की गली चौड़ी थी, जिसमें स्ट्रीट लाईट लगी हुई थी और जिसमें हम रहने के बाद रात की दूधिया रोशनी में बैडमिण्टन खेला करते थे। पहले वह बैडमिण्टन खेला करती थी फिर हमने खेलना शुरू किया था। बैडमिण्टन खेलते हुए वह एक परी जैसी लगती थी, ऐसे जेसे बैडमिण्टन की चिड़ी के पत्ते ही एक दिन उसके पंख हो जायेंगे और वह एक दिन दूर आसमान में उड़ जाएगी। वह प्रायः सफेद कपड़े पहनती थी। सफेद कमीज, सफेद सलवार और सफेद चुन्नी। उसके कपड़े का सफेद रंग उस चिड़ी से बहुत मिलता था और जब चिड़ी दूसरी ओर से हिट करने पर उसकी ओर बढ़ती थी तब एक सेकेण्ड को उसका रंग उस सफेद कपड़े में खो जाता था और वह हमारी आँखों से एकाएक बिल्कुल ओझल हो जाती थी। हम अमरूद के पेड़ के झुरमुट से उसे झांका करते थे। इस झांकने के क्रम में हम बहुत कुछ झाँका करते थे और उस बहुत कुछ पर हम बहुत देर तक बातें किया करते थे। फिर हमने एक योजना के तहत बैडमिण्टन खेलना शुरू किया कि शायद वह हमारे साथ एक दिन खेलना शुरू कर दे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जब हमने बैडमिण्टन खेलना शुरू किया था, तब उसने बैडमिण्टन खेलना बंद कर दिया था।

उस मकान से निकलते ही यदि बायें की ओर मुड़ जाया जाता तो वहाँ एक मार्केट थी लेकिन यदि सीधे चला जाता तो वहाँ एक बड़ा सा पार्क था। उस पार्क के बीच में छः हैलोजन का बड़ा सा सेट था, जो अपनी रोशनी से पूरे पार्क को ढंके हुए था। उस पार्क में ढेरों लोग सुबह सूरज की रोशनी में और शाम को हैलोजन की रोशनी में टहलने आया करते थे। हमारे लिए दोनों ही रोशनी और कहें कि वह पार्क उपयोगी नहीं था, क्योंकि हममें से कोई भी पार्क में टहलने नहीं जाया करता था। इसलिए जब हम उस मकान को देख रहे थे तब हमने उस पार्क की ओर ध्यान नहीं दिया था। मकान हमें पसंद आ गया था, इसलिए हमने उसे लेने का निर्णय ले लिया था। हमारे मकान मालिक की उम्र लगभग पचपन साल की थी। उसकी पर्सनालिटी एक सरकारी नौकरी करने वाले की थी और वे सरकारी नौकरी ही करते थे। उस समय वे कुर्ता-पायजामा पहने हुए थे और दाढ़ी के साथ-साथ उनकी मूँछ भी नहीं थी। उनकी पत्नी, जो उनके साथ खड़ी थी पति की तुलना में अधिक मोटी थी लेकिन देखने में बहुत सुंदर थीं। मकान मालिक काफी मजाकिया किस्म के थे और अपनी पत्नी को वे होम मिनिस्टर कहते थे। मकान का निर्णय करते वक्त जब हमने उनसे उनका टेलीफोन नं. माँगा था तब उन्होंने पहले यह कहा था कि सुबह नौ बजे के पहले और शाम को छः बजे के बाद ही वे फोन पर मिल पाएँगे। उन्होंने अपने नं. के साथ अपना नाम लिखवाया था-मि. फारूक इमाम नदीम तब अचानक हमारे पाँव के नीचे से जमीन खिसक गई थी और उल्टे पाँव हम बहाना बना कर वापस भाग आए थे।

उस समय हम अक्सर खाना खाते समय देश की जिन विभिन्न समस्याओं पर बहस किया करते थे उनमें साम्प्रदायिकता एक बड़ा मुद्दा था। हम बाबरी मस्जिद विध्वंस, गुजरात दंगे, बेस्टबेकरी कांड पर खूब बातें करते थे और इसे स्वतंत्र भारत का काला धब्बा कहते थे लेकिन पिछले एक-दो दिनों से हम शांत थे और एक-दूसरे से नजरें चुरा कर खाना खाते थे। हमारी सारी प्रगतिशीलता उस दिन हमारे पैरों की बेड़ियाँ बनने लगीं थीं। हममें से यदि कोई भी उस दिन अकेला होता तो उस मकान में दुबारा वापस नहीं जाता लेकिन उस दिन हमारे पास अपने को अधिक प्रगतिशील साबित करने का एक मौका था। हमने प्रगतिशीलता की होड़ में उस मकान में रहने का निर्णय लिया था। यह अलग बात है कि जब हमने उस मकान में रहना शुरू किया था तो हम सभी को उस नल से आने वाले सप्लाई वाटर को पीने में भी दिक्कत होती थी और हमारी रसोई में लगे टाइल्स हमें थोड़े अलग अंदाज के लगते थे। शुरू में हमें उस मकान मालिक पर काफी शक होता था। जिस दिन भारत-पाकिस्तान का मैच होता था तब हम इंडिया की इनिंग में चुपके से सीढ़ी पर आकर यह सुनने की कोशिश करने

लगते कि कहीं वे सहवाग या सचिन के आउट होने पर तालियाँ तो नहीं बजा रहे हैं, या फिर पाकिस्तान की जीत पर कहीं उनके यहाँ सेवई तो नहीं बनाई जा रही हैं। हम अक्सर मकान मालिक को या फिर उसके इकलौते बेटे को ऊपर घेर लेते और कहते-''लादेन का तो कुछ पता नहीं चल रहा अब तो लग रहा है मारा ही गया।'' हम कहते-''अमेरिका है लेकिन बड़ा ही कद्दावर''। हम थोड़े बचते हुए उनसे यह भी जानने की कोशिश करते कि बाबरी मस्जिद विध्वंस और हाल ही में हुए गुजरात दंगों में यह मोहल्ला कैसा था? हम इसकी टोह में रहते कि कहीं उस समय भी इस मकान में कोई हमारे जैसे ही किरायेदार हों, जिसका इन्होंने निपटारा कर दिया हो।

शुरू में हम में से हर कोई मकान मालिक को किराया देने जाने से बचना चाहता था कि कहीं वे कुछ खाने-पीने को न कह दें। हम अक्सर नीचे सीढ़ी से ऊपर आते वक्त काफी जल्दी में होते कि कहीं पकौड़ी की एक प्लेट आगे बढ़ा कर वे लेने को न कह दें। हम सभी अपने मन को इस स्थिति का सामना करने के लिए रोज तैयार करते कि अगर ऐसी स्थिति आई तो हम यह कह देंगे कि आज तो मंगलवार है, आज तो मैं नमक खाता ही नहीं। या फिर यह कि तेल की चीजें तो मुझे बिल्कुल ही मना है। हमने यह भी विचार कर लिया था कि अगर स्थिति बहुत ही भयानक हो जाएगी तब हम पकौड़े का टुकड़ा लेकर एकदम से सीढ़ी पर चढ़ जाएँगे और फिर तो हम जानें और हमारी फ्लोर। लेकिन ऐसी नौबत नहीं आई, शायद वे भी हमारे विकट स्थिति को समझते थे। लेकिन जब हम उस मकान में रहने लगे तब धीरे-धीरे हमारे भीतर से ये डर दूर होता चला गया और इसके पीछे का सबसे बड़ा कारण यह था कि हमें उसकी सुंदरता ने अपनी ओर एकबारगी आकर्षित कर लिया था और धीरे-धीरे हम सभी उसके प्यार में डूबने लगे थे और कुछ दिनों के बाद स्थिति यह हो गई थी कि किराया पहुँचाने हम में से कौन नहीं जाएगा, इस पर विचार होने लगा था।

उन दिनों जब हम मकान ढूँढने के लिए निकलते थे तब हमारे बीच एक मौन समझौता होता था कि हम ऐसे कमरे की तलाश करेंगे जिसमें कोई भी लड़की नहीं हो। मकान ढूँढते हुए हमारी सिक्स्थ सेंस काम करती थी और हम मकान देख कर उसके सामने खड़े होकर एक लंबी साँस अंदर की ओर लेते थे और कह देते थे कि इसमें कोई कुंवारी कन्या है या नहीं? मकान को पहले स्तर पर देखने के लिए स्वीकार और इंकार करने का हमने एक कोड बना रखा था। अगर लंबी साँस अंदर की ओर लेने के बाद हमें निर्णय धनात्मक लगता तब हम कहते-'हरियाली' और आगे बढ़ जाते। यानि वह घर कुंवारी लड़की से बाधित है। अगर हमारा निर्णय ऋणात्मक होता तब हम

कहते–'सूखा' और उस मकान को देखने के लिए उसकी घंटी बजा देते। यानि उस मकान में किसी कुंवारी लड़की की परछाई नहीं है। लेकिन इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकलता था कि हम तब औसत लड़कों की तुलना में काफी शरीफ थे और हम लड़कियों की ओर आँख उठा कर नहीं देखते थे। वास्तव में हमारा ऐसा मानना था कि जिस भी मकान में लड़की होती है वहाँ मकान मालिक ढेरों बंदिशों का बखान शुरू कर देता है। ज्यादा शोर नहीं करना है, ज्यादा मिलने वाले नहीं आएँगे, सिगरेट और शराब नहीं, रात को देर से नहीं लौटना है आदि। हमारे साथ सबसे बड़ी दिक्कत थी कि तब हम सिगरेट के धुएँ के छल्ले उड़ाने में दिक्कत महसूस करने लगते थे और उस घर में रहने के कारण उस लड़की को खुल कर देख भी नहीं पाते थे। ऐसे मौके पर हमारी नजर प्रायः पड़ोसियों पर होती ओर नैन मटक्कों के लिए कम–से–कम बीस वर्ष पूर्व जाकर एक खूबसूरत लड़की पैदा करने के लिए अपने मन में हम उनसे गुजारिश करते थे। परंतु हमारी सिक्स्थ सेंस ने इस बारी पूरी तरह हमें धोखा दे दिया था। उस मकान को पहली नजर में देखने से लेकर उसे लेने के निर्णय करने तक में हमें इसकी कोई निशानी नहीं मिल पाई थी कि उस घर में किसी लड़की का निवास था। जबकि हम सभी ने बारी–बारी से उस घर के सामने लंबी–लंबी साँसों को अंदर कर उस घर को पास किया था। यह अलग बात है कि जब हम उस घर में रहने लगे थे तब हमें उस घर में हमेशा ही ऐसे प्रमाण मिलने लगे थे जो साबित करते थे कि वहाँ वह रहती है। छत का वह आधा हिस्सा जहाँ ढेरों गमले थे और जहाँ खूशबू थी वहीं एक तार पर वह अपने कपड़े पसारती थी। वह कोई खुशकिस्मत दिन होता था जब वह रात में अपने सूखे कपड़े उठाना भूल जाती, तब हम उन कपड़ों को छूकर ढेरों कल्पनाएँ करते थे। हम यह महसूस करने की कोशिश करते कि वहाँ उसका कौन सा अंग होगा और वह कितना मुलायम होगा। लेकिन हमारे लिए यह अच्छा था कि हमारे मकान मालिक को हम पर खूब विश्वास था। हमारे बीच की बौद्धिक बहसों को वे सुनते थे और धीरे–धीरे उनके मन के भीतर यह विश्वास जगने लगा था कि हम वे हैं जो इस समाज को बदल देंगे। हमें एक अतिरिक्त तरह की छूट दे दी गई थी। शायद उन्हें ऐसा लगने लगा था कि सिगरेट के धुएँ के छल्ले उड़ाए बगैर भला क्रांति कैसे संभव है?

हम चार लड़कों के अतिरिक्त हमारे ऊपर के उस आधे बने फ्लोर में भी दो लड़के पहले से रहते थे, जिसमें एक लड़का लगभग हमारे साथ नया–नया आया था। उसमें पुराना वाला लड़का काफी मोटा था और कसरत पर खूब ध्यान देता था। वह मोबाइल का आदी था और मोबाइल पर बहुत तेज आवाज में बातें किया करता था। बातें करते हुए वह प्रायः हँसता रहता था। उसकी हँसी में जीवंतता थी लेकिन फोन के

उस तरफ के आदमी को उसकी हँसी के बीच से शब्दों को चुनना पड़ता था, कम–से–कम हमारा ऐसा मानना था। जो लड़का लगभग हमारे साथ नया–नया आया था वह हम लोगों से लगभग तीन चार साल छोटा था और अभी–अभी अपनी ग्रेजुएशन कम्पलीट करके आया था। वह देखने में बिल्कुल टाइटेनिक का हीरो लियाण्डो डीकॉपोरिया की तरह लगता था और हमने उसका नाम चॉकलेटी रख रखा था। उसके बाल बड़े थे और चेहरा खूब गोरा था। हम में से कोई भी अगर उसे अपने पास ज्यादा देर बैठा लेता था तब हम उसे यह कह कर चिढ़ाने लगते थे कि 'बस यही अपराध मैं बार–बार करता हूँ, आदमी हूँ आदमी से प्यार करता हूँ।'

उस डेढ़ फ्लोर में कुल मिला कर हम जितने भी लड़के रहते थे सब सरकारी नौकरियों की तैयारी करते थे। कोई उसमें थोड़ी बड़ी नौकरी की तैयारी करता तो कोई थोड़ी छोटी। हम सभी लगभग मध्यवर्गीय परिवार से आते थे, और हमारे पैसे महीने की पच्चीस तारीख तक खत्म हो जाते थे। हम डाकिये का इंतजार करते थे और डाकिया लगभग दो तीन तारीख तक हम सभी के घर से आने वाले ड्राफ्ट को पहुँचा जाता था। पच्चीस के बाद के दिन हमारे लिए काफी तकलीफ भरे होते थे। उन दिनों हम खाना खाते वक्त काफी चिंतित होते थे और कभी–कभी हम जान बूझ कर किसी दोस्त, किसी जान–पहचान वाले के यहाँ चले जाते थे और वहाँ तब तक बैठे रहते थे जब तक उनका खाने का समय न हो जाए। हम वहाँ से तब उठने लगते थे जब खाना खाने के लिए वे तैयार हो रहे होते। अक्सर वे हमें तब पकड़ कर खाना खिला देते थे। लेकिर अगर वे तब भी इशारों में हमारी बात नहीं समझते तब हम कहते–"हमने आपका काफी वक्त खराब किया, आप खाना खाइए, हमें तो अभी जाकर खाना बनाना भी है।" तब उनका जवाब होता–"अरे अब जाकर बनाएँगे, यहाँ तो बना हुआ है।" और हमारे दिल की मुराद पूरी हो जाती। लेकिन कई बार कोई हमारा भी गुरु निकल जाता और वह कहता–"अरे खिचड़ी बनाने में वक्त ही कितना लगता है।" उन दिनों हमें सबसे अधिक चिंता सिगरेट की होती। हमारा सिगरेट पीना तब काफी कम हो जाता और हम तब आपस में यह कहने लगते थे कि सिगरेट पीने से पत्नी के होठों को किस करने में होंठों को वह कोमलता नहीं मिल पाएगी, जिसकी वह हकदार है। इस तरह भविष्य में पत्नी के होंठों को उचित न्याय दिलाने के लिए सिगरेट से अपने को तब बचाते थे। लेकिन ज्योंहि हमारा ड्राफ्ट हमारे एकाउंट में कैश हो जाता था और हमारे हाथ में पैसे आ जाते थे, हमारा न्यायतंत्र गड़बड़ा जाता और हम फिर से उसी तरह सिगरेट पीने लग जाते थे।

हम इन दिनों सबसे अधिक बचते थे अपने–अपने घर जाने से। हमें अपने घर

वालों का लंबा-लंबा लेक्चर काफी थकाऊ लगता था और उससे भी ज्यादा उन लोगों के ताने जो हमारे गाँव के बड़े बुजुर्ग थे। जिंदगी से हमारी अपेक्षाएँ बहुत बड़ी नहीं थी लेकिन गाँव में हमें हमेशा यह सुनने को मिलता कि वहाँ किस-किस लड़के ने कितनी आसानी से सफलता पा ली है। उसका बेटा तो दिल्ली गया भी नहीं यहीं शहर में रह कर क्लर्क बन गया। उसके तो अच्छे संस्कार बचपन से ही दिख रहे थे देखो आज मास्टर बन गया और कैसा बढ़िया अपना घर चला रहा है। कोई वहाँ अपनी परचून की दुकान खोल कर सुखी था कोई वहाँ अपना टेंट हाऊस 'झंकार लाइट एंड टेण्ट हाउस' खोलकर सबकी शादियाँ करवा रहा था और तो और सबसे बड़ी बात यह थी कि हमारे गाँव से मात्र दो किलोमीटर दूर शहर में सहारा या एल.आई.सी के दफ्तर में एजेंट बन कर लोगों को पकड़ने के लिए अजीब तरह का चूतियापा करने वाले लड़के भी गाँव वालों की नजर में हमसे बढ़िया और ऊपर थे। तब अक्सर हमें यह लगने लगता था कि इस दुनिया के सबसे बड़े निकम्मे हम ही हैं और सबसे बड़े चुगद भी, जो लगे हुए हैं अपनी कलम को घिसर-घिसर करने में। हमें तब अपने घर वालों की बातों का उतना बुरा नहीं लगता था। हम सोचते थे, वे पैसे देते हैं तो इतना तो हक बनता ही है उनका। लेकिन जिन्होंने हमें फुटबॉल समझ रखा था, वे थे हमारे गाँव के वे बड़े बुजुर्ग जो हमारी बेरोजगारी का तब रस लेते थे। हम सभी के पास तब कुछ-न-कुछ इसका अनुभव था और सुनाने के लिए एक-से-एक वाकया। जब कभी हम साथ बैठते और इस तरह की बातें खुल कर सामने आने लगतीं तब हमारे संस्मरण तरल हो जाते और एक के बाद एक बहने लगते। इस संदर्भ में जो दो बातें मजेदार थीं वे ये हैं। पहली, हममें से ही कोई एक लड़का जब अपने घर गया तब वहाँ लोगों ने उसे अपने पास बुला कर बैठा कर यह जानना चाहा कि, सुनने में आया है कि वह दिल्ली में फिल्में बहुत देखता है, तो क्या यह खबर सही है। उसने आव देखा न ताव एकदम से गुस्से में आकर कहा दिया था-''देख चाचा, सिनेमा बनाने वाले करोड़ों रुपए खर्च कर फिल्में बनाते हैं, लाखों खर्च कर सिनेमा हॉल के मालिक सिनेमा हॉल बनवाते हैं। पैसा मेरा बाप भेजता है, समय मेरा अपना है, फिर तेरी क्यों फटती है।'' इस संदर्भ में दूसरा वाकया था एक लड़का जो भोजपुरी इलाके का रहने वाला था जब अपने घर गया और किसी एक दिन जब वह सूट-बूट पहन टहलने को निकला तब दरवाजे पर से आवाज देकर उसे बुलाया गया था जहाँ गाँव के कई बूढ़े और खेती करने वाले जवान बीड़ी पीने के साथ दिन भर ताश खेलते रहते थे। उनमें से जो सबसे अधिक बुजुर्ग थे उन्होंने उसे अपने पास बैठाया और बहुत ही प्यार से हाल समाचार पूछा। ताश तत्काल बंद थी, लोगों की उत्सुकता के केंद्र में वह लड़का था और उसकी बेकारी। उस बूढ़े ने

फिर धीरे से वह सवाल दागा, जिसका उसे अंदेशा था, ''बेटा वहाँ का करा ला?'' वह थोड़ी देर शांत रहा और लोग ताश से अधिक रस उस समय उसके चेहरे पर उड़ने वाली हवाइयों का लेते रहे। लेकिन उसने इस मजे को ज्यादा देर तक बरकरार नहीं रहने दिया, जब सब शांत थे, तब एक मिनट तक रुक कर उसने एकबारगी कहा- 'झाँट उखाड़ा ला।'

हम जिस मोहल्ले में तब रहते थे, या यूँ भी कहा जा सकता है कि जिस मोहल्ले का जिक्र मैं यहाँ कर रहा हूँ वह दिल्ली के उत्तर पूर्वी एरिया में बसा मुखर्जी नगर है। मुखर्जी नगर यानि जहाँ जाने के लिए मात्र एक दो ही सीधी बस थी। या फिर किसी भी बस से किंग्सवे कैम्प जाकर वहां से ऑटो रिक्शा से वहाँ जाया जा सकता है। हम जहाँ रहते थे, वहाँ से मात्र आधा किलोमीटर की दूरी पर बत्रा सिनेमा हॉल था, जहां रोज शाम को 6 बजे हम पहुँच जाते थे। हमारा यह लगभग रोज का काम था कि उसके कैंपस में बनी रेलिंग पर तब तक बैठ कर सिगरेट फूँकते रहते थे जब तक कि भीड़ इवनिंग शो के लिए घुस नहीं जाती थी। हम उस भीड़ में उन लड़कियों को ढूंढ निकालते थे जिसने जींस के साथ टॉप पहन रखा हो, और फिर लगभग उस आधे घंटे तक उस जींस और टॉप के बीच में बार-बार बनने वाले खाली जगह को हम अपनी आँखों से मापा करते थे। भीड़ उधर हॉल के भीतर घुसती और इधर हम हॉल के कैंपस से बाहर आ जाते थे।

हमारी जिंदगी तब तक फँसी हुई जिंदगी थी। हमारी जिंदगी के सारे सुख तब अटके हुए थे महज एक रिजल्ट पर। हमारे मन के भीतर ढेरों ख्वाब पल रहे थे लेकिन हमेशा यह लगता कि एक बार नौकरी तो हो जाए। चूँकि हमारी जिंदगी तब तक फँसी हुई जिंदगी थी इसलिए तब हमारे पास ढेरों दबे हुए ख्वाब थे, जिसे हमने नौकरी के तुरंत बाद के लिए छोड़ रखा था। हमारे ख्वाब तब अजीब-अजीब तरह के थे। आज यह सोच कर आश्चर्य होता है कि हममें से किसी एक का ख्वाब तब यह भी था कि नौकरी का रिजल्ट देखते ही वह दिल्ली के टूर पर निकल जाएगा। आश्चर्य इस बात में नहीं था कि उसके ख्वाब में दिल्ली का टूर था। आश्चर्य इसमें था कि वह दिल्ली का टूर बैलगाड़ी से करना चाहता था। वह कहता-''साली नौकरी तो हो जाए फिर देखना मैंने तो बैलगाड़ी वालों से बात कर रखी है। पीछे गद्देदार बिछावन रहेगा और कान में ईयर फोन, पूरे एक सप्ताह तक घूमता रहूँगा। एक दिन तो सिर्फ इंडिया गेट के किनारे बैलगाड़ी लगा कर रखूँगा और यह देखूंगा कि साले इतने लोग वहाँ क्या देखने आते हैं?'' अपने आप में यह भी आश्चर्य था कि जब कभी उसे गजियाबाद की तरफ

जाने का मौका मिला था उसने बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी वाले से बात भी कर ली थी। उसने कई बार पुलिस वालों से भी पूछा था कि बैलगाड़ी से दिल्ली में घूमने में कोई पाबंदी तो नहीं है। बत्रा सिनेमा हॉल पर लड़कियों के जींस और टॉप के बीच की दूरी को मापते हुए हम अक्सर कहते–''नौकरी के बाद या तो जी.बी. रोड जाऊँगा या फिर मुजफ्फरपुर का चतुर्भुज स्थान, लेकिन एक दिन ढेर सारे पैसे देकर उसके साथ बंद कमरे में अकेला रहूँगा।'' हमने इस समस्या का भी इलाज ढूँढ लिया था कि यह जरूरी थोड़े ही है कि उस दिन उसने जींस पहन ही रखी हो। हम कहते जींस और टॉप हम साथ में ले जाएँगे और उसे पहना कर हम सिर्फ उस गैप को जी भरकर देखने की कोशिश करेंगे, बस और कुछ नहीं।

लेकिन हमारी जिंदगी के वे बेचैनी भरे दिन थे। सरकारी नौकरियाँ लगातार कम होती जा रही थीं, और हमारी उम्र लगातार बढ़ती जा रही थी। कई ऐसी परीक्षाएँ थी जिसकी उम्र की ऊपरी सीमा हमने पार कर ली थी और बहुत सी परीक्षाएँ ऐसी थीं जिसकी उम्र की ऊपरी सीमा को छूने में हमें महज एक दो वर्ष और बचे थे। ऐसा नहीं था कि हम एक खराब छात्र थे। हम उन दिनों लगातार किसी की प्रारंभिक परीक्षा तो किसी की लिखित परीक्षा पास कर रहे थे। हमारे लिए उन दिनों सबसे महत्त्वपूर्ण दिन रविवार का होता जब हमारा अखबार वाला अखबार के साथ 'रोजगार समाचार' फेंक जाता। लगभग हर सप्ताह हम में से किसी न किसी का रिजल्ट आ ही जाता। कभी हम किसी प्रारंभिक परीक्षा में तो कभी लिखित परीक्षा में सफल हो जाते तो कभी असफल। लेकिन हमारे लिए पूर्ण सफलता तब कोसों दूर थी। उन दिनों हमने टाइम्स ऑफ इंडिया या हिन्दुस्तान टाइम्स में आने वाले सिचुएशन वेकेण्ट और क्लासीफाइड के कॉलम को कई बार देखने की कोशिश की थी लेकिन वे हमारे लिए निरर्थक थे। हमने उन दिनों कॉल सेंटर और कंप्यूटर की दुनिया में लाखों नौकरियों के बारे में सुना था। लेकिन हम उसके लिए बिल्कुल अनफिट थे। हम तब यह सुन कर आश्चर्य करते थे कि अमेरिका, आस्ट्रेलिया या जर्मनी में अगर आपको पिज्जा भी मँगवाना हो तो आप जब दुकान को फोन करेंगे तब वह फोन पहले दिल्ली आएगा और दिल्ली के कॉल सेंटर में बैठा वह 15 रुपए कमाने वाला भारतीय युवक उसके पिज्जे का ऑर्डर उस दुकानदार को देगा। या फिर मेलबॉर्न में बैठी किसी महिला की वाशिंग मशीन ऐन उस वक्त खराब हो जाए जब वह पति की शर्ट पर से लिपिस्टिक के दाग को मिटा रही होगी तब उसे ठीक करने के लिए भारतीय युवक वाशिंग मशीन की कंपनी को यहाँ से फोन करेगा। हम जिस मोहल्ले में रहते थे वहाँ हमारे आस-पास ऐसे कई स्थानीय निवासी थे जिनके बेटे बेटियाँ कॉल सेंटर और कंप्यूटर की नौकरी करते थे और पंद्रह

बीस हजार आसानी से कमाते थे। लेकिन चूँकि हम एक मध्यवर्गीय और ग्रामीण परिवार से आते थे और हमारी प्रारंभिक पढ़ाई गाँव के सरकारी स्कूल में हुई थी इसलिए हमारी अंग्रेजी काफी कमजोर थी। हम तब घर और गाँव के दबाव, पिता की महत्वकांक्षा के दबाव, अपनी जिंदगी को स्थिर करने के दबाव में थे और तब सरकारी नौकरियाँ कम हो गई थीं। हमारी उम्र इन परीक्षाओं के लिए लगभग खत्म हो रही थी, हमारी अंग्रेजी कमजोर थी और हम इन निजी नौकरियों के लिए बिल्कुल ही बेकार थे, इसलिए वे दिन हमारे लिए काफी तकलीफ भरे और बेचैनी लिए हुए थे और ऐसे ही बेचैनी भरी हमारी जिन्दगी में उसका प्रवेश हुआ और हम उसके प्यार में, उसे देखने में अपने सारे गम भूल जाते थे।

हमारी जिंदगी में वह रेगिस्तान की चिलचिलाती धूप में बारिश की फुहार थी, डोसा के गर्म तवे पर पानी की छन्न सी आवाज थी। वह हमारी जिंदगी थी।

वह जो हमारी जिंदगी में बारिश की फुहार की तरह थी, उसका नाम आतिया था। आतिया नदीम। उसकी उम्र लगभग 21–22 के करीब थी। वह देखने में बहुत सुंदर थी और उसका चेहरा बिल्कुल गोल था। वह बहुत पतली नहीं थी, और ज्यादा मोटी भी नहीं। उसे शायद कुर्ता सलवार ही पंसद था, क्योंकि वह जींस नहीं पहनती थी। वह अपनी कमीज के ऊपर प्राय: चुन्नी को बिल्कुल फैला कर चारों ओर घुमा कर रखती थी और पीछे चुन्नी के ऊपर उसके बाल एक जूड़े में गुँथे हुए रहते थे। उसके बालों की दो लटें आगे की ओर घुँघराली थीं जो उसके मुँह पर ही रहती थीं। वह अपनी ग्रेजुएशन खत्म कर चुकी थी और इस वक्त इग्नू से एमसीए कर रही थी। उसकी आवाज बहुत मीठी थी। वह घर का काम खुद ही करती थी और घर की सफाई करते समय वह हल्के-हल्के गुनगुनाती भी थी। उसकी आवाज हमें कविता कृष्णमूर्ति की तरह लगती थी और जब वह गुनगुनाती, तो हम सभी अक्सर चुप हो जाते थे और उसके गाने को सुनने लगते थे। हमें हमेशा ऐसा लगता था कि अगर कभी वह एफएम रेडियो पर नौकरी की कोशिश करती तो उसका चुनाव पक्का था। वह हमारी उन तकलीफ, बेचैनी और अनिश्चितता के दिनों की सबसे बड़ी राहत थी। हम बड़े से बड़े गम को उसे देख कर भूल जाते थे और मन में यह सोचते थे कि ईश्वर जरूर कुछ-न-कुछ अच्छा करेंगे। अगर जिंदगी को बुरा ही करना होता तो इतने लड़कों के बदले इतनी अच्छी लड़की के इतने नजदीक रहने का अवसर हमें ही क्यों मिलता? वह हमारे मन में विश्वास की तरह थी।

उस डेढ़ फ्लोर में हम जो छ: लड़के रहते थे उनमें से पाँच लड़के उससे प्यार

करते थे। जो लड़का ऊपर के फ्लोर में हमारे आने के बाद आया था और जिसे हम टाइटेनिक का हीरो लियाण्डो डिकापोरिया कहते थे, वह उम्र में हम लोगों से चार पाँच वर्ष छोटा था और हम लोगों को भैया कहता था। हम लोग उससे जूनियर की तरह व्यवहार करते थे और उसे प्यार व्यार के चक्कर में नहीं पड़ने देते थे। एक दूसरा कारण यह था कि वह अमीर घर से था और उसके नाम का हर महीने ड्राफ्ट नहीं आता था। उसने अपने पास आई.सी.आई.सी.आई बैंक का एटीएम कार्ड रख रखा था और उसके पिता उसमें वहीं से ढेरों पैसे जमा कर देते थे। वह सिगरेट नहीं पीता था इसलिए हमें ठीकठाक यह भी नहीं पता चल पाता था कि कभी उसकी जेब में पूर्ण रूप से पैसे खत्म हुए हैं या नहीं। उसका मोबाइल फोल्डर वाला था जो हमें तब अत्याधुनिक लगता था। उसने कुछ दिनों के बाद एक कैमरा वाला मोबाइल खरीद लिया था, जो तब बिल्कुल नया-नया आया था और जिसमें उसने हम सभी का फोटो खींच कर रख रखा था। उसकी अमीरी भी एक कारण था जिससे हम लोग उससे थोड़ा दूर दूर रहते थे। टाइटेनिक के उस हीरो के अलावा जो हम पाँच लड़के थे सब समान रूप से अपने अपने अंदाज से आतिया के प्यार में डूबे हुए थे।

हम सभी उससे बात करना चाहते थे, उसकी तारीफ करना चाहते थे, उसे देखना चाहते थे। आतिया को लेकर हम सभी लड़के आपस में खूब बातें किया करते थे लेकिन हमारे भीतर इस संदर्भ को लेकर जलन भी बहुत थी। आतिया को लेकर हम लोग एक दूसरे से इतने डरे हुए थे कि किसी भी दिन वह किसी भी एक लड़के से बात कर लेती थी तब हमें लगता था कि अब तो वह उसकी ही हो जाएगी। उसका हमारे जीवन में इतना महत्त्व था कि यदि वह हमसे कोई किताब लेकर पढ़ती थी तब उसके लौटाने पर हम उस किताब को बहुत ही बारीकी से पलटते थे और यह ढूँढ़ने की कोशिश करते थे कि कहीं उसने अपने दिल की बात किताब की उन पंक्तियों के बहाने उसे रंग कर या उसे अंडरलाइन करके न कह दी हो। जब हम खूब अच्छी तरह आरपार किताब को पलट लेते तो कई-कई दिनों तक उसे फिर पलटते तक नहीं थे कि उसके हाथों का स्पर्श उससे कहीं खत्म न हो जाए। हम रोज सुबह उठ कर अपने-अपने मन में उसके नजदीक जाने, उसे अपनी ओर आकर्षित करने और उसके दिल में उतर जाने का झन्नाटेदार प्लान बनाते और रोज रात में उसकी यादों, अपनी असफलता, और उम्मीद की किरण के साथ सो जाते।

कुछ महीनों की इस आपाधापी के बाद हम पाँचों लड़कों ने आपस में यह समझौता सा कर लिया था कि उसे अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश तो हम सभी करेंगे लेकिन यदि वह किसी एक को कुछ भी ग्रीन सिग्नल देने लगेगी तब हम

बाकी अपने दिल पर पत्थर रख कर उसे आगे बढ़ने का मौका देंगे। इस निर्णय के पीछे यह कटु यथार्थ था कि आखिरकार वह लड़की प्यार तो एक को ही कर सकती है। इस कठोर निर्णय के उपरांत हमारे बीच की प्रतियोगिता काफी कड़ी हो गई थी। हम सभी अपने अपने ढंग से अपनी अपनी विशेषताओं को खोल कर उसके सामने रखना चाहते थे। हम तब स्मार्ट लगने की खूब कोशिश करते थे और सीढ़ी पर उसकी पदचाप को सुनते ही अपने मुँह से सिगरेट को एक बारगी फेंक देते थे। लेकिन इस मद में आगे बढ़ा-कोलंबस। उसने यह घोषित कर दिया कि आतिया ने उसे ग्रीन सिग्नल दे दिया है।

उसका नाम जय प्रकाश था, लेकिन हम उसे कोलंबस कहते थे। वह खोजी प्रवृत्ति का था और आतिया के संदर्भ में जितने भी प्रकार के शोध थे उसने ही किए थे। आतिया का जन्मदिन कब है? वह क्या कोर्स कर रही है? उसे क्या खाना पसंद है? उसके फेवरेट हीरो हीरोइन कौन हैं? और यहाँ तक कि उसके पास अंडरगारमेण्टस के कितने जोड़े हैं और किस-किस रंग के हैं? आदि। चूंकि वह खोजी प्रवृत्ति का था तो यही एक बड़ा कारण भी बना उसके इस प्यार में आगे बढ़ने का। हम सभी की तुलना में उसे इसकी जानकारी अधिक होती कि आतिया आज कब ऊपर चढ़ेगी, कब वह पौधों में पानी डालेगी, और कब वह सूखे कपड़े उतारने आएगी, हम जब अपने कमरे में अपनी-अपनी किताबों से सर टकरा रहे होते थे तब वह सिगरेट पीने का बहाना कर या मूड फ्रेश करने के बहाने से बाहर निकलता और फिर थोड़ी देर बाद बातें करने की आवाजें आने लगतीं। हमारा मानना था कि चूंकि उसे मौके अधिक मिले इसलिए उसने इस मैदान को जीत लिया था।

हमारे बीच हुए समझौते के मुताबिक हम सभी ने अपने कलेजे पर पत्थर रख उसे बढ़ जाने दिया और उसके बाद शुरू हुआ उसके प्यार का सिलसिला।

चूँकि हमने कोलंबस को आगे बढ़ जाने दिया था इसलिए तब हम सिर्फ प्रत्यक्षदर्शी बन गए थे। वह जब ऊपर छत पर गमलों के बीच फूल की खुशबू ले रहा होता और तभी वह वहाँ आती तो वह कहता, उसे मालूम था कि मैं यहाँ इस खुशबू के बीच हूँ। वह कहता कि उसे पीला रंग पसंद है इसलिए वह अब प्राय: पीले रंग का ही कुर्ता पहनती है। हम लोग अगर कभी बाहर रहते और वह गली में रहती तो वह कहता कि वह जानबूझ कर मुझे सुनाने के लिए ऊँची आवाज में बात कर रही है। वह उन बातों में अपने संदर्भ से जुड़ी बातें भी निकाल लेता था और हमें यह साबित कर देता था कि वह उससे बेइंतिहा मोहब्बत करती है। उनके बीच आपस में खामोश झड़प भी

होती थी और वे एक-दूसरे से गुस्सा कर रूठ भी जाते थे। यह हम सभी ने देखा था कि एक दिन जब आतिया सीढ़ी से ऊपर आ रही थी तब सीढ़ी के ठीक सीधे में पड़ने वाले रसोईघर के दरवाजे को धड़ाम से कोलंबस ने इसलिए बंद कर दिया था कि वह उससे तब रूठा हुआ था।

हमने कोलंबस की इस बेइंतिहा मोहब्बत का तब खूब मजा भी लिया था। हम उससे कह देते थे कि आजकल वह तुमसे सीधे-सीधे आँखें नहीं मिला पा रही है यह तभी होता है जब वह प्यार में गहरे डूबी हुई हो। एक बार जब आतिया सूखे हुए कपड़ों को छत पर से लेकर फ्लोर से होते हुए नीचे जा रही थी तब उसके उन कपड़ों के ढेर से एक चुन्नी गिर गई थी तब हमने कोलंबस को यह कह दिया था कि ऐसा आज तक क्यों नहीं हुआ? यह तुम्हारे प्यार को दी गई हरी झंडी हैं और यह महज संयोग था कि उस चुन्नी का रंग भी कजली हरा था। कोलंबस के खोजी मस्तिष्क ने तब यह बता दिया था कि उसकी यह चुन्नी बहुत पुरानी नहीं है और यह संभव है कि उसने इस चुन्नी का सिर्फ इसलिए उपयोग करना शुरू कर दिया हो कि एक दिन उसका इस्तेमाल इस तरह हरी झंडी के रूप में किया जा सके। हमने एक दिन उस सीढ़ी के दरवाजे से चिपके पोस्टर पर, जिससे होकर वह ऊपर आती थी, रात में छुप कर कोलंबस का नाम लिख दिया था–'मेरे जय प्रकाश'। और वह इतना बौरा गया था कि उसने पूरी रात बालकनी में टहलते ही बिता दी, सिर्फ छोटी गोल्ड फ्लैक के पैकेट के साथ।

हमें इसका अंदाजा तो धीरे-धीरे होने लगा था कि कोलंबस और आतिया के बीच का प्यार एकतरफा है लेकिन इसे साबित होने में ज्यादा वक्त भी नहीं लगा। सर्दी की वह रात थी जब रात के 8.3 बजे कोलंबस बिल्कुल थर-थर काँपता हुआ हमारे पास आया था और यह बताया था कि 'अब पिटने के लिए तैयार हो जाइए।'

बात यह हुई थी कि जब कोलंबस ने उस हरी चुन्नी को हरी झंडी समझ लिया था और सीढ़ी पर के पोस्टर पर लिखे अपने नाम को प्यार का दस्तावेज, तब उसने अब सामने और बिल्कुल स्पष्ट रूप से आने का मूड बना लिया था। उसने यह समझ लिया था कि प्यार के इस भंवर में उसकी नैया गुड़ गुड़ गोते खा रही है और अब उसे खुद ही इसे पार लगाना है। फिर कोलंबस के खोजी मस्तिष्क ने यह पता किया कि आज रात के आठ बजे आतिया अपनी पड़ोस की सहेली के साथ मोहल्ले के बाजार में निकलेगी नए वर्ष के कार्ड खरीदने। उसने अपने प्यार के इजहार के लिए इसे भी एक इशारा समझा और इसे एक उचित और उपयुक्त स्थान भी। जब तक आतिया 'मिनी

शॉपी' नामक गिफ्ट की उस दुकान में आर्चिज के कार्ड की पंक्तियों में अपने विचार मिलाने की कोशिश करती रही कोलंबस ठीक उस दुकान के सामने सड़क के इस तरफ जैकेट की जेब में हाथ डाले आसमान के तारे गिनता रहा। ज्यों ही आतिया आर्चीज कार्ड और अपनी सहेली के साथ बाहर आई कोलंबस कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे और उसके बाद उसके साथ हो लिया। कोलंबस को अपने साथ देख अचानक आतिया रुक गई। कोलंबस ने हिम्मत जुटा कर कहा–''मुझे आपसे अकेले में कुछ कहना है।'' आतिया ने उसकी आँखों और उसकी जबान की लड़खड़ाहट को पकड़ लिया। आतिया ने एकबारगी बोल दिया–'आप गलत सोच रहे हैं, मैं किसी और से इश्क करती हूँ।'

हमें यह पूरा विश्वास था कि आतिया इस बात की शिकायत अपने पिता और भाई से अवश्य करेगी, और हम जवाबतलब के लिए अवश्य बुलाए जाएँगे। जब कोलंबस जैकेट के भीतर थर-थर कांपता हुआ हमारे पास यह संदेश देने पहुँचा था कि 'अब पिटने के लिए तैयार हो जाइए' तब उसकी आवाज में डर के साथ-साथ प्यार में चोट खाए हुए दिल का आर्तनाद भी रहा होगा। लेकिन सच यह है कि उस समय हम इतने डर गए थे कि हमारे सामने सिर्फ एक ही सवाल था कि अब क्या होगा? हम सभी के ऊपर तब खौफ के काले बादल मंडरा रहे थे और हम सभी तब कोलंबस को हिकारत की निगाह से देख रहे थे। हमें तब यह भी लग रहा था कि हमें जब बहुत हद तक मालूम चल गया था तब इसे हमें रोक लेना चाहिए था। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ, आतिया ने शायद घर में कुछ भी नहीं बताया और हम बाल बाल बच गए। जब हम बाल बाल बच गए और इस मुद्दे को दो तीन दिन गुजर गए तब हमारे भीतर खुशी की एक लहर भी दौड़ गई थी कि चलो वह कोलंबस की तो नहीं हुई। लेकिन फिर याद आया कि वह खाली भी तो नहीं है। कोलंबस के द्वारा सुनाई गई घटना में आतिया के द्वारा कही गई इस पंक्ति का खास महत्त्व था कि 'मैं किसी और से इश्क करती हूँ।' हमारे लिए यह सवाल बहुत बड़ा सवाल था कि यह 'कोई और' कौन है?

कहानी में जिस तरह अभी तक पाठक कोलंबस और आतिया को लैला मंजनू और शीरीं फरहाद समझ कर उनके दास्ताने मोहब्बत में उलझे रहे और उस ओर ध्यान नहीं दे पाए कि आखिर वह छठा लड़का टाइटेनिक का हीरो इस बीच क्या कर रहा था, उसी तरह हम भी कोलंबस और आतिया के प्यार में गहरे डूबे हुए उस ओर ध्यान नहीं दे पाए थे। सभी लोगों के दिमाग को उलझा देख इस समय का इस्तेमाल उसने बहुत अच्छा किया था और ठीक पाठक की तरह हम भी तब यह जान कर चौंक गए

थे कि आतिया का यह कोई और कोई और नहीं लियाण्डो डिकापोरिया था, जिससे वह इश्क करने लगी थी।

लियाण्डो डिकापोरिया, जो हममें सबसे जूनियर था, और जिसके पास कैमरा वाला मोबाइल था और जिसे हमने इस योग्य कभी नहीं समझा था कि वह भी कभी इस प्रेम प्रकरण के लायक है, उसकी उम्र लगभग बाइस वर्ष के करीब ही थी। वह या तो आतिया के बराबर का ही होगा या फिर वह आतिया से दो चार छह महीने छोटा भी हो सकता था। उसका नाम आशीष था। वह देखने में खूबसूरत था और खूब बनठन कर रहता था। उसके पास खुद के सजने के लिए ढेरों परफ्यूम, आफ्टर शेव, डियोडरेण्ट और जेल थे। वह महंगे कपड़े पहनता था और रोज शेविंग करता था। वह हमसे इस मद में अलग था कि हम घर से बाहर, मोहल्ले के भीतर कुछ भी पहने निकल जाते थे, लेकिन वह उस घर से कदम तभी बाहर निकालता था जब वह पूरी तरह तैयार हो जाता था। उसकी आँखें हल्की भूरी थीं और जब वह हँसता था तब ऐसा लगता था जैसे वह क्लोज अप का विज्ञापन कर रहा हो।

कोलंबस ने जब यह घोषित कर दिया था कि आतिया ने उसे ग्रीन सिग्नल दे दिया है तब से उसे यह पता चलने तक कि वह किसी और से इश्क करती है, के बीच लगभग चार महीने लगे। यह वह समय था जब हम शुरुआती दिनों में इस सदमे में रहे कि आतिया अब हमारी नहीं रही और फिर बाद के दिनों में हम इसकी टोह लेते रहे कि अगर आतिया कोलंबस की लैला है तो वह उसे किस तरह प्यार करती है। वास्तव में उन दिनों जब आतिया हमारी फ्लोर से होते हुए छत पर जाती थी, और जिसे कोलंबस यह साबित करता था कि वह बार-बार छत पर इसलिए आती है कि वह उसे प्यार करती है, तब वास्तव में वह छत पर आशीष से मिलने जाती थी। जब आतिया के समय को मालूम कर कोलंबस पढ़ाई छोड़ सिगरेट का बहाना कर बाहर निकल आता था और आतिया से वह दो मिनट बात कर लेता था तब वास्तव में आतिया ऊपर के फ्लोर पर आशीष से मिलने जा रही होती थी। आशीष जिस ऊपर वाले फ्लोर पर रहता था उस पर सिर्फ एक ही कमरा बना हुआ था और उसके सामने खाली जगह में गमले रखे हुए थे। तब आशीष उन गमलों और खुशबू के बीच आतिया से ढेरों बातें किया करता था और अपने मोबाइल से उन फूलों के बीच उसकी तस्वीर कैद किया करता था।

जब कोलंबस ने यह बता दिया था कि आतिया की जिंदगी में कोई और है तब हमारा ध्यान कोलंबस की ओर से हट गया था और हम आतिया को लेकर काफी

चौकन्ने हो गए थे। हमारे दिमाग में तब जो पहली बात आई थी वह यह कि वह इस घर से बाहर किसी और को प्यार करने लगी है। हमें कुछ दिनों तक यह लगता रहा कि वह इंस्टीट्यूट से देर से इसलिए लौटती है कि वहाँ उसका ब्यॉयफ्रैण्ड है। हम रोज उसके लौटने पर यह अंदाजा लगाते थे कि 'साली आज तो पक्का लोदी गार्डन या पुराना किला गई होगी।' लौटते हुए उसके कपड़ों की बेतरतीबियत को देखकर हम यह कहते कि 'आज तो लग रहा है कि खेल हो गया है।' लेकिन दस पंद्रह दिनों के भीतर हमारा यह भ्रम भी जाता रहा था और उसके छत पर जाने की फ्रिक्वेंसी और वहाँ घंटों आशीष से कर रही बातचीत ने हमारे मन में शक पैदा कर दिया था और फिर धीरे-धीरे यह शक यकीन में बदल गया कि यह 'कोई और' कोई नहीं बल्कि टाइटेनिक का लियाण्डो डिकापोरिया यानि आशीष ही है। हमने आशीष को बुला कर जब इस चक्कर के बारे में पूछा तब उसने साफ कहा था कि 'वह आप लोगों की भावज है।'

हमें जब यह निश्चित हो गया कि हमारे लिए आतिया की कहानी का पटाक्षेप हो चुका है, आतिया को अपना मनपंसद साथी मिल चुका है तब हमने अपने आप को पीछे हटा लिया था। हमारी आँखों के सामने उसका प्यार परवान चढ़ रहा था, और हम सिर्फ उसे महसूस कर रहे थे।

आशीष चूँकि मुझसे अतिरिक्त स्नेह रखता था और मुझ पर अधिक विश्वास करता था इसलिए तब इस कहानी में आतिया-आशीष के अतिरिक्त मैं ही बचा रह गया था। आशीष को भी तब एक आदमी चाहिए था जो उसके नित नए-नए अनुभवों को सुन सके। मैंने उसे काफी स्पेस दिया था और उसने ढेरों बातें मुझसे शेयर की थीं। वह कहता आज आतिया ने मेरा मोबाइल नं. माँगा और मैं जब लिखने के लिए कागज ढूँढ रहा था तब उसने हाथ बढ़ा दिया और साथ में यह भी कहा कि तुम पहले लड़के हो जिसने मेरे हाथ को छुआ है। वह अपने मोबाइल में फूलों के बीच खींची गई आतिया की तस्वीर दिखाता और यह बताता कि यह किस दिन की तस्वीर है। उसने यह भी बताया कि इस वेलेनटाइन डे पर उसने उसे ब्रेसलेट गिफ्ट किया था और यह भी कि आने वाले जन्मदिन पर वह उसे दिल के आकार वाले कान के टॉप्स गिफ्ट करेगा। उसने बाद में यह भी बताना शुरू कर दिया था कि अब वह कभी-कभी बाहर भी मिलने लगा है। आतिया के इंस्टीट्यूट से वे दोनों साथ हो जाते थे और कभी फिल्म देखने तो कभी पुराना किला भी जाते थे। पुराना किला में खींची गई तस्वीर भी उसने दिखाई थी और उसने काफी खुश होकर यह भी बताया था कि वहां पर उसने उसे किस भी किया था।

लेकिन प्यार के ये दिन भी ज्यादा दिन नहीं चले। हमें आशीष और आतिया के प्रेम के बारे में पता चलने के दो तीन महीने बाद तक तो सब ठीक चला लेकिन उसके बाद दो तीन दिनों तक खिंचे खिंचे रहने के उपरांत आशीष ने अचानक एक दिन यह बताया कि वह यह मकान छोड़ने जा रहा है। मेरे चौंकने और कारण पूछने पर उसने यह बताया कि 'वह शादी करने के लिए कह रही है।' मेरे पाँव के नीचे से तब जमीन खिसक चुकी थी कि 'अरे हमने इस ऐंगल से तो सोचा ही नहीं था।'

आशीष ने जब यह बताया था कि वह इस मकान को छोड़ने जा रहा है और वह आतिया की गिरफ्त से काफी दूर चला जाना चाहता है, तब उसके बाद उसने लगभग 7–8 दिनों के बाद उस मकान को छोड़ दिया था। ये बीच के दिन थे जो काफी हलचल भरे थे। आशीष और आतिया के बीच काफी खिंचाव आ चुका था। आतिया आशीष से संपर्क करने की काफी कोशिश करती थी, लेकिन आशीष उससे मिलना नहीं चाहता था। वह कमरे में या छत पर कभी अकेला खड़ा नहीं होता था, नीचे उतरते हुए वह धड़ाक से नीचे उतर जाता था। आतिया का फोन अपने मोबाइल पर रिसीव नहीं करता था। आतिया ने कई बार बाहर से ऐसे नंबरों से भी फोन करने की कोशिश की जो अन्जान थे, लेकिन आशीष ने उनमें कोई रुचि नहीं दिखाई। आशीष मेरे पास आकर मोबाइल के सारे मिस्ड कॉल दिखाता और कहता 'चुड़ैल मुझे खा जाएगी।' मैंने कहा 'तुमको परेशानी क्या है। पढ़ी लिखी लड़की है। एमसीए कर रही है। देखने में सुंदर है। उम्र भी तुम्हारे बराबर है। तुमको इतना प्यार करती है। अपने पिता से बात करो। कोई न कोई रास्ता निकल ही आएगा। शादी तुम जब चाहो तभी करना।' आशीष ने मुझे घूरा था। ऐसे जैसे क्या मैं सही में उसका भला चाहने वाला हूँ। आशीष ने कहा 'आप कैसी बात करते हैं भैया, वह मुसलमानी है। साली के तो मुँह से भी काफी बदबू आती है।' मैं एकदम झन्न से रह गया था।

आतिया को यह मालूम था कि आशीष मेरे ज्यादा नजदीक है। आतिया यह भी जानती थी कि उसके इस प्यार के बारे में मुझे सब मालूम है। उसे यह लगता था कि आशीष अगर किसी की भी थोड़ी बात मान सकता है तो वह मैं ही हूँ। आतिया मेरे पास आई थी। एकदम निराश, हताश। ऐसे जैसे वह आशीष को किसी भी तरह अपनी जिंदगी से जाने देना नहीं चाहती है। मुझे याद है वह दिन, जब आतिया मेरे कमरे में आई थी। दिन के एक-डेढ़ बजे रहे होंगे, कमरे में मैं अकेला था। आतिया के आने से मैं हैरान था। आतिया मेरे ठीक सामने खड़ी थी, उसके बाल बिखरे हुए थे। वह बीमार लग रही थी। मैं उसे देख कर चौंक गया था। उसे खड़ा होने में दिक्कत हो रही थी, मैंने

उसे कुर्सी की ओर इशारा किया लेकिन वह बगैर हिले-डुले वैसे ही खड़ी रही। कमरे में निस्तब्धता थी और चुप्पी को उसने तोड़ा था, बिल्कुल धीमी आवाज में–''उसे किसी भी तरह रोक लीजिए। मुझे मालूम है वह आपकी बात को कभी भी नहीं टालेगा। मेरा प्यार पाक है, मैं उसे बहुत मोहब्बत करती हूँ।'' उसकी आँखों के कोर भीग गए थे, और मैं उसे बस देख रहा था। वह कुछ देर और वहीं खड़ी रही और मैं चुप रहा। वह और अधिक कुछ बोलने की स्थिति में नहींथी। उसका नीचे वाला ओंठ काँप रहा था और उसे खड़े रहने में अब और भी तकलीफ होने लगी थी। उसने जाते हुए कहा–'मैं हनुमान तो हूँ नहीं कि अपना सीना चीर कर दिखाऊँ।' वह रोने लगी और झटके से मेरे कमरे से बाहर हो गई। मुझे आश्चर्य हुआ उसके मुँह से हनुमान का नाम सुन कर यह मिथक सुन कर और उसके चेहरे के हावभाव को देखकर। उसके जाने के बाद मैं काफी देर तक वहीं खड़ा रहा और फिर याद आया कि वह तो मेरे बहुत करीब रह कर बात करती रही लेकिन उसके मुँह से बदबू तो नहीं आई।

मैंने आशीष को समझाने का एक और प्रयास किया था। मैंने उससे कहा– ''आशीष वह तुम्हें बहुत चाहती है।'' आशीष ने एक झटके में कहा–''तो मैं क्या करूँ? आपका दिमाग खराब हो गया है। प्यार करती है तो जान दे दे, मैं क्या करूँ?'' मैं उसे देखता रह गया। उसने फिर ठंडा होकर मुझसे कहा–''आप भोले हैं, आपको कुछ नहीं मालूम है सारे मुसलमान साले आई.एस.आई के ऐजेंट होते हैं। सब का संबंध पाकिस्तान से है। आपको क्या लगता है कि दिल्ली जैसे महानगर में इतना बड़ा मकान होना एक नौकरी से संभव है। और उस पर ये ऐशोआराम, एसी, मोबाइल और गाड़ी। साली पता नहीं कहाँ-कहाँ मुँह मारती होगी। इसके चक्कर में मैं भी एक दिन आतंकवादी ठहरा दिया जाऊँगा। प्यार करना और बात है। घूमना-फिरना और बात है।'' इस संदर्भ में आशीष से हुई यह मेरी आखिरी बात थी। इसके बाद आशीष चला गया अपने सामान के साथ। आतिया अपने दरवाजे की जाली के पीछे से उसे बस देखती रह गई थी। लेकिन मैं आशीष को दोष नहीं दे पाया। मैं जानता था कि वह आशीष नहीं होकर कोलंबस होता या फिर हम में से कोई भी तब भी, इस कहानी का अंत यही था।

आशीष और आतिया के प्यार के इस दुखद अंत ने हमें अंदर से झकझोर दिया था। और फिर धीरे-धीरे हम सभी उस मकान से बाहर हो गए। हम सब अलग-अलग हो गए। हमारे बीच के आपसी संबंध धीरे-धीरे खत्म हो गए। वह मकान जिसे हम कभी 'स्वीट होम' कहते थे और जहाँ लौटने के लिए हम में से सब बेचैन होते थे,

उससे निकलते हुए हम सब जितने दुखी थे, उससे ज्यादा हमारे मन में इसका सुकून था कि हम बाल बाल बच गए। हम सभी तब यह सोच रहे थे कि अगर आशीष के बदले हम होते तो क्या होता?

यह कहानी जब मैं लिख रहा हूँ तब उस मकान को छोड़े हुए मुझे लगभग चार वर्ष हो गए हैं। इस बीच दुनिया बहुत बदल गई। अब कैमरे वाला मोबाइल आम हो गया। कंप्यूटर का भारी भरकम मॉनीटर एल.सी.डी. में बदल गया। लेपटॉप की कीमत गिर गई और दिल्ली में बहुत सी दूरियाँ मैट्रो से तय की जाने लगीं। लोगों की जेब में अब स्मार्ट कार्ड मिलने लगे और लोग उससे किरायों में होने वाले दस प्रतिशत की बचत करने लगे। लेकिन ये मेरे लिए वे दिन थे, जो अभी भी अनिश्चितताओं से भरे थे। इस चार साल में मैं लगभग तैंतीस वर्ष का हो गया था। कोई भी नौकरी नहीं मिली थी। घर जाना लगभग बंद हो गया था। शादी नहीं हुई थी। किसी तरह अपने जीवन को खींच रहा था। तब अचानक एक सुबह खुशी की लहर दौड़ गई, जब मुझे यह पता चला कि जो बहुत पहले क्लर्क की एक नौकरी की परीक्षा दे रखी थी उसमें मेरा चुनाव हो गया है। नौकरी शब्द तब मुझे आह्लादित कर रहा था। याद आ रहे थे वे सारे ख्वाब जो हमने नौकरी मिलने के तुरंत बाद के लिए संजोए थे, वे सब ठंडे पड़ चुके थे। वे साथ रहने वाले लड़के अब साथ भी नहीं थे।

इस नौकरी का फॉर्म चूँकि मैंने उसी घर से भरा था इसलिए उसका ज्वाइनिंग लेटर वहीं आया। मैंने जब उस घर में चार वर्ष के बाद पहला कदम रखा तब वह घर काफी खामोश था। पूरे घर पर एक उदासी दिखी। वहाँ लगभग एक घंटा बैठा और जो नई बातें पता चलीं वे इस प्रकार हैं–

आशीष के उस मकान के छोड़ने के एक महीने के भीतर ही हम सभी के उस मकान को छोड़ देने के बाद उसके घर वाले आशीष और आतिया के संबंध के बारे में जान गए थे। आतिया काफी दुखी रहने लगी थी। उसने इंस्टीट्यूट जाना, घर से निकलना छोड़ दिया था। वह दिन भर कुरान लिए बैठी रहती थी, और उसने दिन में पाँच बार नियमित नमाज अदा करनी शुरू कर दी थी। उसके घर वाले डर गए थे और झटपट उसकी शादी कर दी गई थी। उसकी शादी हुए भी लगभग साढ़े तीन वर्ष हो चुके थे। आतिया की माँ ने बताया ''वह हमारी जिंदगी की बड़ी ही मनहूस घड़ी थी जब हमने तुम लोगों को इस घर में पनाह दी। मेरी बेटी सुन्न हो चुकी है। उसने निकाह तो कर लिया है, लेकिन अपने आप को अंदर से मार रही है वह। वह सूख कर बिल्कुल आधी रह गई है। उसे कोई औलाद नहीं है। कई डाक्टरों से मशवरा कर चुकी हूँ। मगर उसकी ख्वाहिश ही मर चुकी है। डॉक्टर कहते हैं वह अंदर से खत्म हो गई है। वह कभी माँ नहीं बन सकती। मेरी बच्ची को तो बरबाद कर दिया तुम लोगों ने।''

मैं जब वहां से उठा तब मेरे हाथ में नौकरी का ज्वाइनिंग लेटर था। उस नौकरी का ज्वाइनिंग लेटर जिसे लेकर हमारे मन में ढेरों ख्वाब थे। और जिसके नहीं मिलने पर अवसाद के घनघोर क्षणों में हम उसे देख कर आनंदित होते थे। वे अवसाद के दिन बहुत लंबे थे, और आज उसका खात्मा हुआ लेकिन इस मोड़ पर ऐसा मैंने कभी सोचा नहीं था। आज मुझे मालूम नहीं है कि आशीष कहाँ है, और कोलंबस या और सब। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि आतिया अभी जीवित है लेकिन पता नहीं कब तक।

अभी शायद इस कहानी को खत्म कर कल दिल्ली की सैर पर निकलूँ।

उमा शंकर चौधरी

चर्चित युवा लेखक उमा शंकर चौधरी का जन्म 1 मार्च 1978 को खगड़िया बिहार में हुआ। कहानी और कविता में समान रूप से लेखन करते रहे हैं। पहले कविताएँ लिखनी शुरू की और कविता के क्षेत्र में अपनी एक पहचान स्थापित की। कविता के लिए वर्ष 27 का 'अंकुर मिश्र स्मृति पुरस्कार' और वर्ष 28 का 'भारतीय ज्ञानपीठ का नवलेखन पुरस्कार' मिला। भारतीय ज्ञानपीठ से पहला कविता संग्रह 'कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे' प्रकाशित हुआ। कहानी के क्षेत्र में उमा शंकर चौधरी ने अपनी पहली और दूसरी कहानी से ही ख्याति अर्जित कर ली। दूसरी ही कहानी 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं' को वर्ष 28 के 'रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार' से नवाजा गया। इस कहानी का देवेन्द्र राज अंकुर के निर्देशन में एनएसडी सहित देश के विभिन्न हिस्सों में सफल मंचन हुआ। कुछ कविताएँ मलयालम में और कहानी बंगला में अनुदित हो चुकी हैं। पहला कहानी संग्रह 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं' भारतीय ज्ञानपीठ से शीघ्र ही छपकर आने वाला है।

भूलना

—चन्दन पाण्डेय

सामने से जो महिला आ रही है वह इतनी खूबसूरत है कि याद रखने लायक है। इस महिला के साथ जो पुरुष है, वह मेरी ही उम्र का होगा।

सड़क के किनारे-किनारे इतने अच्छे-अच्छे फूलों के पेड़-पौधे है कि मैं उनके नाम भी नहीं जानता हूँ। महिला फूलों के पेड़ के पास खड़ी हो गई है और उसे फूल चाहिए। साथ वाला पुरुष उसे समझा रहा है कि नीचे पड़ा फूल ले लो। वह ताजा और तुरंत का तोड़ा हुआ फूल चाहती है। बासी और कुचला हुआ नहीं। पुरुष उसे तर्कों से ढाँप देता है और महिला मन मसोसकर नीचे पड़ा फूल ले लेती है।

मुझे हँसी आ रही है, वह भी इतनी जोर से कि मुझे अपना चेहरा दूसरी तरफ घुमाना पड़ेगा। पहले हँस लूँ। आप ही बताइए, अगर कहीं मेरी भी कोई प्रेमिका होती (जबकि मेरी एक सात साल की बिटिया भी है) और वह ऐसी ही कोई जिद करती, तो मैं उससे भी खूब ऊँचे पेड़ की सबसे ऊँची टहनी से लगा फूल तोड़कर ला देता। वह भी एक नहीं, दो-दो। और दो क्यों, ये फूल इतने सुंदर हैं कि अगर कोई मेरी प्रेमिका बनती है तो उसे जरूर ऐसे सैकड़ों फूल चाहिए होंगे। उससे क्या, मैं सैकड़ों फूल ले आऊँगा।

मैं क्या नहीं कर सकता हूँ? फल तोड़ना, या शायद मैं अभी फूल तोड़ने की बात कर रहा था, तो फिर भी एक आसान-सा दिखता काम है, कल ही की बात है, चंदू भाई ने बताया कि लखनऊ में आसानी से काम बँट रहा था। काम जरा कठिन था।

दरअसल कल शताब्दी एक्सप्रेस का लखनऊ से दिल्ली पहुँचना निहायत जरूरी

थी। उसमें राज्य के सर्वेसर्वा अपनी प्रेमिका के साथ बैठे थे। सर्वेसर्वा लगभग बूढ़े थे, प्रेमिका लगभग जवान थी और प्रेमिका की नाक के दाहिनी कोर पर एक फुँसी उग आई थी। उस फुँसी का ही इलाज कराने ये लोग शताब्दी एक्सप्रेस से दिल्ली जा रहे थे।

पर हुआ यह कि शताब्दी के प्लेटफार्म छोड़ने के पहले ही उसके इंजन की हेडलाइट फूट गई। तुर्रा यह कि प्रेमिका ने उसमें साजिश भाँप ली, कहा कि इसी गाड़ी और इसी इंजन से जाएँगे और मुँह फुलाकर बैठ गई।

शताब्दी एक्सप्रेस की फूटी हेडलाइट तथा प्रेमिका की जिद को देखते हुए सरकार ने आनन-फानन में एक भर्ती खोल दी। उसमें उम्र की कोई सीमा नहीं थी। बस आप दौड़ने वाले हों। काम बस इतना ही था कि माथे पर गैस बत्ती लेकर शताब्दी एक्सप्रेस के आगे-आगे दौड़ना था। सभी दौड़ने वालों को दस हजार प्रति मिनट मिलता। दस हजार प्रति मिनट।

हजारों लोगों की भीड़ लग गई थी। अपने कंपार्टमेंट में देखते हुए सर्वेसर्वा की प्रेमिका नाक की फुन्सी के दर्द के बावजूद उछल पड़ी थी। प्रेमिका ने 'जवान लोगों को दौड़ते हुए देखना कितना अच्छा लगेगा' कहा था और सर्वेसर्वा की तरफ हिकारत से देखकर मुँह फेर लिया था।

मैं भी अगर लखनऊ रहा होता और अगर दो मिनट भी दौड़ लेता तो बीस हजार रुपए। बाप रे! बीस हजार रुपए! पाँच-छह साल का खर्च तो निकल ही आता। और अगर एक हाथ या पाँव के कट जाने की कीमत पर अगला आधा मिनट भी दौड़ लेता तो ऊपर से पाँच हजार और।... अगे मा गो! हे भगवान, ये मैं क्या सोच रहा हूँ। पच्चीस हजार! वह भी एक साथ! आप खड़े-खड़े देख क्या रहे हैं, मुझे इतना ज्यादा सोचने से रोकते क्यों नहीं? मेरे भाई, मेरे बन्धु मेरी सोच को वापस खींचिए। उसे दौड़कर पकड़ लीजिए। मैं आपका आभारी रहूँगा। हमेशा के लिए।

तो देखा, मैं क्या-क्या कर सकता हूँ? फल तोड़ सकता हूँ (जबकि मेरी पत्नी है और सात साल की बेटी भी), रेलगाड़ी के आगे दौड़ सकता हूँ बस एक मौका तो मिले।

हालाँकि पुलिस वालों की हालत देखकर यह कहते हुए डर लगता है, पर अगर मुझे पुलिस की नौकरी में लगा दें, तो मैं दंगों पर, अपराधियों पर काबू पा लूँगा। समाज-सुधार की बाबत यही कहूँगा कि मुझे कलक्टर बनाकर देख लीजिए।

और मैं कहता हूँ दंगे या अपराध की नौबत ही क्यों आए, बस मुझे क्षेत्र विशेष में दंगे या अपराध से बचने के लिए किसी बड़े महाविद्यालय में शिक्षक नियुक्त कर दीजिए–ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि–अनादि का ऐसा पाठ पढ़ाऊँगा कि लोग दंगे और अपराध जैसे शब्द भी भूल जाएँगे। कोई मौका तो मिले।

फिलहाल मैं अपने गाँव से सटे कस्बे के एक निजी विद्यालय, माँ शारदे शिक्षा निकेतन में शिक्षक हूँ और (275 + 5) की तनख्वाह भी है। इस विद्यालय में मैं वही सब पढ़ाना चाहता हूँ जिससे कि अपराध और दंगे न हों। यहाँ मेरे पढ़ाने का एक फायदा यह भी है कि यहीं मेरी बेटी शालू पढ़ती है और उसकी फीस नहीं देनी पड़ती है।

मेरी बेटी शालू, अभी सात साल की है और कक्षा चार में पढ़ती है। जब वह बात करती है तो मन खुश हो जाता है। उसकी बातों से सारा बोझ, सारी थकान उतर जाती है। मेरी पत्नी तो बड़े प्यार वाली फटकार से कहती है–"बस दिमाग थोड़ा तेज है, और कुछ खास नहीं।" मेरे पिताजी की तो जान शालू में बसती है। माँ की भी जान। पिताजी के पैरों में चौबीसों घंटे रहने वाला भयानक दर्द नहीं होता तो पिताजी, हो सकता है, शालू के साथ विद्यालय भी आते–जाते। बाकी समय तो शालू माँ और पिताजी के साथ ही रहती है।

मैं समझता हूँ।

शालू उन्हें मेरे छोटे भाई गुलशन का आभास कराती है। मुझे भी उतनी ही सुन्दर, उछल–कूद में वही बचपन वाले गुलशन जैसी और पढ़ाई में उतनी ही तेज लगती है।

शालू की पढ़ाई का आलम यह है कि हर साल उसे एक क्लास फँदाना पड़ता है। संबंधित शिक्षक बताते हैं–कि पूरी किताब ही रट जाती है–कि मुझे शालू को किसी बड़े शहर के बड़े स्कूल में प्रवेश दिला देना चाहिए–कि शालू बड़ी होकर खूब नाम करेगी। सोचिए जरा, इन बातों से मुझे कितनी खुशी होती होगी?

मुझे भी लगता है कि मेरे भाई गुलशन की देखने–सुनने की प्राकृतिक क्षमता के असामयिक लोप से उपजी सारी असफलताओं से जो कुछ भी सपनों सरीखा हममें छूट गया था, वह मेरी बिटिया रानी पलक झपकते ही पूरा कर देगी।

सपने भी सभी तो रहे नहीं, दवाओं की एक्सपायरी डेट की तरह सपनों की भी उम्र होती होगी। जैसे उन दिनों मेरी छोटी बहन सीमा का सिरदर्द। उसका सिर बीभत्स तरीके से फूल जाया करता था। भीषण दर्द की वजह से उसके सिर की नसें सूज जाती

थीं। चेहरा विकृत हो जाया करता था। सीमा अपने माथे को प्लास्टिक की मोटी रस्सी से खूब कसकर बाँध लेती थी। रह–रहकर उठती उसकी चीख से दीवारें डोलने लगती थीं।

अपने तईं हमने बहन का बुत इलाज कराया। कोई पागलपन की दवा देता था, कोई नींद की और कोई पेट की दवा देता था। एक आखिरी इलाज हम लोगों के पास था–भाई की नौकरी, जो हमारे सपनों की दुकान बनने वाली थी।

बहन के बाद वह सपना भी समाप्त हो गया। हाँ, यह जरूर है कि बाकी सपने तस–के–तस हैं। पिताजी की बीमारी, माँ की बीमारी, दो–तीन कमरों का कोई घर बने जिसमें बारिश का पानी भीतर न गिरे, दो जून का बढ़िया खाना, एक भैंस जिसका दूध कम–से–कम पिताजी, माँ, गुलशन और शालू को तो चाहिए ही चाहिए, दूध कुछ बचेगा तो हम पति–पत्नी भी–और भी ढेर सारे सपने। इतने सपनों के बीच शालू का पढ़ाई–लिखाई में इतना तेज होना।

और तो और, अंधा और लगभग बहरा मेरा भाई गुलशन जो चुपचाप पलानी (घर के बाहर की झोंपड़ी) में बैठा रहता है, वह यह जानकर कितना खुश होगा कि शालू बिल्कुल उस पर गई है, सुंदर उद्दंड (चंचल कह सकते हैं) और तेज। सच तो यह भी है कि शालू कितनी भी तेज क्यों न हो जाए, गुलश को पार कर पाना उसके लिए थोड़ा कठिन होगा। एक समय वैसा भी था, जब गुलशन ने इंटरमीडिएट की परीक्षा में समूचे शहर में पहला स्थान प्राप्त किया था।

मेरी बेटी ने एक दिन मुझे एक पर्चा थमाया, बताया कि कक्षा में सभी को मिला था और इस पर्चे को भरना है, जो सबसे सटीक उत्तर भरेगा उसे ट्राफी और सर्टिफिकेट मिलना था। पर्चा मुझे याद रह गया–

आतंकवाद : देश का अभिशाप

(जागरूक देशभक्तों के लिए कुछ यक्षप्रश्न)

1. आतंकवाद क्या है?

उत्तर–

2. आतंकवाद से राष्ट्र को क्या नुकसान है?

उत्तर–

3. आतंकवादियों की पहचान क्या है?

उत्तर–

4. अगर कहीं आतंकवादियों से सामना हो जाए, तो आप क्या करेंगे?

उत्तर–

सहयोगराशि : दो रुपए मात्र।

(हस्ताक्षर)

अध्यक्ष, संग्राम सेना

वह पर्चा मैंने शालू को वापस थमा दिया। उससे पूछा कि यह पर्चा उसे किसने दिया था और यह भी कहा कि कल प्रधानाचार्य महोदय से बात करूँगा। पता नहीं, शालू ने क्या समझा और क्या नहीं, पर कुछ देर बाद वह अपने दादाजी से उसे भरने की जिद कर रही थी। पिताजी ने उस पर्चे को नहीं फाड़ा होगा तो सिर्फ इसलिए कि वह पर्चा शालू का था।

आतंकवाद। इस शब्द की सवारी गाँठकर मैं अपनी बेटी से अलग होता हूँ और उस पलानी में पहुँचता हूँ जहाँ मेरा भाई बरसों से अकेला है। लगभग बहरा और पूरी तरह अंधा मेरा भाई अपने चेहरे को इस ऊँचाई से उठाए हुए है जैसे सामने खड़े किसी व्यक्ति से मुखातिब हो, और उस पर उसका लगातार मुस्कुराना। पलानी में नीम अँधेरा है। भाई कुछ टटोल रहा है, श्यायद माचिस की तीली, अब कान कुरेदेगा।

मेरे भाई गुलशन के चेहरे पर सात–आठ वर्षों पहले की वह गली उभरती है। व्यस्त सड़क से बहुत तीखा मोड़। सँकरी गली। मुर्गे–मुर्गियों की भाग–दौड़ नालियों में बैठी बत्तख। भिनभिनाहट–सा शोर। बर्तनों के गिरने की आवाज। घरों के बाहर तक ही पहुँच रहे सरकारी नलों के पास बैठे लोग। नहाते, कुल्ला करते, कपड़ा फींचते लोगों के बीच राजनीतिक चर्चा का घमासान। सुबह की धूप। अक्षयवर चाचा का रिक्शा गली पार कर रहा है कि बहुत जोरों की आवाज होती है।

भाई के चेहरे से वो गली गायब हो जाती है। मुझे हँसी आ रही है।

मुझे सब याद है।

जब वह बहुत तेज वाली आवाज हुई थी, तो गली के लोगों की भीड़ रिक्शे की तरफ दौड़ पड़ी थी। उसमें मैं भी था। हम लोग दौड़ पड़े थे, हँस रहे थे और आतंकवाद के खिलाफ नारे लगा रहे थे।

अक्षयवर चाचा के रिक्शे का अगला टायर बोल गया था। यह आवाज वहीं से

आई थी। हम सबने भी महज तफरीह के लिए उन्हें घेर लिया था। वरना तो, वो हमारी ही गली में रहते थे। बाद में हमने लाख समझाया कि ये सब मजाक था, पर अक्षरवर चाचा डर गए थे।

दिक्कत तब हुई थी जब शोर सुनकर गली के ठीक बाहर मुख्य सड़क के चौराहे पर वाहनों से वसूली के लिए चौबीसों घंटे तैनात रहने वाले पुलिस के लोग भी गली में आ गए थे। हम सबने पुलिस के लोगों को समझाया और वह मान भी गए पर जाते–जाते उन लोगों ने रिक्शे से सीट हटाकर देखा, रिक्शे ने नीचे देखा, कहीं बम तो नहीं है। हिदायत दी–टायर ट्यूब सही रखो नहीं तो डाल दिये जाओगे। हम सबको भी डंडा दिखाया–ज्यादा जवानी चढ़ गई है क्या?

इस घटना के होने तक हमारे शहर में नए एस.पी. का आना नहीं हुआ था। इस तरह वह नियम तो दूर–दूर तक लोगों के ख्वाबों में भी नहीं था, जो एस.पी. ने शहर में आने के बाद अपराध और आतंकवाद पर काबू करने के लिए लगाया था जिसमें हरेक पुलिसकर्मी को रोज एक अपराधी पकड़ना होता था।

अक्षयवर चाचा वाली घटना से डरे तो हम भी थे पर अक्षयवर चाचा के मुकाबले कम ही डरे थे। फिर भी हमारे बीच आतंकवाद का मजाक, आतंकवाद की गाली, आतंकवाद का खेल सब चलता रहता था। हम दोस्तों को 'साला' बाद में आतंकवादी कहीं का पहले कहा करते थे। उन दिनों देश का माहौल ही कुछ ऐसा था। समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, टेलीविजन, शासन का बहाना सब कुछ आतंकवाद से शुरू होकर आतंकवाद पर ही समाप्त होता था।

गाँव चले आने के कारण इन दिनों के हालात के बारे में हमें विशेष जानकारी नहीं है। दरअसल उन्हीं दिनों एक साथ कुछ ऐसी बातें हो गई थीं कि हम गाँव चले आए थे। पिताजी की सिनेमाहाल वाली दरबानी छूट गई थी। मेरे ट्यूशन भी पर्याप्त नहीं थे, माँ का दूसरे घरों में बर्तन–पोछे का काम भी ठीक नहीं चल रहा था। फिर भी भाई की पढ़ाई अगर जारी रही होती तो हम कुछ भी कर–धर के शहर से चिपके रहे होते।

उन्नीस सौ अस्सी में जन्मा मेरा भाई मुझसे पाँच साल और पिताजी से पूरे–पूरे तैंतीस साल छोटा है। पच्चीस की उम्र में ही वह पिछले सात–आठ सालों से लगातार बैठा हुआ है और न जाने कितने सालों तक ऐसे ही बैठा रहेगा। इतनी कम उम्र में भी उसे कुछ सुनाने के लिए उसके कान को अपनी दोनों हथेलियों की गोलाई में समेटकर और हथेलियों को उस गोलाई में मुँह घुसाकर खूब तेज–तेज चिल्लाना पड़ेगा, तब

जाकर वह कहीं कुछ सुन पाएगा। देख तो, खैर, वह बिल्कुल भी नहीं पाता है।

जिन दिनों गुलशन ऐसी हालत में पहुँचा था, उन दिनों हम सोचते थे कि जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण घट रहा हो, उसे गुलशन को बताया जाना चाहिए। क्रिकेट की खबरें, फिल्मों की बातें, विशेष तौर पर शाहरुख खान की फिल्मों की कहानियाँ हम उसके कान में चिल्ला-चिल्ला कर बताते थे। धीरे-धीरे हमारा उसकी इतनी सघनता से देखभाल करना कम होता गया।

हमारे पास न तो इतनी ऊर्जा है और न ही उसकी कोई जरूरत कि गुलशन के कान में चिल्लाकर सब कुछ बताएँ। यह काम अब मन-बहलाव के लिए गाँव के बच्चे करते हैं या फिर कोई खुशखबरी सुनानी हो तो शालू करती है।

अकेले पलानी में पड़े-पड़े गुलशन को जब भी कोई जरूरत हुई तो एक बार जोर से मुझे, शालू को, या माँ को पुकार लेगा। तब जिस किसी के पास फुर्सत हुई वह उसके पास आ जाएगा, वरना गुलशन को लंबा इंतजार करना पड़ सकता है। हमेशा मुस्कुराते रहने का उसने शगल पाल लिया है।

जब गुलशन के खाने का समय होता है तब भी वह मुस्कुराता ही रहता है। पहले जो होता रहा हो, पर अब हम उसके हाथ धुलाकर उसकी कोई उँगली खाने में डुबो देते हैं, वह खाने लगता है। तकलीफ तब होती है, जब उसे चाय, गर्म दूध (कभी-कभार) या कोई गर्म खाना देना होता है।

अपनी तरफ से हम भरपूर कोशिश करते हैं कि चाय या गर्म खाना गुलशन के शरीर के किसी कठोरतम हिस्से से स्पर्श कराएँ ताकि उसे न के बराबर तकलीफ हो। पर होता यह है कि जब उसे चाय स्पर्श कराते हैं तो मुस्कुराते हुए ही वह बुरी तरह काँप जाता है। दाँत-पर-दाँत चढ़ाकर आँखें और मुट्ठियाँ भींच लेता है। उसका चेहरा विकृत हो जाता है।

या फिर अगर कोई आकर गुलशन की बाईं बाँह छू ले तो गुलशन, अपने अनुमान से उसी तरह अपना सिर इतना ऊपर उठाता है जितनी एक व्यक्ति की लंबाई हो सकती है। अगर वह बाईं बाँह छूने वाला आदमी भागकर दाईं तरफ आ जाए तो भी गुलशन अपने को पूरी तरह चैतन्य दिखाने की कोशिश में बाईं तरफ ही सिर उठाए, हाथ मिलाने के लिए दाहिना हाथ उठाता है, तमाम प्रश्न पूछने लगता है, कैसे हैं, क्या हो रहा है, क्रिकेट मैच हो रहा है या नहीं-या फिर-(कभी-कभी) मुझे पेशाब करना है। गुलशन यह जताने की कोशिश करता है कि वह सामने वाले को देख सकता है,

सुन सकता है।

इस बात पर दूसरों की जो हालत होती है, वह तो होती ही है, भाई का मजाक उड़ाने वाला वह आदमी भी भाई की इस दशा पर उदास हो जाता है।

मेरा भाई, गुलशन, ऐसा नहीं था।

उन दिनों हम बनारस में रहा करते थे, जब मेरे भाई गुलशन को इंटरमीडिएट की परीक्षा में समूचे शहर में पहला स्थान प्राप्त हुआ था। फिर तो हमारे ख्वाबों के पंख लग गए।

लंबा-चौड़ा मेरा भाई इतना सुंदर था कि रामाशीष चाचा की उस बात से सभी लोग पूरी तरह सहमत थे। रामाशीष चाचा का कहना था कि ऐसे खूबसूरत नौजवान को सिर्फ सपनों में दिखना चाहिए। सपने ऐसे कि ये लड़का घोड़े पर चढ़ा हो, उस सपने में एक तरफ समुद्र और दूसरी तरफ पहाड़ होने चाहिए, घोड़े पर भागता हुआ ये लड़का आपसे ही मिलने आ रहा हो।

गुलशन चेहरे-मोहरे में पूरी तरह माँ पर गया था। इसीलिए हमें शुरू से पता था कि वह बेहद भाग्यशाली होगा। मेरे घर तथा पड़ोस में इस नियम को बेहद उत्साह से देखा जाता है, जिसमें अगर बेटे का चेहरा माँ से और बेटी का चेहरा पिता से मिले तो ऐसे बेटे-बेटियाँ भाग्यशाली होते हैं। इस लिहाज से बहन को भी भाग्यशाली होना था। मैं जरूर भाग्यशाली नहीं था और छब्बीस-सत्ताईस की उम्र में दो-दो सौ के पाँच और तीन सौ का एक, कुल छह ट्यूशन पढ़ा रहा था।

इंटरमीडिएट में इतने बढ़िया परिणाम के बाद हमारी, मेरी और पिताजी की, दिली तमन्ना थी कि गुलशन देश के सबसे अच्छे इंजीनियरिंग कॉलेज से इंजीनियङ्गरग की पढ़ाई करे। फिर वह चाहे तो कलक्टरी कर ले या फिर वह सलीके से दलाली वाला काम, मैं उस काम की विशेष संज्ञा भूल रहा हूँ, वही जिसमें खूब मोटी तनख्वाह होती है, मुनीमी जैसा काम है वो भाई, जिसमें रातों-रात लोगों को ज्यादा लूटने की योजनाएँ बनाई जाती हैं।

भाई को लेकर जो हमारी सबसे क्रूर ख्वाहिश थी, वह अमीर बन जाने की थी। गुलशन की नौकरी को लेकर हम दस हजार रुपए तक ही सोच पाते थे। दस हजार रुपए के पार की तनख्वाह तक जैसे ही हमारी बात पहुँचती (मेरी, पिताजी, सीमा, माँ)-तो मेरे पेट में कैसी तो हुदहुदी मच जाती थी, मैं उत्तेजित हो जाता, मेरे हाथ-पैर काँपने लगते थे। हम सभी की हालत कमोबेश ऐसी ही होती।

सबसे होशियार क्षणों में भी जब हम दस हजार और उससे ज्यादा रुपयों के बारे में सोचते तो यही सोचते कि हम लोग इतने रुपए का आखिर करेंगे क्या?

ऐसी बातों के दरमियान भाई के सामने आते ही सभी बातचीत समेट लेते थे। हममें से कोई गुलशन की तरफ मुस्कुराते हुए देखता। पिताजी और माँ की मुस्कान हम भाई-बहन की मुस्कान से जरा अलग होती थी-नर्म। एक साथ हम सभी गुलशन को यह एहसास दिलाना चाहते थे कि, देखो, तुम हमारे लिए क्या हो?

हमारी क्रूर ख्वाहिश के अलावा अन्य ख्वाहिशों में पिताजी के पैरों में अनवरत रहने वाले उस दर्द का इलाज था, जिस दर्द को हम टटाना कहते थे।

पन्द्रह-सोलह साल पहले हम गाँव से आए थे, तभी से पिताजी सरस्वती सिनेमा (लक्सा रोड पर है) की दरबानी कर रहे थे। पिताजी के पैरों की पिंडलियों का वह दर्द सरस्वती सिनेमा की दरबानी में लगातार खड़े रहने से उपजा था। जितने समय पिताजी घर पर रहते, भाई को पैरों पर चढ़ाए रहते थे। कई बार पूछने पर बताया था कि दर्द हमेशा रहने लगा है, चलने के क्रम में दर्द इतना बढ़ जाता है कि आगे नहीं घिसट पाते हैं, लगता है कि पैर अररा कर कट जाएँगे।

मैं सुनता रहा था।

ठीक ऐसा ही बहन के सिरदर्द को लेकर भी था, जिसके बारे में शायद, अभी तक मैं बता नहीं पाया, तमाम दवाइयों, प्लास्टिक की रस्सी से सिर बाँधना, चीख। होता यह था कि हमारी बातचीत अगर हँसी की पराकाष्ठा पर पहुँचती तो अचानक मेरी बहन हँसते-हँसते सिर पकड़ लेती थी। उसके ऐसा करते ही हमारा दिल बैठने लगता था। हम जान जाते थे कि अब बहुत पैसा खर्च होगा।

हम सभी शाश्वत बीमार थे। ऐसा इसलिए क्योंकि हमें लग रहा था कि, हमें अपने सुख-दु:ख, तीज-त्यौहार को तब तक के लिए टाल देना था जब तक गुलशन किसी नौकरी में न आ जाए। पिताजी के पन्द्रह सौ और मेरे तेरह सौ में से घर खर्च हटाकर बाकी बचा पूरा पैसा गुलशन पर लग रहा था। अब तो हम त्योहारों की तिथियाँ तक ध्यान में नहीं रख पाते थे और इससे माँ को बहुत परेशानी होती थी। माँ का कोई-न-कोई व्रत हमेशा छूट जाया करता था।

सब कुछ 'बस सपने पूरे होने वाले हैं', जैसा चल रहा था।

हमारी भावी एवं भव्य योजनाओं पर भाई ने यह कहकर पानी फेरने की कोशिश की थी, मुझे याद है, कि वह तो बिना इंजीनियङ्करग की पढ़ाई किए भी अच्छी नौकरी पा लेगा। भाई के इस उद्दंड उवाच से मैं सकपका गया था। मुझे लगा कि, कहीं मेरे उद्दंड भाई के दिल में कोई मासूम कोना तो नहीं उभर आया था, या कि ये कौन-सी खुराफात थी?

मुझे लगा था कि कहीं वह अपने खेलते-कूदते रहने की योजनाओं को विस्तार तो नहीं दे रहा था क्योंकि जितना कम समय अब तक वो पढ़ाई पर देता आया था उतने में तो प्रथम श्रेणी भी लाना मुश्किल हो जाता, शहर में प्रथम स्थान पाना तो फिर भी एक बात है।

क्रिकेट और फिल्मों के बेतरह शौकीन मेरे भाई का जब पढ़ना होता तो उसी एक कमरे में दीवार की तरफ मुँह करके पढ़ने बैठ जाता। वही एक एक कमरा था जिसमें हम सभी रहते थे, साथ में बाथरूम भी था। गुलशन के पढ़ने के दौरान लाख होहल्ला हो वह पीछे घूमकर देखता भी नहीं था। लेकिन जब पढ़ाई खत्म कर लेता तो सारा घर सिर पर उठा लेता था। फिल्मों की बात, क्रिकेट, गाँव जाने की बात।

अपनी योजनाओं के प्रति गुलशन के निषेधात्मक भाव को लेकर चिंतित हम लोगों ने एक दिन गुलशन को हड़काया। पिताजी तो चुप ही थे, मैं बोले जा रहा था। मैं गुलशन को दुनिया जहान की बेमतलब की बातें समझाता रहा था।

पर भाई ने यह कहकर मुझे चारों खाने चित्त कर दिया था कि वह इंजीनियङ्करग वगैरह सिर्फ इसलिए नहीं करना चाहता है क्योंकि वह घर की हालत देख रहा है। नौकरी तो कुछ भी पढ़ के पाई जा सकती है। वरना जो आप लोगों की मर्जी।

'घर की हालत देख रहा हूँ' वाली बात मुझे अच्छी नहीं लगी थी। मैंने गुलशन को बताया कि पढ़ाई के लिए बैंक लोन देगा। या फिर खुदा न खास्ते मेरी ही नौकरी लग गई तो। ये जरूर था कि नौकरी के नाम पर अब मुझे उन सपनों के अंश दिखाई देने लगे थे जिसमें मैं रेलगाड़ी के आगे गैसबत्ती लिए दौड़ रहा हूँ। उन दिनों तक मुझे इस सपने में सिर्फ गैसबत्ती दौड़ती हुई दिख रही थी, मैं नहीं। मैं गुलशन को बताना चाहता था कि 'कुछ भी' पढ़कर नौकरी पाना मुश्किल है।

मैंने गुलशन से यह भी कहा था कि कहीं ऐसा तो नहीं कि वह आगे की कठिन पढ़ाई के नाम पर डर रहा है। इस बात पर गुलशन ने रुआँसा होकर मुझे देखा था, मुझे याद है, उसके देखने में ऐसा कुछ था कि 'ये आप बोल रहें हैं, भइया।'

फिर तो हमारा गुलशन एकाएक बदल गया। कल तक एकदम कम पढ़ने वाला गुलशन, अगले ही दिन से किताबों में डूब गया था। वह इंजीनियङ्करग प्रवेश परीक्षा की

गूढ़ किताबों में डूबता जा रहा था, हम खुश होते जा रहे थे। भाई की पढ़ाई में खूब पैसा लगेगा, यह जानकर हम नए सिरे से नौकरियाँ तलाशने लगे थे। माँ ने फिर से बर्तन–पोठा वाला काम शुरू कर दिया था। मैं और मेरी बहन प्राइवेट स्कूलों के चक्कर लगा रहे थे।

दिनभर हम भाई–बहन मास्टरी ढूँढ़ते और रात में नींद आते ही शहर के सबसे अच्छे स्कूल में पढ़ाने चले जाते। मैं प्रिन्सिपल हो जाया करता था। बहन भी मेरी ही गाड़ी से लौटती थी। लौटते हुए हम कोई खरीदारी करते या मन हुआ तो कभी फिल्में भी देख लेते थे। दिक्कत सिर्फ तनख्वाह की थी। नींद खुलने के तुरन्त पहले हमें तनख्वाह मिलनी थी। पर असावधानीवश या जाने क्यों हमेशा तनख्वाह में मिले नोटों के बंडल नींद में ही छूट जाते थे। एक बार तो मैंने खूब कसकर नोटों को पकड़ लिया था और पूरी तैयारी में था कि एक छलाँग लगाता और नींद से उछल कर बाहर पहुँच जाता, लेकिन–दूसरी दिक्कत यह थी कि सुबह उठकर चाय माँगने पर बहन इसलिए चाय देने से मना कर देती थी, कि रात में उससे अधिक तनख्वाह मुझे मिली होती थी।

हम सबने–मैं, पिताजी, माँ, बहन–अपने लगातार व्यस्तताओं के बावजूद गुलशन के पल–पल का ख्याल रखना शुरू कर दिया था। पढ़ाई कठिन थी। उसके खाने–पीने से लेकर नहाने–धोने तक हम हमेशा तत्पर रहने लगे थे, ये तौलिया ले लो, आज सर्दी है–कम नहाना, क्या खाओगे–तमाम, तमाम। उसकी तरफ से कोई फरमाइश नहीं होती, इसलिए माँ लगातार उसके लिए सरसों की कढ़ी बनाने लगी थी।

उन दिनों हमें ये बराबर महसूस होता रहा था कि गुलशन का बोलना–चालना एकदम न के बराबर रह गया है। बस, कभी–कभी माँ से बोल लिया। खेलकूद, कार, दोस्त सब छूट गए थे। पर गुलशन के पढ़ते रहने को लेकर हमारी खुशी इतनी ज्यादा थी कि हम कुछ और देखकर भी नहीं देख पा रहे थे। हमारे बाहर, हमारे बीच में, हमारे भीतर कुछ ऐसा था जो निरंतर अपनी गति से घट रहा था, बस हमें उसकी खबर नहीं थी।

अपने भीतर कुछ अनजाना और कुछ बेतरतीब घटने की जब मुझे पहली बार पुष्टि हुई, तब तक गुलशन को एक ही स्थान पर बैठकर पढ़ते हुए ढाई–तीन महीने बीत चुके थे। हम दोनों भाई–बहन की प्राइवेट स्कूलों में मास्टरी की तलाश जारी थी। लेकिन जिस दिन की यह बात है, उस दिन हम घर ही थे, मुझे याद है।

उस दिन शायद पिताजी छुट्टी पर थे, या ड्यूटी से आ चुके थे, यह तो याद नहीं,

पर बात यही हो रही थी कि कहीं से मोटा पैसा मिल जाता तो सीमा का इलाज जल्दी ही करा लिया जाता। हो सकता है उस वक्त सीमा को सिरदर्द से राहत रही होगी, तभी वो पिताजी की इस राय पर हल्के से मुस्कुराई थी कि–'कहीं से मोटा पैसा मिल जाता...।' सीमा को मुस्कुराते देख हमें बहुत खुशी हुई थी। वाकई बहुत।

बीमार बहन को और ज्यादा खुश करने के लिए मैं पिताजी की उस 'कहीं से पैसा मिल जाता' वाली ख्वाहिश से तमाम तरह के चुटकुले बनाने लगा था। मैं कह रहा था कि 'काश छप्पर फट जाए या फिर आँधी आए और कोई तिजोरी उड़ा लाए–किसी का पैसा भरा बैग मिल जाए...।' मेरी बातों और कहने के अंदाज के असर से माँ और सीमा जोर–जोर से हँस रही थीं और पिताजी सर झुकाए मुस्कुरा रहे थे।

अपने बेवकूफाना चुटकुलों पर जब कनखियों से मैंने पिताजी को सिर झुकाए मुस्कुराते हुए देखा तो मेरा उत्साह बढ़ गया था, चुटकुले कहने की मेरी गति भी दोगुनी हो चुकी थी। मैं अनाप–शनाप कैसा भी चुटकुला सुनाए जा रहा था। माँ और सीमा का हँसना भी तेज से और तेज होता गया था। पिताजी का मुस्कुराना भी।

मुझे याद है, उन लोगों के हँसने और मुस्कुराने से मैं हद से ज्यादा उत्तेजित हो गया था पर उसी उत्तेजना में मुझे अचानक ख्याल आया था कि अभी हँसते–हँसते बहन के सिर का दर्द बढ़ेगा ओर वह अपना सिर पकड़ लेगी। तब हम सब चुप और उदास हो जाते। इस ख्याल से डरकर मैं बहन की तरफ देखने लगा था पर भीतर की न जाने किस भावना से मैं प्रेरित हो गया था कि चाहकर भी अपनी बातें और चुटकुले कहना रोक नहीं पा रहा था कि तभी माँ ने हँसना बंद कर दिया था। उसने हमें भी इशारे से चुप हो जाने के लिए कहा था। फिर इशारे से ही माँ ने गुलशन की तरफ ध्यान दिलाया था–'वह पढ़ रहा है न!'

अब भी मुझे घनघोर आश्चर्य होता है।

उस दिन भी हम आश्चर्यचकित होकर रह गए थे कि यही चार–पाँच हाथ की दूरी पर बैठे गुलशन को हम आखिर भूल कैसे गए थे। कम–से–कम मुझे तो इसकी रत्ती भर भी ख्याल नहीं रहा था कि गुलशन उस कमरे में मौजूद है।

और फिर अपने भाई को ही भूल जाने की अनहोनी से भयभीत होकर जब मैंने घूमकर पीछे के दिनों में झाँका तो देखा कि हम बहुत पहले से ही गुलशन को भूलते जाने की प्रक्रिया में शामिल हो चुके थे।

पिछले दिनों मैं लौटते हुए जब मैं इस वर्ष, दशहरे के एक दिन पहले वाली रात

में झाँकता हूँ तो पाता हूँ कि माँ, मैं और पिताजी बिस्तर पर जा चुके हैं और बहन सोने से पहले बत्ती बुझाकर अपने बिस्तर पर चली आती है कि कुछ क्षणों बाद अचानक बत्ती जल उठती है।

बत्ती जलते ही हम सभी उठकर बैठ गए थे। अफसोस से घिरे हम लोग बस इतना ही कह पाए थे–'जरा भी ध्यान नहीं दिए, बाबू। गुलशन बिना कुछ कहे ही चुपचाप पढ़ने बैठ गया था।

बोलना-चालना तो गुलशन ने तभी से बंद कर दिया था जिस दिन से हमने उसे इंजीनियङ्करग कॉलेजों की प्रवेश परीक्षाओं की तैयारी में लगा दिया था। हो सकता है जरूरी क्रियाकलापों के अलावा बाकी समय सिर्फ पढ़ाई-लिखाई पर देने से उसे कुछ अन्य सोचने की फुसर्त भी नहीं रही होगी। या फिर बहुत संभव है यह भी हुआ हो कि हमारे सपने, हमारी उम्मीदें उसके कहीं गहरे जाकर धँस गई हों। उन दिनों गुलशन कुछ बोला भी होगा तो छठे-छमासे ही, वह भी सिर्फ माँ से ही बोला होगा।

हम, हम सभी, ठीक-ठाक यह निर्णय करने की स्थिति में कभी नहीं रहे कि यह भूलना, आखिरकार, किसकी तरफ से हो रहा था। गुलशन हमें भूल रहा था या हम गुलशन को भूल रहे थे।

खाने को ही लें, उन दिनों जब कभी माँ गुलशन से कुछ दुबारा परोसने के लिए पूछती तो वह या तो सिर नहीं डुलाता, या कभी 'हाँ' में डुलाता कभी 'नहीं' में डुलाता। पर इसका यह मतलब कतई नहीं होता था कि अगर वो 'हाँ' में सिर डुलाता तो उसे कुछ चाहिए-ही-चाहिए या फिर वो 'ना' में सिर डुलाता तो उसे कुछ भी नहीं चाहिए होता था। वह गायब भी नहीं होता था। दरअसल सिर नहीं डुलाते हुए, सिर 'हाँ' में डुलाते हुए, या सिर 'ना' में डुलाते हुए गुलशन माँ से नहीं, अपने भीतर के किसी प्रश्न से मुखातिब रहा करता होगा।

हम इस बात को बहुत बाद में समझे थे। माँ ने उस दिन छठ का परना (पूर्वाहुति) किया था और हमें खाने में सब्जी और प्रसाद का ठेकुआ मिला था माँ ने गुलशन से पूछा था–ठेकुआ और दें? गुलशन ने 'हाँ' में सिर हिलाया था। पर माँ के ठेकुआ परोसते ही गुलशन ने माँ की तरफ देखते हुए कहा था–'अरे!'

उसने हमारी तरफ देखना तो कब का बंद कर दिया था, हम सोचते थे ऐसा उसकी पढ़ाई की वजह से है। 'अरे' कहने के बाद, मुझे याद है, उसने सिर नीचे करके 'च्च' कहा था।

यह तो उसकी, हमें भूलते जाने की प्रक्रिया थी। पर हम भी तो उसे भूलते जा रहे थे! क्यों? मेरे पास कारण तो कई आये पर मैं स्वयं भी कभी नहीं समझ पाया-ऐसा क्यों हो रहा था? कैसे हो रहा था?

जैसे, कई शामें को ऐसा हुआ कि हम या तो छत पर चले जाते, बाँस की सीढ़ी से छत पर जाने में हमेशा फिसलने का डर बना रहता था, या कभी-कभार बाजार भी चले जाते। और घर में ताला लगा देते थे। वापस आकर बेतरह शर्मशार होते। गुलशन यहीं, इसी कमरे में पढ़ रहा होता था।

गुलशन को भूलते जाने की बीमारी अगर सिर्फ मुझे होती, तो मैं कभी यह सोचने की कोशिश भी नहीं करता कि ऐसा क्यों हो रहा है। पर मैं देख रहा था कि हम सभी गुलशन को भूलते जा रहे थे। और तो और माँ भी। हमारी तकलीफ यह थी कि ऐसा हमसे अनायास ही होता जा रहा था। हम चाहकर भी कुछ नहीं कर पा रहे थे।

ऐसा भी नहीं था कि हम हर वक्त गुलशन को भूले ही रहते थे। हमारी उम्मीदें उससे थीं। उससे भी बढ़कर माँ पिताजी का सबसे दुलारा था मेरा भाई। मेरा सूर्य। बहन की तो जान गुलशन में बसती थी। हम हर वक्त उसका ख्याल रखते पर न जाने किस वक्त उसे भूल जाते।

शुरू-शुरू में हम सबका गुलशन को भूलना अलग-अलग और कभी-कभी होता था। जैसे मैं गुलशन की उपस्थिति को भूलता तो कोई और उसकी याद दिला देता कि, वह देखो, वहाँ बैठा पढ़ रहा है। गुलशन इतना ज्यादा पढ़ता था कि, मुझे याद है, वह घंटे-दो घंटे के लिए आखिरी बार उस कोने से दीवाली के एक दिन पहले हटा था, जब घर के जाले साफ किए गए थे।

फिर भी गुलशन को भूलना खाने-पीने तक तथा सोते समय अक्सर ही बत्ती बुझा देने तक ही सीमित रहता तो गनीमत थी। पर अब हम उसे पहले की तरह दो-चार दस-पन्द्रह मिनट के लिए नहीं बल्कि कई-कई दिनों तक भूलने लगे थे।

पहली बार गुलशन को लंबे समय तक भूले रहने का अंदाजा हमें उसके नाम से आए प्रवेशपत्र से हुआ था। देश के प्रतिष्ठित इंजीनियङ्करग कॉलेज की प्रवेश परीक्षा के लिए यह प्रवेशपत्र आया था। प्रवेशपत्र देखकर हमें यह ख्याल आया और सबसे पहले यह ख्याल माँ को ही आया था। माँ ने कहा था, ''मैं भी सोच रही थी, उस दिन जनगणना वालों के सामने कौन-सा नाम छूट रहा था?''

माँ फिर भाई को बाँहों से लेकर बहुत देर तक रोती रही थी।

जिस दिन जनगणना करते वाले लोग हमारे घर आए तो सबसे पहले उन लोगों ने मकान नंबर पूछा था। घर के सदस्यों की बाबत घर के मुखिया के रूप में पिताजी का नाम, माँ का नाम, मेरा नाम तथा छोटी बहन का नाम बताया गया था। साथ में उम्र भी लिखवाई गई थी।

एक हाथ में प्रवेशपत्र थामे, दूसरे हाथ से गुलशन को अपने अँकवार में भरे, माँ का रोना रुक ही नहीं रहा था। चुप लगाती थीं कि तुरन्त ही रोने लगती थीं। और अहक–अहककर रोती रही थीं।

पिताजी भी बहुत देर तक छत की तरफ देखते हुए न मालूम क्या सोचते रहे थे। फिर कुछ देर तक 'हाँ' में सिर डुलाते थे। गुलशन के पास जाकर उसके बालों में उँगलियों फिराने लगे थे, माँ से कहा था–इसके सिर में रोज तेज डाल दिया करो, इतनी कम रोशनी यहाँ पहुँचती है–यह भी कहा था कि–अगले महीने, न हो तो, एक बल्ब इधर भी लगवा देंगे। बल्ब, होल्डर और तार लेकर कितना खर्चा आएगा–पिता ने मुझे पता करने के लिए कहा था।

इस घटना से हम बुरी तरह डर गए थे।

'ऐसा क्यों हो रहा था'–के कारणों का हम ठीक–ठीक कभी पता नहीं लगा पाए। अब तो हम सबने तमाम कारण इकट्ठे कर लिए हैं और जब जैसा मौका आता है हम उस हिसाब से उन कारणों में से किसी एक को अपने मन से बाहर लाकर उन पर सोचने लगते हैं। उस वक्त बाकी बचे कारणों को हम अपने भीतर ही कहीं दबाए रखते हैं।

गुलशन को भूलते जाने का जो सर्वाधिक तसल्ली देने वाला कारण था वह यह कि घर के जिस कोने में उसने खुद को अपनी किताबों समेत जमा रखा था वह घर का सबसे अँधियारा कोना था। दूसरे कोने को घेरकर रसोईघर बनाया गया था और कमरे का बल्ब भी उसी कोने में था। तीसरे और चौथे कोने में दो दरवाजे थे–एक बाथरूम की तरफ तो दूसरा बाहर की तरफ खुलता था। इस तरह गुलशन सर्वाधिक अँधेरे में था।

दूसरा कारण यह कि हम उसे इसलिए भूलने लगे थे क्योंकि उसने बोलना चालना और कोई हस्तक्षेप करना बिल्कुल ही छोड़ दिया था।

या इसलिए कि हम निश्चिन्त थे कि वह जो कुछ कर रहा था, हमारे मन की कर रहा था।

या फिर हम अपने–अपने काम करने में तो व्यस्त रहते ही थे, उसके इतर भी हम हमेशा कुछ ज्यादा करने की सोचते थे–पिताजी सिनेमा की टिकटें ब्लैक करने की सोचते रहते थे, माँ बर्तन–पोंछा के लिए दूसरे घर तलाशती रहती थीं और मैं और सीमा नींद में तनख्वाह पा रहे थे।

हम हद से ज्यादा व्यस्त थे।

या फिर मुझे लगता है कि हमें ही 'कुछ हो गया' था। हम किसी अनवरत शोर के शिकार हो गए थे, जो हमें अतिरिक्त कुछ भी सुनने नहीं देता था। ठीक इसी तरह दृश्यों का भी घमासान हमारे भीतर मचा होता था।

इस 'कुछ हो जाने' को पहली बार मैंने कक्षा तीन में जाना था। आठ–नौ साल का रहा होऊँगा। शनिवार के दिन विद्यालय के सभी लड़के–लड़कियाँ बीस कतारों में खड़े होकर सामूहिक पी.टी. (शारीरिक शिक्षा) का अभ्यास करते थे। उस दिन भी पी.टी वाले आचार्य जी ने कहा था–एऽऽक–और सबके साथ मैंने भी अपने हाथ डैने की तरह फैला दिए थे, कहा दोऽऽ– सबने हाथ ऊपर करके ताली बजाई, कहा–तीऽऽन...

मेरे पास तीन कहने की बस धुन ही पहुँच पाई थी–ई ई न की तरह। चाऽऽर कहने की भी बस धुन ही आई थी। तीन और चार सुनने के बजाय मैं शायद बादलों में प्रतिभा को देखने लगा था जिससे मैं उतनी छोटी उम्र में ही बहुत प्यार करता था और वह उस दिन विद्यालय नहीं आई थी, या फिर अगले महीने मिलने वाली छात्रवृत्ति के बारे में सोचने लगा था–और कुछ ही पलों बाद मैं जमीन पर छितराया हुआ मिला।

मेरे हाथ दोऽऽ की आवाज के अनुसार ऊपर ही टँगे रह गए थे जबकि बाकी सभी लड़के–लड़कियों ने तीन–चार के बाद अपना हाथ 'विश्राम' में कर लिया था। मेरा ध्यान पी.टी. वाले आचार्य जी के झापड़ से लौटा था, जो मेरी बेख्याली में मुझे धराशायी कर गया था, होठ कट गए थे, मुँह में बलुई मिट्टी भर गई थी। अब भी कभी–कभी मेरा मुँह बालू–बालू हो जाता है। थू, थू, आथू, च्च, ओह आथू। बाद में पी.टी. वाले आचार्य जी ने मुझे बताया कि लग रहा था, तुम कहीं खो गए थे। लग रहा था मेरे भीतर कोई भूलभुलैया थी।

फिर तो बचपन से ही लगता रहा है कि मैं हरदम ही खोया–खोया रहता हूँ। इस बात की तरफ मैंने गौर करना शुरू किया तो देखा कि जो जितना मेरे जैसा है उतना ही खोया रहता है। और, सोचिए, ऐसा तब है जब मैं पागल भी नहीं हूँ।

धीरे-धीरे ही सही पर मैं अपने आपको यह समझाता रहा हूँ कि यह खोया रहना ओर कुछ नहीं एक अनवरत संवाद है। मेरे भीतर बैठा कोई है जो मेरी नाकामियों पर चीखता है, बिलखता है, मैं उसे अपने सपनों का उल्लास सुनाता हूँ। वह, भीतरवाला, मेरी कमियों पर चिल्लाता है मुझे डाँटता है, मेरी बर्बादियों पर रोता है, मैं उसे कुछ कर दिखाने की बेचैनी में शामिल करता हूँ। पहले, बहुत पहले, एक बड़ी दूर से आती पुकार भी थी, शायद प्रतिभा की, आठ-नौ साल की प्रतिभा। अब उस पुकार की जगह बेरोजगारी के नगाड़े बजते हैं। घम-घम-घम। घम-घम। घम।

मैं हमेशा बुदबुदाता रहता हूँ–ये तो खैर, दूसरों का मानना है।

इतना ही नहीं, अब तो मेरे भीतर अदृश्य दृश्यों का भीषण घमासान भी है, जो मुझे बाहर कुछ भी देखने नहीं देता।

मुझे याद है, उस दिन मैं पढ़ाने जा रहा था, साइकिल पर आगे शालू बैठी थी, कि मुझे सड़क से सटी वह दीवार दिखी थी, मुझे ये भी लगा था कि मैं दीवार में जाकर लड़ जाऊँगा। फिर अचानक कुछ पलों के भीतर ही वह दीवार मेरे जेहन से गायब हो गई और मैं तुरंत ही दीवार में लड़ गया था। शालू को बहुत चोट आई थी।

सामने से कोई गाड़ी गुजर जाए तो मुझे यही लगता है कि धूप के रंग पर कोई काली परछाईं गुजरी होगी। अगर गुजरी होगी, तो।

आलम यह है कि बियाबान में भी आपसे बातें करूँ तो भी भीतर की सतत चीख कुछ भी सुनने नहीं देती, तथा आपकी बातें सुनने के लिए मुझे आपकी तरफ झुकना पड़ेगा, 'क्या कहा?' वाले अंदाज में अपने कानों के पास हाथ लगाना पड़ेगा।

रही बात देखने-पहचानने की, तो औरों को छोड़ दीजिए, अपनी बिटिया रानी शालू को भी मैं नीले-उजले फूलवाले हल्के पीले रंग के फ्राक और छोटी-छोटी चोटियों से ही अंदेशा लगता हूँ कि यह बच्ची शालू ही होनी चाहिए।

जनगणना वाले हादसे के बाद बहुत दिनों तक हम परेशान और गुमसुम रहे थे। खुद से ग्लानि होती रही थी और दूसरों से आँख मिलाने में भी शरमाने लगे थे। इस घटना से हदस कर हम सबने फिर से गुलशन पर पल-पल नजर रखना शुरू कर दिया था।

तब तक गुलशन एक परीक्षा दे चुका था और शायद उसे अपने पिछड़ने का एहसास हुआ होगा क्योंकि उन्हीं दिनों माँ ने बताया था कि गुलशन किसी कोचिंग का नाम ले रहा है। जब हमने कोचिंग संस्थानों में फीस के मालूमात किए तो फीस इतनी

ज्यादा थी कि हमें भाई को यह समझाना पड़ा 'कोचिंग वोचिंग तो इस दौर के झमेले हैं, क्या आज से पहले सफल लोग नहीं हुए, तुम, बस पढ़ते जाओ।'

हमने देखा कि गुलशन न जाने क्यों दीवार की तरफ मुँह करके पढ़ाई करने लगा था। मैंने माँ को समझाया था कि दीवार की तरफ मुँह करके पढ़ाई करने से हो सकता है, याद करने में सुविधा होती होगी और इसमें ऐसी कोई बात नहीं थी कि गुलशन नाराज होकर हमसे बदला लेने की कोशिश कर रहा था।

तो भी भाई की पढ़ाई-लिखाई में कोई कमी नहीं थी। एक इंजीनियङ्करग कॉलेज में नहीं तो दूसरे में उसका प्रवेश हो ही जाना था। हम हर पल उसका ख्याल रखने लगे थे। बहन की नौकरी की तलाश अभी जारी थी। मेरे ट्यूशन चल रहे थे। पिताजी भी अच्छी-खासी संख्या में टिकटें ब्लैक कर रहे थे। माँ बर्तन-पोंछे के लिए दो अन्य घरों में जाने लगी थी। मुझे इसी बात का डर था कि हमारे दिन अच्छे गुजरने लगे थे।

आप बड़े लोग हैं, इस बात को ऐसे समझिए-मान लीजिए आपके शहर में बिजली कटौती का समय आठ से बारह है। ऐसे में अगर किसी दिन बिजली निर्धारित समय पर नहीं कटती है तो आपके शहर में जो मेरे जैसे लोग होंगे, वे इस बात से डरेंगे कि अब अगर बिजली गई तो लंबे समय के लिए जाएगी। समझे। मैं आशंकित रहता था हमेशा।

यही वे दिन थे जब अक्षयवर चाचा के रिक्शे के टायर बोल जाने की घटना घटी थी। उन दिनों शहर में चारों तरफ और देश भर में आतंकवाद और आतंकवादियों की चर्चा सूचनातंत्र पर छाई रहने लगी थी। शुरुआत में तो हमने आतंकवाद का हँसी-मजाक बनाया क्योंकि हमारे मुहल्ले में किसी ने कभी आतंकवादी नहीं देखा था। पर धीरे-धीरे यह सब कुछ खौफ में बदलने लगा था। अगर एक पहर सरकारी पानी नहीं आता तो हमें यही लगता था कि कल का अखबार पानी की टंकी उड़ाए जाने की खबर छापेगा। कुछ ही दिनों पहले घटी अक्षयवर चाचा के निक्शे वाली घटना में पुलिस के हस्तक्षेप ने हमारे डर को बढ़ा दिया था।

दूसरे इस शहर का जो थोड़ा-बहुत ऐतिहासिक महत्त्व था, मंदिरों-वंदिरों के कारण, एक खास तबके के लिए तो इन्हीं कारणों से इस शहर का बहुत महत्त्व था, तो उस ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए सरकार ने अपने सबसे दबंग पुलिस अधिकारी को इस शहर का नया एस.पी. नियुक्त किया था।

शहर के नए एस.पी. ने अपना कार्यालय सँभालते ही अपराध और आतंकवाद

पर काबू पाने के लिए कुछ नए और बेढंगे नियमों का ऐलान किया था–तीन और तीन से ज्यादा लोग एक साथ न खड़े हों–हरेक पुलिसकर्मी को रोजाना कम-स-कम एक अपराधी पकड़ कर देना है–प्रत्येक प्रतिष्ठित एवं बड़ी दुकानों तथा निजी संस्थानों को प्रशिक्षित गार्ड रखने हैं, जो हथियारों से लैस हों।

इन नियमों से हमारा कुछ भी लेना-देना नहीं था तो भी हम बेहद डर गए थे। पुलिस से तो हम गली के लोग ऐसे ही थरथराते थे, अब ये नए नियम भी थे।

पुलिस शब्द सुनते ही मुझे तरंगों जैसी खूब ऊँची और खूब नीची ढलानों वाली, मिट्टी की सड़क याद आ जाती है। एक बच्चा अकेले विद्यालय जा रहा है। आसपास दूर-दूर तक कोई नहीं दिख रहा है, बहुत दूर दो यूक्लिप्टस के पेड़ हैं। बिल्कुल निराँव। लड़का अभी सड़क की ढलानों में पहुँचा ही है कि पीछे से उसे पुलिस के दो लोग, साइकिल से ढलान उतरते दिखते हैं।

मेरा गला रुँध गया था। मैंने नहीं रोने के लिए होठ भींच लिए थे, फिर भी आँखों में पानी भर गया था। पुलिस के लोग नजदीक आ रहे थे। मैं जहाँ था, वहीं खड़ा हो गया था और दूसरी तरफ देखने लगा था। जैसे ही पुलिस के लोग मेरे करीब से गुजरे, मैंने उन्हें हाथ जोड़कर नमस्ते कहा था। वे बस मुस्कुराए थे और एक-दूसरे से बात करते हुए चले गए थे।

कुछ ही दिनों बाद, मुझे याद है, एक दिन पिताजी देर तक सोते रहे थे और उस दिन सीमा को अपने पैरों पर चढ़ाए हुए थे। माँ को भी आश्चर्य हुआ था, 'आज ये सिनेमा हाल क्यों नहीं जा रहे हैं?' पिताजी दिन भर सोते रहे थे, शाम को बताया था, अब 'बहादुर सेक्योरिटी फोर्स' के प्रशिक्षित गार्ड सरस्वती सिनेमा की दरबानी सँभालेंगे।

वह कोई मुख्यमंत्री का करीबी था जो 'बहादुर सेक्योरिटी फोर्स' का मालिक था। वह अपनी निजी फोर्स में उन लोगों को भर्ती करता था जो गाँव-देहात के थे और सिपाही, मिलिट्री की परीक्षाओं में असफल हो गए होते थे। उसी ने ऊपर से एस.पी. पर दबाव बनवाया था। इसी अतंकवाद के बहाने वह सभी दुकानों पर अपने सिक्योरिटी गार्ड्स रखना चाहता था।

उन दिनों पिताजी की दरबानी छूट जाने के बाद मुझे इस बात पर आश्चर्य हुआ था कि क्या मैं ज्योतिषी हूँ। 'कुछ बुरा ही होगा' वाली मेरी आशंका हमेशा ही सच हो जाया करती थी। तो भी पिताजी की दरबानी छूटने का हमने ज्यादा शोक नहीं मनाया क्योंकि शोक मनाने के लिए दोनों ही जरूरी चीजें हमारे पास नहीं थीं–पैसा और

समय। अपनी नौकरी छूटने के बाबत पिताजी ने हमें यही समझाया–जान लो, कि अगर तकलीफों की कोई सीमा होती होगी तो उस सीमा के आखिरी छोर पर हम पहुँच चुके हैं, और यहाँ से हमारबे बढ़िया दिन शुरू होंगे।

काम छूटने के दो-तीन दिन बाद से ही पिताजी मंडुआडीह वाली गुलाममंडी में जाने लगे थे। शहर के दूर-दराज क्षेत्रों एवं गाँवों से रोज यहाँ सैकड़ों लोग जमा होते थे। यहाँ काम मिल जाने पर एक दिन के पचास रुपए तो मिलते ही थे। काम भ दिहाड़ी की तरह का होता था। यहाँ दिक्कत यह थी कि रोज काम नहीं मिलता था, जबकि मेरे पिताजी अपने और मेरे सारे कपड़े पहनकर जाते थे ताकि वे खूब मोटे दिखें और तुरंत कोई उन्हें अपने काम के लिए 'पकड़' कर लिवा ले जाए।

मुझे याद है, एक बार उन गर्मियों में इतने कपड़े पहनकर गुलाममंडी जाने के बावजूद एक हफ्ते तक कोई काम नहीं मिला था तो पिताजी ने, औरों की तरह, उस दलाल से बात की थी जो एक दिन के अंतराल पर काम दिलाता था और एवज में बीस रुपए लेता था।

पिताजी के पैरों की तकलीफ और काम करने की जद्दोजहद को देखकर मैं सोचता था कि मैं भी तो पिताजी के साथ गुलाममंडी जा सकता हूँ पर मैं इतना नीच था कि मुझे शर्म आती थी और मेरे ट्यूशन भी चल ही रहे थे। पिताजी की तकलीफ देखकर मैं जितना ही उन नौकरियों के बारे सोचता जिनके लिए मैंने आवेदन कर रखा था, उतना ही मैं अपने आप को रेलगाड़ी के आगे गैस बत्ती लेकर दौड़ते हुए पाता। रेलगाड़ी के आगे दौड़ता हुआ 'मैं' जब नौकरियों के बारे में सोचते हुए 'मैं' को देखकर मुस्कुराता था तो पूरी गैस बत्ती हिलने लगती थी। दौड़ते हुए मेरी काली पैंट चमकती रहती थी।

हम सबकी चिंता पिताजी के काम मिलने को लेकर तो बहुत थी पर हमें इस बात का बेहद डर भी सुबह से शाम तक बना रहता था कि गुलाममंडी में भीड़ होती थी। पूरा मुहल्ला उन दिनों भीड़ में फँसने से डरता रहा था।

हमारा डर शहर में लगे उस नए कानून से उपजा था, कि तीन से ज्यादा लोग एक साथ नहीं खड़े हो सकते हैं। एक तो शहर की निगाह में हमारा दर्जा भी ऊँचा नहीं था और दूसरे गुलाममंडी की भीड़। हम सभी अपने काम-धाम करते रहते थे और साथ में पिताजी तथा आतंकवाद का ख्याल भी दिनों-रात मन में रहने लगा। हम हरेक शाम पिताजी को घर लौटा देखकर ही आतंकवाद के ख्याल को कुछ देर के लिए अपने मन से टाल पाते थे।

हमारे मुहल्ले तथा विशेषकर, हमारी गली के लोगों की धर-पकड़ बढ़ गई थी। इससे डर कई गुना बढ़ जाया करता था।

एक दिन जब पिताजी के आने में बहुत देर हो गई थी तो मुहल्ले के लोगों ने समझाया था कि 'डरने की कोई बात नहीं है, हम लोग हैं, न, बस एक बार जाकर मंडुआडीह थाने में देख लो।'

मुझे याद है पिताजी रथयात्रा चौमुहानी पर एक मूँगफली वाले की टोकरी में से मूँगफली निकाल कर खाते हुए मिल गए थे। नजदीक से देखा तो थोड़ा आश्चर्य हुआ था कि वह सुमेर चाचा थे। पिताजी के साथ ही सिनेमाहाल की नौकरी से निकाले गए थे, फिर यह मूँगफली का काम शुरू किया था। मेरे साथ जो गली के लोग थे उन्होंने पिताजी को भला-बुरा कहा था और समय पर घर आने की हिदायत दी थी।

पिताजी और आतंकवाद से जुड़ा डर हमारे मन में उन दिनों भी रहने लगा था जिस दिन पिताजी काम पर नहीं जाते थे या काम नहीं मिला होता था। उन दिनों यह डर एक आदत की तरह हममें बस चुका था।

मुझे याद है, उस दिन भी पिताजी घर पर ही थे और मई आखिर की डरावनी दोपहर थी। उस दिन की गर्मी तो आज तक जस की तस याद है। बहुत लू चल रही थी। लू इतनी सूखी और तेज थी कि उस दिन दोपहर में मैं जब सोकर उठा था तो मुझे साँस लेने में परेशानी हो रही थी। बाकी लोग भी ऊँघ रहे थे।

साँस लेने वाली परेशानी से बचने के लिए मैं घड़े से पानी निकाल रहा था कि लगा था, पीछे से परछाईं गुजरी है। मैंने सबकी तरफ देखा था और परछाईं गुजरने की सोचकर बुरी तरह डर गया था। मेरे पीछे मुड़कर देखने से पहले ही बाथरूम का दरवाजा बंद हो गया था। किसी अजनबी की बाबत सोचते ही मैं चीखने लगा था, मुझे याद है। किसी अनिष्ट की आशंका से जकड़कर पिताजी ने बाथरूम का दरवाजा बाहर से बंद कर दिया था।

मुझे याद है घर में सब झटके में जगे थे। माँ और बहन झटके में जगी थीं। पिताजी ने बाथरूम के दरवाजे को धक्का दिया था और उसे भीतर से बंद पाकर वहाँ से भागे थे। मुझे पूरी तरह याद है, पिताजी को मैंने उतना बदहवास कभी नहीं देखा था। पिताजी चीख रहे थे। दूर हटो, दूर हटो वहाँ से, बम रखा होगा। बीच-बीच में पड़ोसियों को पुकारते रहे थे। हम सभी एक-दूसरे को पकड़े हुए, रो रहे थे, चीख रहे थे। किसी अनिष्ट की आशंका से जकड़कर पिताजी ने बाथरूम का दरवाजा बाहर से

बंद कर दिया था।

दो मिनट भी नहीं लगे होंगे, बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी और उस भीड़ ने हमारे बाथरूम को घेर लिया था। उन सबों पर पिताजी के 'दूर हटो' और 'बम रखा होगा' का कोई असर नहीं हुआ था। भीड़ आतंकवाद के खिलाफ नारे लगा रही थी। थोड़ी देर में आतंकवाद के खिलाफ लगते नारे 'पाकिस्तान हाय हाय' में बदल गए थे।

उस में सौ-सवा सौ लोग रहे होंगे। हम धक्कामुक्की में घर से बाहर कर दिए गए थे। नारों के शोर से पूरा मुहल्ला गूँजने लगा था। लोग दरवाजा पीट रहे थे। वह चीख अब भी सुनाई देती है। मेरा घर ठसाठस भर चुका था।

भीड़ कुछ कर पाती इससे पहले सीढ़ी चढ़ते पुलिस के लोग हमें दिखे थे। ये यहीं चौराहे पर वसूली के लिए तैनात किए जाते थे। पुलिस के लोगों को देखते ही हम परेशान हो गए, मुझे वह बच्चा याद आ गया था, मिट्टी की सड़क की ढलानों में पुलिस के लोगों को नमस्कार करता हुआ। मुझे पूरी तरह याद है और हमेशा याद रहेगा कि पुलिस के लोगों को देखते ही हम सबको-पिताजी, माँ, मैं, बहन को गुलशन की याद आई थी। फिर तो हम सब चौंक पड़े थे।

मैं किसी तरह जगह बनाकर भीतर गया तो सचमुच गुलशन जगह पर नहीं था, उसकी जगह को तमाम अन्य लोगों ने कब्जे में ले लिया था, उसकी किताबों पर लोग चढ़े हुए थे और रह-रहकर बीच-बीच में नारे लगा रहे थे।

और फिर तो हम बर्बाद हो गए।

तो, बाथरूम में गुलशन था। एक बार फिर हम अपनी नामालूम तकलीफों, बेतरतीब-सी खोये रहने की बीमारी में पड़कर गुलशन को भूल चुके थे। मुझे माँ को कुछ भी बताना नहीं पड़ा था। वह थसककर जमीन पर बैठ चुकी थी। पिताजी ने सिर पर हाथ लगा लिया था। और बहन, उसकी तो अब बस इतनी ही याद बाकी है कि वह कभी माँ को कभी पिताजी को देखती रही थी।

मैं अपने आप से इतना अपमानित हुआ था कि गुस्से में आ गया। भीड़ को ठेलता-ठालता, कूदता-फाँदता बाथरूम के पास किसी तरह पहुँचा था। मैंने लोगों से अपने-अपने काम पर चले जाने को कहा था, बताया था कि अंदर कोई आतंकी-वातंकी नहीं मेरा भाई गुलशन है, चूँकि हम तुरंत सोकर उठे थे, इसलिए गुलशन का ख्याल ही ध्यान से उतर गया था।

इसके बाद तो जो कुछ हुआ उसके लिए मैं अपने उस हिस्से को कभी माफ नहीं

कर पाया, जो हिस्सा दिन-रात नौकरियों की बात सोचा करता था, भाई से भी पैसे-पैसे की सोच रखता था, असफलता को सफलता में बदलने की बात सोचता रहता था, प्रेम की बाबत सोचता रहता था। वह मेरा नाकारा हिस्सा था। पता नहीं माँ और पिताजी ने अपने आप को कौन-सी सजा दी होगी? बहन तो, खैर अब रही नहीं। उसे सिरदर्द होता था, जब थी।

मेरे यह बता देने पर कि अंदर बाथरूम में मेरा भाई है, उस भीड़ का एक हिस्सा तो मेरे पक्ष में आया था, पर एक बड़ा हिस्सा न जाने कैसे यह मान बैठा कि जो भीतर था वह आतंकवादी ही था, भले ही वह गुलशन ही क्यों न हो।

भीड़ के उस हिस्से ने मुझे दीवार में दबा दिया था। यहाँ से झिलमिलाहटों में दिखती मेरी माँ को न जाने क्या हो चुका था। लोग चीख रहे थे।

खिलाफ भीड़ का वह हिस्सा जो मानता था कि मेरा भाई बहुत खूबसूरत है, उसके लोग बाथरूम की छत तथा रोशनदान पर चढ़ गए थे। बाथरूम के तमाम छोटे-मोटे छेदों को इस भीड़ ने मूँद दिया था। भीड़ के इस हिस्से को लग रहा था कि मेरा भाई इतना खूबसूरत था कि जरूर ही उसे बचाने के लिए सभी देवता अपने रथों पर चले आ रहे होंगे। बाथरूम की छत पर, रोशनदान पर चढ़कर ये लोग देवताओं से युद्ध की तैयारी कर रहे थे।

भीड़ के जिस हिस्से को लगा था कि सभी आतंकवादी संगठन मेरे भाई को बचाने आने वाले थे, उन लोगों ने लाठी-डंडे से लैस होकर पूरे मुहल्ले को घेर लिया था। इन लोगों के समूचे शहर में फैल जाने की उम्मीद थी।

पर पुलिस के लोगों के बाथरूम के पास पहुँचते ही ये लोग ठंडे पड़ने लगे थे। पुलिस के लोगों ने हमें बहुत गालियाँ दी थीं। मेरी माँ और पिताजी को सबसे अधिक गाली-अपने बेटे को भूल जाते हो, साले। घर में आतंकवादी पालते हो और पकड़ में आने पर बेटा बना लेते हो- जबकि कसम से, मैं बता दूँ, मेरा भाई आतंकवादी नहीं था। हम सभी, पुलिस के लोगों के सामने गिड़गिड़ाने लगे थे, वे लोग भी, जो थोड़ी देर के लिए खिलाफ हुए थे।

बहुत देर तक बिलखने-रोने के बाद भी पुलिस के लोगों ने मेरे भाई को नहीं छोड़ा। मुझे याद है, बाथरूम से मेरे भाई को उन लोगों ने खींचकर निकाला था। उस समय गुलशन हम सबको देखता रह गया था। पुलिस के लोग जाते-जाते यह जरूर बता गए थे कि उनके साथ भी रोज एक अपराधी पकड़ने वाली मजबूरी थी।

उस दिन जब मैं माँ को देखता था तभी मुझे विश्वास हो पाता था कि मेरा भाई आतंकवादी नहीं था। वरना दिन भर और घड़ी भर रात तक मुहल्ले के जितने भी लोग आए थे, वे लोग इतने आश्वस्त थे कि औपचारिकताओं के बाद ऐसे ही सवाल पूछते रहे थे-किस संगठन से जुड़ा था-हिन्दू होकर ऐसा काम...थोड़ा गलत लगता है-या फिर, देख लीजिए घर में कहीं हथियार तो नहीं छुपा रखा है।

कई लोगों ने यह भी बताया कि अगले दिन यह खबर अखबार के किस पन्ने पर आएगी। अगर कुछ और भी घटता है तो पहले पन्ने पर आ जाएगी। लोग यह भी बता रहे थे कि टी.वी. के किस-किस चैनल पर यह खबर प्रसारित हो रही थी। मैं इस कदर बदहवास हो चुका था कि मुझे अगले दिन का अखबार दिखने लगा था, जिसमें चौथे पन्ने पर धाँय लिखा था। या बहुत हुआ तो 'धाँय, धाँय।' पिताजी और बहन भी अखबार का वही पन्ना पढ़ रहे थे।

पर माँ की बात दूसरी थी। उसने इतना ही किया था कि आस नहीं छोड़ी थी। शुरुआत में जो भी आया था उसके सामने माँ दहाड़ मारकर रोने लगी थी, रोना उसे उम्मीद की किसी सूरत की तरह लगा होगा। पर इनमें से कुछ ने सान्त्वना दी थी-इन लोगों का कहना था कि बेटा था तो रोने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन इतना नहीं रोना चाहिए, हम तो भारत माता के लिए अपने सभी बेटों की बलि चढ़ा दें, देशभक्त होता तो रोने के कोई मायने भी होते, आतंकवादी-फातंकवादी, चोर-चिकार के लिए इतना रोना, सँभालिए अपने आपको।

माँ को कैसा लगा होगा?

माँ ने अपने बेटे के लिए चोर-चिकार का शब्द सुना और रोना बंद कर दिया था। उसके बाद तो घर में कोई भी आया, माँ उससे मिलने नहीं आई। कोई दिख गया तो मुस्कुरा कर इधर-उधर हो जाती थी। मुझे याद है, लगातार सात आठ घंटों तक माँ या तो बाथरूम जाती रही थी या उल्टी तरफ घूमकर खाना बनाने वाली जगह पर पोंछा लगाती रही थी।

उस दिन जितनी बार माँ बाथरूम गई थी, आधे घंटे से अधिक रही थी, मुझे याद है, बाथरूम से आते ही घर का वह रसोई वाला हिस्सा पोंछने लगती थी। एक बर्तन को हटाती थी, उसके नीचे की जमीन पोंछ कर बर्तन रख देती थी, फिर तुरन्त ही वही बर्तन उठा लेती थी, फिर दुबारा पोंछती थीं।

घर में बाहरी लोग लगातार आते रहे थे पर मेरा ध्यान माँ की तरफ वास्तव में तब

गया था जब मैंने देखा कि माँ ने बर्तन को हवा में उठा रखा था, पोंछा जमीन पर पड़ा हुआ था और एक हाथ से साड़ी के किनारे में अपने चेहरे को थामे सिर को घुटने पर टिकाए थी। मुझे याद है, पिताजी और बहन भी माँ को देख रहे थे।

तब मुझे लगा था कि माँ रो रही थी। अपने ही घर में, अपने ही बेटे के लिए माँ छुप-छुप कर रो रही थी। उसे खुलकर रोने भी नहीं दिया जा रहा था। वह बाथरूम जा रही थी और उल्टी तरफ घूमकर पोंछा लगा रही थी तो सिर्फ इसलिए कि उसे रोने की जगह चाहिए थी। वह भी सात-आठ घंटे से लगातार। यह सोचकर तो मुझे न जाने क्या हो गया था कि क्या माँ ने यह मान लिया था कि चोर की माँ को छुपछुपकर ही रोना चाहिए-फिर तो मैंने घर में घुस आए लोगों को अप्रत्यक्ष गालियाँ देकर भगा दिया था।

अब भी मुझे नहीं लगता कि अगर माँ की हालत बिगड़ी नहीं होती तो हम कुछ भी कर पाए होते। उस छुपकर रोने के दरमियान मैंने माँ का चेहरा सिर्फ एक बार देखा था और बेचैन हो गया था। उसी बेचैनी में मैंने पिताजी से कहा था कि वह एक बार सिनेमा हाल वाले मालिक से मिलें और न हो तो उन्हें लेकर भेलपुर थाने पर चलें। मैं भी उन कुछ परिवारों के लोगों को साथ लाने चला गया, जहाँ मैं ट्यूशन पढ़ाता था। एक ने तो किसी बड़ी हस्ती से फोन करवाने की भी बात कही थी।

आठ-नौ बजे ही हम थाने पहुँच गए थे, पर हमें साढ़े ग्यारह बजे रात तक थाना इन्चार्ज का इंतजार करना पड़ा था। माँ वहाँ पहले से मौजूद थी और उसके साथ एक महिला भी थी। वह राय साहब की औरत थी और माँ उनके घर बर्तन-पोंछे के लिए जाती थी। राय साहब बहुत बड़े नेता थे और उनकी औरत जरूर माँ का रोना देखकर ही थाने पर आने के लिए तैयार हुई होगी।

मुझे याद है, दो गुणे दो फीट के बंदीगृह में मेरा भाई बंद था। थाना इंचार्ज के आने तक माँ उस बंदीगृही के बाहर बैठी रही थी और गुलशन का हाथ अपने हाथ में लिए रही थी। रोती भी रही होगी।

थाना इंचार्ज ने राय साहब की औरत को देखते ही 'आप' कहा था। वह नहीं आई होती तो भी हो सकता था कि मेरा भाई छोड़ दिया जाता। और भी बहुत लोग आए थे। हमारे मुहल्ले के ही कई लोग थे। पर अगर वह नहीं आई होती तो हमें यह कभी नहीं पता चल पाता कि गुलशन गुलफाम हो चुका था और मंदिर हमले का मुख्य अभियुक्त 'होने' वाला था।

हमारे लिए यह आश्चर्य से कम नहीं था कि भाई को हमने छुड़ा लिया। राय

साहब की औरत इंचार्ज को 'तुम-तुम' कहती रही थी। उन्होंने जब अपने राय साहब से थाना इंचार्ज की बात कराई थी तो थाना इंचार्ज डर गए थे। 'इसमें फोन करने की क्या जरूरत है' कहते रहे थे। जब हम आने लगे थे तो थाना इंचार्ज ने अपनी जेब से (बताया था) कुछ पैसे भी दिए थे, यह कहते हुए कि इसके सिर में चोट आ गई है, साला कुछ बोल नहीं रहा था, नाम तक तो बड़ी मुश्किल से बताया। भाई के सिर का पिछला हिस्सा, थोड़ा, कट गया था। थोड़ा। 'थोड़ा' सबने कहा था। मेरा भाई चल नहीं पा रहा था और न जाने कब तक कराहता रहा था।

मुझे भूलने की बीमारी जरूर है पर मैं वह सब नहीं भूलता हूँ, जिसे सचमुच में भूल जाना चाहता हूँ। जैसे ये घटनाएँ। मेरे जेहन में ये सब इतना क्रमवार घटता है कि इन्हें एक पल के लिए बुरा सपना भी नहीं मान पाता हूँ। इतनी राहत जरूर है कभी-कभार मुझे ये सारी घटनाएँ अविश्वसनीय लगने लगती हैं।

अविश्वसनीय लगने में होता यह है कि जैसे ये सब हमारे साथ नहीं हुआ। जैसे गुलशन तो सही-सलामत है। ये सारा कुछ किसी दूसरे परिवार में घटा और हमने इसे बस देखा था। कभी-कभी तो ये सब इतना झूठा जान पड़ता है कि लगता है, हमने इसे कहीं से सुन लिया होगा। वरना आपके पास लाख तकलीफें हों, सपने हों, उम्मीदें हों, चाहे खुद में कितना भी न खोए रहते हों, यह तो मुश्किल ही है कि कोई अपने भाई को भूल जाएगा, कोई अपने बेटे को भूल जाएगा। पर ये अच्छे ख्याल कभी-कभी आते हैं। जबकि सच्ची बातें हमें हमेशा मथती रहती हैं।

इन घटनाओं के ख्याल से भी अब मुझे इतना डर लगने लगा है कि इनकी याद आते ही मैं सचेत रूप से सोचने लगता हूँ-यह जो 'मैं' था, वह मैं नहीं हूँ। यह जो गुलशन है, कोई और गुलशन था, मेरा भाई गुलशन नहीं। माँ भी कोई दूसरी, पिताजी भी दूसरे। और हाँ याद आया, मैंने उसके बारे में अब तक आपको कुछ बताया ही नहीं कि जो 'बहन' थी, कोई थी जिसे सिरदर्द होता था और सिरदर्द से लड़ते हुए अपना सिर प्लास्टिक की रस्सी से बाँधे रहती थी।

पिताजी तो वाकई उसी दिन से बिल्कुल दूसरे हो गए थे जिस दिन हम भाई को छुड़ाकर घर ले गए थे। अगले दिन से वे कभी काम पर नहीं गए। बिस्तर से उठते ही थसककर बैठ जाते थे। कहते थे-पैरों में बहुत दर्द रहने लगा है। 'शहर नहीं छोड़ना पड़े' के शुरुआती संघर्ष में मैंने दो नए ट्यूशन जरूर ढूँढ़ लिए थे पर वे काफी नहीं थे।

भाई पहले अँधा हुआ था और बहरापन उसे बाद में आया। ऐसा धीरे-धीरे हुआ

था। उसके अन्धेपन के शुरुआती दिनों में हमने महसूस किया था कि वह हमें हमारी आवाज से पहचानने की कोशिश करने लगा था। किसी भी परीक्षा में पास नहीं हो पाया। यह बताना थोड़ा मुश्किल है कि उसे यह अंधापन सिर पर लगी चोट से आया था या दिन-रात के अँधियारे कोने में पढ़ते रहने से।

गुलशन को उपयोग में लाने की मेरी आखिरी कोशिश भी नाकाम रही थी। उसकी बीमारी के शुरुआती दिनों में मैंने विकलांगता प्रमाणपत्र बनवाने की बात सोची थी ताकि कोई छोटी-मोटी नौकरी उसे मिल जाए। इस बात पर पिताजी और माँ बस आसमान देखते रहे थे। उन दिनों अीाी बहन थी तभी तो उसने कहा होगा-''क्या भइया, एकदम से?'' इस बाबत मेरी पत्नी ने कहा था कि आप कितने गये-गुजरे हैं, आपको शर्म आनी चाहिए। मैं बताना भूल गया हूँ, शायद कि तब तक मेरी शादी हो चुकी थी। शालू को लेकर मेरी पत्नी स्पष्ट है-''हम उतने बड़े-बड़े सपने नहीं देखेंगे।''

पत्नी से बिना बताए मैं शालू को लेकर ढेर सारे सपने देखता हूँ। शालू के सपनों के अलावा मेरे पास कुछ सपने अन्य भी हैं। जैसे एक सुबह मैं उठूँ और मैं 'गुलशन' हो गया रहूँ और गुलशन 'मैं' हो जाए। एक बार फिर वह देखने-सुनने लगे। मजा आ जाएगा। मेरा भाई गुलशन। क्योंकि मुझे उस नियम पर अगाध विश्वास है कि बेटे का चेहरा माँ से मिले तो वह भाग्यशाली होता है।

कभी-कभी इच्छा होती है कि वह सब सोचूँ जो गुलशन, बिना किसी से कुछ कहे, अनवरत सोचता रहता होगा। आखिर वह क्या करता होगा? उसे नींद भी आती होगी? कभी-कभी इच्छा होती है कि इन घटनाओं का ख्याल आते ही इन्हें किसी अन्य व्यक्ति पर प्रत्यारोपित करके सोचूँ-पर होता यह है कुछ ही दूर तक सोचने के बाद मुझे उस अन्य व्यक्ति पर दया आने लगती है।

पर आज छुट्टी के दिन के कारण कुशवाहा किराना वाले के यहाँ पूरा अखबार पढ़ना मुझे नया जीवन दे गया। क्या किस्मत है? मैं यहाँ बिस्किट लेने आया था। हर महीने एक ब्रिटेनिया टाइगर, दो रुपए वाला, ले जाता हूँ-क्योंकि हर महीने पुलिस के दो लोग मेरे भाई को देखने आते हैं, वह अपनी जगह पर है या नहीं। आस-पास के क्षेत्रों में कोई अपराध हो तो भी वे लोग उसे देखने आते हैं।

आज दो अक्टूबर की छुट्टी न होती तो मैं चौथे पन्ने के कोने में छपी खबर कहाँ पढ़ पाता जो जिंदगी भर मेरा संबल बनी रहेगी। खबर है कि नैनीताल के दूर-दराज क्षेत्र में एक लड़का पकड़ा गया है, जिसका नाम राजदीप है, उम्र उन्नीस साल, उसके

पास से कुछ नक्सली साहित्य भी बरामद हुआ है।

मुझे तो यह खबर आँखों के सामने घटती दिख रही है। अपने भाई के बारे में तमाम बातें राजदीप से बदलकर सोचने की कोशिश करूंगा तो मुझे राजदीप पर दया आएगी या नहीं ये तो बाद की बात है, पहले तो यह खबर-इस छोटी-सी खबर में यह भी लिखा है-राजदीप की माँ बड़े-बड़े अधिकारियों तक गुहार लगा रही है कि उसका बेटा निर्दोष है।

यह खबर पढ़ने के बाद अब मैं ढेर सारे काम निबटाऊँगा और अगर इसे भूला नहीं तो अगले कई दिनों तक यह भी चाहता रहूँगा कि राजदीप की माँ को कोई चोर की माँ न कहे।

चन्दन पाण्डेय

9 अगस्त 1982 को वाराणसी में जन्मे चन्दन पाण्डेय ने अपनी पहली ही कहानी से हिन्दी समाज का ध्यान खींचा। वागर्थ में पहली कहानी आई और फिर ज्ञानोदय, पहल, तद्‌भव, वसुधा में छाये रहे। पहला कहानी संग्रह 'भूलना' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। भारतीय ज्ञानपीठ का नवलेखन पुरस्कार मिल चुका है। 'भूलना' कहानी का एनएसडी में मंचन भी हुआ। कहानी सीधे कम्प्यूटर पर लिखते हैं। फिलहाल अपनी नौकरी के साथ कहानी लिखने में रमे हुए हैं।

वह बस धूल थी

–रणेन्द्र

सबसे पहले आपको पुराने अखबारों की फाईल दिखाता हूँ। यह रही 1999 की फाईल और उसमें 23 मार्च का यह अखबार। अब खेलवाले पन्ने को देखिए। एक धुँधली–सी तस्वीर दिख रही है। अरे भाई! इसी दिन अपनी महिला हॉकी टीम, एशिया कप जीतकर लौटी थी। गौर से देखिए, ठीक बीचोबीच रोजलीन तिर्की कैप्टन और उसकी दाहिनी ओर सटी लंबी–सी लड़की। जरा ध्यान से देखिए। शिल्पा शेट्टी। अरे नहीं। जेनिफर लापेज। धत्त महाराज! आप तो कॉलेजिया लड़कों जैसी बात बना रहे हैं। इंडियन हॉकी टीम में इन लोगों का क्या काम? अरे भई यही तो सोमा कुजूर है। जिसके बारे में इतनी देर से बताना चाह रहे हैं। टीम की सबसे तेज फारवर्ड। इसी के गोल से स्वर्ण पदक मिला।

अरे! आपका कोई दोष नहीं है। अपने महिला कॉलेज के गेट तक पहुँचते–पहुँचते रोज ऐसे बोल सुनने की आदत हो गई थी सोमा को।

गाँव प्रधान, पाहन बाबा उसे बिंदी पुकारते। धरती माँ की बेटी। जो खेलते–खेलते पाताल लोक जा पहुँची। वहाँ से लौटने का सवाल ही नहीं। यहाँ पेड़–पौधे सब व्याकुल। पंछी–पाखुर भी बिलखने लगे। धरती माँ भी हाहाकार करने लगी। लेकिन पाताल देवता मानने को तैयार नहीं। ऐसी वापसी होने लगे तो जन्म–मृत्यु के चक्र का क्या होगा? नहीं! संभव नहीं! बहुत मनावन। बहुत विनती। तब जाकर पसीजे पाताल देव। जाइऐ! साल में एक बार बिंदी धरती पर जाएगी। फिर क्या था? जिस दिन बिंदी धरती पर आती, सारे पेड़ पौधे नए–नए कोंपल फेंकते, गुलाबी–लाल। सखुआ गाछ फूलों से लद जाते। लोग खुशी में सरहुल पर्व मनाते। वहीं सरहुल पर्व वाली बिंदी,

महुआ टोली के सरपंच घर पधारी हो बाबा। बहुत खुशी की बात। बहुत–बहुत आशीर्वाद। कहानी सुनाते भावुक हो जाते पाहन बाबा।

लेकिन हवा में उड़ने वाली नहीं थी सोमा। उसने अच्छी–अच्छी खिलाड़िनों का हश्र देखा था। सुशांति गुड़िया से भी तो मिली थी। सुशांति ने नेशनल–इंटरनेशनल हॉकी में काफी नाम कमाया था। सुटफिकेट्स और मेडल्स की बारिश। किंतु नौकरी के नाम पर ठेंगा। अब वही पुराना धंधा रेजा–कुली का। माथे पर ईंट ढोती सुशांति को देख मन रोने–रोने को हो आया।

सो, सोमा के पाँव धरती पर ही रहते। उसे मालूम था उसके कॉलेज की पढ़ाई बाबा (पिता) को कितनी भारी पड़ रही थी। दस–बारह एकड़ जमीन की ही खेती। उसमें भी टाँड़–टुंगरी शामिल। दादा (बड़े भाई) का आटा चक्की घाटे में ही चलती। जरूरत से ज्यादा सीधे थे दादा।

कोयल नदी के किनार था उसका गाँव महुआ टोली, थाना गोविन्दपुर जिला शीतला। राजधानी से मात्र सत्तर–अस्सी किलोमीटर दूर। किंतु गाँव पहुँचने में लगते थे आठ घंटे। बरसात में पहुँचना असंभव। बहुत चौड़ी पाट कोयल की। लेकिन पुल कहाँ था? उराँव लोग जिन दो नदियों के किनारे बसे वे हैं कोयल और शंख। दोनों के चौड़े–चौड़े पाट और पुल नदारद। अब काहे बसे? तो इसका भी एक ठो किस्सा है सुनिए।

बहुत दिनों पहले दो उराँव बहनें मामा घर रहती थीं। उनके माँ–बाप नहीं थे किंतु मामा का प्यार उनकी कमी अखरने नहीं देता। लेकिन मामा जितना मानते मामी उतनी ही चिढ़ती। आषाढ़–सावन का महीना रहा होगा। मामी को आभास हुआ जबरदस्त आँधी–पानी आने वाली है। उसने जानबूझ कर दोनों भाँजियों को खेत पर मिट्टी कोड़ने भेज दिया। कुछ ही देर में दोनों आँधी–पानी में फँस गई। मामा भाँजियों को घर पर नहीं देखकर ढूँढ़ने निकले। बहुत खोजा। आँधी–पानी से थक हताश–निराश लौट रहे थे कि पगडंडी पर दो साँपों पर नजर पड़ी। साँपों ने मामा कहकर पुकारा, बताया वे ही उनकी भाँजियाँ हैं। किंतु अब लड़की नहीं बन सकतीं, नदी बनकर बहेंगी। अपने उराँव लोगों को कहिएगा कि वे हमारे किनारे ही बसें। वे उनका पालन–पोषण करेंगी। और उसी दिन से दो नदियाँ बहने लगी। उनका नाम उन दोनों बहनों के नाम पर कोयल और शंख पड़ा। उराँव लोग इन्हीं के किनारे बसे–बढ़े।

रोजलीन दो को टाटा कंपनी की अपनी नई–नई नौकरी और नई–नई शादी दोनों रूचने लगी थी। प्रैक्टिस में नागा। अब कैप्टन बनना तय था। कोच भी इशारा कर चुके थे। केवल घोषणा ही बाकी थी। अगले साल कॉमन वेल्थ में गोल्ड मेडल और उसकी

भी नौकरी पक्की। बी.एड. करने का भी इरादा था। उसे हॉकी के बाद पढ़ना-पढ़ाना ही भाता था।ञ और न जाने क्या-क्या सोचती सोमा शाम की प्रैक्टिस के बाद हॉस्टल लौट रही थी। थक कर चूर। पसीने से नहाई। पहुँचते ही ममेरे दादा दिखे। चेहरा देखते ही अनहोनी की आशंका हुई। आँखें फड़कने लगीं। सच में बज्जर गिरा था। बाबा नहीं रहे। धान रोपनी के लिए खेत में कादो कर रहे थे। थोड़ी शाम हो चली थी। कई लोग खेतों में थे। फिर भी कहाँ से आया वह काल। करिया गेहुँअन बाबा के पैरों के नीचे। अस्पताल भी नहीं पहुँच पाए। रास्ते में दम उखड़ गया।

बाबा नहीं हैं। कई दिनों तक विश्वास ही नहीं हुआ। लगा हाट-बाजार, पर-पहुनई करने गए हैं, लौट कर आ जाएँगे। धीरे-धीरे दुख का अहसास होने लगा। छाती में ऐंठन होती रहती। माथा घूमता रहता। कैसे चलेगा सब? किसके भरोसे घर-गृहस्थी? इतनी जल्दी जाने की भी क्या हड़बड़ी थी? बीमार-बीमार सी रहने लगी। जरूरी था कोई काम किया जाए। खाली बैठे रहने से बाबा की ज्यादा याद आती। स्कूल में पढ़ाना शुरू किया। बात खूब जमी नहीं।

भाई के साथ आटा चक्की पर बैठने लगी। केवल उसके बैठने पर ठीक हिसाब-किताब रखने से चक्की अच्छी आमदनी देने लगी। चार छः महीने में धान कूटने की भी मशीन आ गई। इसके बावजूद सोमा का मन नहीं लगता था। लगता उसका अपना एक स्कूल ही जिसमें ढेर सारे उछलते-कूदते फूलों की लहर। फूलों की एक झील आँचल में लहराती। नन्हें फूलों की हाथ में नन्हीं-नन्हीं हॉकी स्टीक।

मन में अपने स्कूल खोलने के सपनों का बीज-बिचड़ा बोए सोमा को तीन-चार माह ही हुए थे कि खबर मिली कुछ लोग गाँव में स्कूल खोलने के लिए जमीन खोज रहे हैं। साथ में एन.जी.ओ. भी चलाएँगे। चार लोगों में से एक आनंद भगत को तो गाँव वाले पहचान ही रहे थे। प्रखंड के उप-प्रमुख परमेश्वर भगत के लड़के, कहीं एग्रीकल्चर यूनिवर्सिटी में पढ़ते थे। टीम लीडर थे सोमनाथ। बेलागंज ब्लाक के। बाजारटाँड़ में ही घर था वहीं बाबूजी जनसेवक की नौकरी कर रिटायर हुए थे। एक वेटनरी डॉक्टर, रमेश उराँव और एक बाग-बागवानी वाले।

उपप्रमुख जी की बहुत इज्जत थी इलाके में। आनंद दा को भी सभी मानते थे। अखड़ा में बृहस्पतिवार को विचार हो रहा था। सोमा ने भी अपने आँचले वाली झील के मंजर दिखाए। उसके संतरंगी सपनों के रंगों से सबके चेहरे चमक उठे।

नावाटोली, सोमा के गुलाइंची टांड में स्कूल चल निकला। सरना विद्या मंदिर, तीन कच्ची कोठरियों में। बगल में ही थोड़ी दूर पर 'सरना सेवा संस्थान' के कच्चे-

पक्के कमरे भी धीरे-धीरे रूप धर रहे थे। रहने-खाने-पीने के भी कमरे बनने थे, सब धीरे-धीरे...।

सोमनाथ, आनंद दा और उनके दोस्त लोग हर हमेशा पानी की बात किया करते। हरदम यही चिंता कि बारह से पंद्रह सौ मिलीमीटर की बारिश कहाँ चली जाती है? आखिर अभी तक मात्र आठ प्रतिशत भूमि ही क्यों सिंचित है? चारों साथी पहाड़-टुँगरी घूमते। वर्षाजल का बहाव ढूँढ़ते रहते। कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे रोका जा सकता है? कहाँ गाछ लगाकर? कहाँ बस मेड़ चौड़ा करके, कहाँ मिट्टी बाँध से? ढेर-ढेर योजनाएँ। खूब बतियाते। खूब घूमते। आकर कागज पर डिजाइन बनाते। कुछ लिखते, आँकड़े भरते।

साथ बैठ-बैठकर सोमा को मालूम हुआ कि वे अचानक इस गाँव में नहीं आए थे। आनंद दा की मदद से खूब जानकारी ली थी। उनके अनुसार इस गाँव ने बहुत बर्बादी झेली थी। आगे भी कठिनाइयाँ आनेवाली थीं। पहाड़ी के ऊपर चौरस क्षेत्र पाट कहलाता था जिस पर बॉक्साईट के माइंस थे। ओपन कास्ट माइंस ने आस-पास मुरूम की टुँगरी खड़ी कर दी थी जो वर्षा जल बहाव के साथ नीचे धनहर खेतों की उर्वरा खत्म कर रही थी। जंगल की कटाई अलग। पहले सड़े-गले जंगल के पत्ते बहकर खेतों में आते थे तब मिट्टी काली थी ताकत से भरी हुई। कपास भी खूब होता। अब तो कपास स्वप्न हो गया और बुनकर जाति, चिकबड़ाईक उजड़ गई। और न जाने क्या-क्या?

अंत में, वही बात कि अगर पानी नहीं बचा तो यह आदिम-सभ्यता नहीं बचेगी।

सोमनाथ तो गजब थे। हर हमेशा अपने में गुम। खोए-खोए। कुछ सोचते या लिखते, डिजाइन बनाते। उसे याद नहीं कि कभी उसे गौर से भर नजर देखा हो। सोमा को चिंता होने लगी। जब से होश सँभाला उसे एक भी पुरुष ऐसा नहीं मिला जो उसे देखने के बाद दुबारा नहीं देखना चाहता हो। लेकिन सोमनाथ को देखकर उसे लगने लगा कि गाँव में रहते-रहते उसे आकर्षण खो दिया है। घर में बड़ा आईना था नहीं। भोरे-भोर नदी में नहाने गई और अपने बिंब को गौर से देखा। वह तो वैसी ही थी जैसी कॉलेज के दिनों में। इस सोमनथवा के ही दिमाग में कोई खोट थी। एकसुरा साला। पानी के सिवाय इसे कुछ सूझता ही नहीं। चेहरे पर इतना पानी है उसे दिख ही नहीं रहा। अलबलाहा है ई पगलेट। अलबलाहा कि अलबेला, मन ने टोका। क्या जाने?

साथ काम करते-करते साल भर हो गए। इस बीच टीम और भी बड़ी हुई। स्कूल में भी शिक्षक-शिक्षिकाएँ, बच्चे बढ़े। उसके सपने अब घुटरूनू चलने लगे थे।

बाबा के गुजरने का घाव इस स्कूल ने भर दिया। एक बात और उसने गौर किया कि सोमनाथ का थोड़ा ज्यादा ही ख्याल वह रखने लगी थी। उसे 'उन' पर बहुत दुलार आता। लगता कि वह अपने हाथों से रसोई पकाएँ, 'उन्हें' कौर-कौर खिलाए और गदबदा बच्चा बना दे। पढ़ाते-पढ़ाते भी रसोई में झाँक जाती। कभी-कभी सब्जी अपने हाथों, रच-रचकर पकाती। खाना पकानेवाली बूढ़ी आँचल मुँह में डालकर हँसती रहती। उसे समझ में नहीं आता यह बेमतलब क्यों हँसती है?

तभी एक दिन अचानक वह बूढ़ी की हँसी का रहस्य जान गई। आँय-हो बाबा! ई तो ईजूवन-वीजूवन की राजकुमारी और कोयल के किस्सा वाला हाल। राजकुमारी को बाग के खास पेड़ का आम पसंद आ गया जिसे कोई तोड़ नहीं पा रहा था। यहाँ तक कि पास से गुजरता राजकुमार भी ठिसुआ कर वापस हो गया। जैसे ही तोड़नेवाला आम तक पहुँचता, आम और ऊँचा हो जाता। अंत में डुगडुगी पिटाया जो भी आम तोड़ देगा उसी से राजकुमारी शादी करेगी। लेकिन कोई फायदा नहीं। पेड़ पर बैठे कोयल से देखा नहीं गया, उसने आम गिरा दिया। राजकुमारी ने जिद्द कर दी कि वह कोयल से ही शादी करेगी। माँ ने समझाया। भाभी ने समझाया। गाँव के बड़े-बूढे, पाहन-पुजार, मुंडा-महतो सबने समझाया। ना बेटा। ना बुच्चु। यह संभव नहीं। कोयल तो पंछी जात, आज इस डाल कल उस डाल। पंछी का क्या भरोसा। तुम राजकुमारी हो जिस राजकुमार को कहो हम उसे मना कर ले आएँ। लेकिन राजकुमारी ने खटवास-पटवास ले लिया। उसे तो यही वाला कोयल चाहिए। सोमनथवा कोयल। दुल्हा बनाएगी तो इसे ही नहीं तो क्वाँरी ही मरेगी। माँ आँचर पसार कर निकली। सबके दुआरे-दुआरे बेटी की खुशी की भीख। पाहन-पुजार पिघले। मुंडा-महतो माने। चार ठो खस्सी। सौ किलो चावल। गाँव-समाज को भोज। सबसे आशीर्वाद। किस्सावाली बात सच हो गई। राजकुमारी और कोयल की शादी। मड़वा में सखी-सहेलियों, भाभी-चाचियों ने गीत गाए। पेड़-पर्वत, नदी-झरनों ने सुर मिलाए। ...एक ठोपा सेन्दुरा पर पराया कर दी माँ ...तीन डाली हल्दी पर पराया कर दी माँ...

विदाई के समय राजकुमारी को बाबा की बहुत याद आई। कब का जमा हुआ बाँध टूटा। फटे कलेजे का विलाप। बच्चों जैसी फूट-फूट कर रोई।

नवाटोली के उस गुलईंची टाँड़ पर राजकुमारी की डोली उतरी। उस रात चाँदनी ज्यादा दुधिया थी। ज्यादा शीतल, ज्यादा चमक भरी। राजकुमारी चाँदनी-नदी में नाव खेने को बेकरार। वह कभी गुलईंची बनने की जिद कर रही थी तो कभी रातरानी बनने की। उसे बस खुशबू बनना था। देहहीन खुशबू। जिसे कोयल अपनी साँसों में भर ले

और सीने में सदा के लिए छुपा ले। ऐसे भी राजकुमारी का गोत्र था कुजूर, एक जंगली फूल। जिसके मकरंद अक्षत होते थे और खुशबू अंतहीन। बस नेह से सहेजने की जरूरत थी। साँसों की हरारत और पोरों की छुअन से इस कुजूर फूल में मांदर बजने लगते।

लेकिन अभी-अभी बच्चों-सी बिलखने वाली राजकुमारी को लेकर कोयल के मन में भारी शंका थी। लेकिन वह तो राजकुमारी थी जिसे न सुनने की आदत कहाँ? उसने कोयल के इंकार को इकरार ही समझा। और उसी रात राजकुमारी की पलकों से, होंठों से, पोर-पोर से कच्चे धान का दूध टपका। सारी रात टपकता रहा और नदी बन गया। मीठे दूध वाली नदी।

वैसे भी उराँव स्त्रियों के नदी बनने की पुरानी आदत ठहरी। लेकिन यह कच्चे धान के दूधवाली मीठी नदी घर-आँगन में सिमट कर नहीं रह सकी। वह चौखट से बाहर निकली। पाट चौड़ा हो होता गया। आसपास के गाँव समाते गए। जलछाजन का प्रोजेक्ट जमा करने के बाद टीम हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं थी। खुद से और लोगों के साथ मिल कर वर्षा बूंदों को रोकने की भरदम कोशिश शुरू हुई।

शुरू-शुरू में भारी दिक्कत। बरसों-बरस से ब्लॉक ऑफिस ने पंडित जी के प्रसाद जैसी योजनाएँ बाँटी थीं। मीठा वाला ईलाइची दाना। दु गो आप, चार दाना आप। आप भी ले ही लीजिए, काहे दूर खड़े हैं! नतीजा यह कि आजा-दादा-पुरखा-पुरनियों ने एक-एक धागा जोड़ कर समाज की जो चादर बुनी थी वह छितरा गई। एकदम चिथड़ा-चिथड़ा। धागा-धागा अलगाया हुआ। फिर से जोड़ने में बहुत मशक्कत। लेकिन मीठी नदी के जल ने बहुत काम किया। सोमा के जिम्मे औरतों के स्वयं सहायता समूह खड़ा करने का काम। तीन सालों में इन समूहों की औरतों के पॉल्ट्री-व्यवसाय ने राजधानी के बाजार पर कब्जा कर लिया। अब तो मुर्गीदाना की छोटी यूनिट भी अपनी। खर्चा घटा। आमदनी बढ़ी। वर्षा बूंदों ने धरती में जाकर अपने को सहेजा, सूखे कुओं और पोखरों से झांकने लगीं। पुरखा-पुरनिया के जमाने के आहर-पाईन भी जागने लगे। कच्चे धान के दूधवाली नदी की मिठास सबके जुबान को मीठा करने लगी।

ईजूवन-बीजूवन की राजकुमारी और कोयल की कहानी वाले राजकुमार को भी तो आना था। गोविंदपुर ब्लॉक में पहली बार आदिवासी ब्लॉक डेवेलॉपमेंट ऑफिसर, अनिल लकड़ा। यहीं आखिर पंचायत के अंबाटोले में ननिहाल था। अपने नाना-मामा लोग तो बड़े पोस्ट पर उनके गोतिया-नाता गाँव में थे। सगा-संबंधी, भगिना बीडीओ

का भारी स्वागत। बहुत खुशी। ऊपर नेहरू जी और बेरियर एल्विन की आत्मा परम तृप्त। आकाश से बहुत फूल बरसाए। इन दोनों का तो यही मानना था कि आदिवासी इलाके में बाहरी लोगों को कम–से–कम भेजा जाए। इनका प्रशासन इनके ही लोग चलाएँ। आज जाकर सपना पूरा हुआ।

बीडीओ अनिल लकड़ा बड़े उराँव परिवार से। माँ–पिता दोनों डॉक्टर। मौसा केंद्र में मंत्री रह चुके। सगे–संबंधी ऊँचे पोस्ट पर। देखने–सुनने में सुंदर। बहुत मीठी बोली, उतनी ही मीठी मुस्कान। ले बल्लैया, स्कीम रजिस्टर देखते ई मिठास–उठास हवा–मिठाई जैसा गायब। इतना–इतना आबंटन। एक साल में दो–दो करोड़। चेहरवे बदलने लगा। हुबहू कोरंगा राजा के किस्सावाला जादू।

बहुत पुराने जमाने की बात है कि इसी राज्य में एक राजा राज करता था, नाम था कोरंगा। एक दिन कोरंगा राजा अपनी सेना के साथ शिकार खेलने जंगल की ओर निकले। शिकार की खोज में घूमते–घूमते राजा एक महमहाते फूल पर मोहित हुए। गंध से मदमत्त भटकते, दीमक की बांबी में देह रगड़ी। चमत्कार हुआ, राजा बाघ में बदल गया। सेना डर कर भाग गई। राजा बहुत देर तक बाघ रूप में जंगल में भटकता रहा अचानक उसका शरीर 'होश' नामक वनस्पति से टकराया और अपने पुराने रूप में आ गया।

बीडीओ अनिल लकड़ा जैसे–जैसे स्कीम रजिस्टर और कैश बुक में डूबे नशा छाता चला गया। ज्योंही योजनाओं में जा कर देह रगड़ी, कमीशन झरने लगा। फिर क्या था! बी.डी.ओ, कोरंगा राजा की तरह बाघ में बदल गया। किंतु पुराने जमाने की तरह गर्जन–तर्जन से कोई भागा नहीं। ब्लॉक आफिस के स्टाफ जनमते, ऐसे–ऐसे कई बाघ–हुडार, सियार–बिलार देख चुके थे। देखते–देखते यह भी अंदाजा लगा लिया कि कौन जानवर कहाँ सहलाने से पोस मानता है। सो सब बाघावतार का तलवा चाटने, पूँछ सहलाने में लग गए। दौड़–दौड़ कर खुद ही शिकार ला–लाकर नयका कोरंगा राजा को पेश करने लगे।

तलवा चाटने, शिकार लाने में बेसी तेज थे पंचायत सेवक कामेश्वर सिंह। राजा के शिकार से बचे–खुचे पर ही जिंदगी। हुजूर! माई–बाप! ई जाँघ वाला मांसवा में थोड़ा सा इधरो। हे मालिक! कलेजिया में एक कट्टा।... दूर साला! भाग अभी।

नयका कोरंगा राजा की 'होश' वनस्पति गोविंदपुर ब्लॉक की सीमा के ठीक बाहर थी। जैसे ही जीप 'स्वागतम्' वाला साईनबोर्ड पार करती, वे बाघावतार से

मानवातार में वापस आ जाते। फिर वही मीठी मुस्कान, सुमीठे बोल।

सब पुराने ही ढर्रे पर चल रहा था। तभी 'सरना सेवा संस्थान' का जलछाजन का प्रोजेक्ट पास होकर आ गया। एकमुश्त राशि भी सीधे संस्था को। यही बात नयका कोरंगा राजा को अखर गई।

वैसे भी सोमनाथ उन्हें फूटी आँखों नहीं सुहाता था। कहाँ–कहाँ से बहल–दहल–उड़ल कोयल पंछी आकर इलाके की राजकुमारी को ब्याह लिया। जिस पर कायदे से उनका हक बनता था। ऐसा कभी नहीं हुआ कि जहाँ उनकी पोस्टिंग हो, वहाँ एक ठो पटरानी नहीं हो। गोविंदपुर में ही ई सब की दिक्कत। पटरानी होने लायक राजकुमारी को ई कोयलवा घोंसले में छुपाए था। ऊपर से कमीशनवाली खुराकी भी गायब। ई तो बाघ होने पर धिक्कार जैसी बात थी। कामेश्वर सिंह को एक धौल जमाया। ई तमाशा अब बंद होना चाहिए।

उधर राजकुमारी सोमा कुजूर और कोयल सोमनाथ की गृहस्थी में नए पात्रों का प्रवेश। तपती दुपहरिया में देखे कि सोमनाथ के माँ–बाबूजी हाजिर। बोरिया–बिस्तर के साथ। समूचा टोला हैरान। आँय–भाय अभी तलक कहाँ थे? न शादी में शामिल हुए न उसके बाद ताकबो किए कि कोई जीता है कि मरता है? अचानक पुत्रप्रेम कैसे उमड़ा। इसका जवाब तो सोमनाथ के पास था, लेकिन बोलना उचित नहीं। रिटायरमेंट तक उसके बाबूजी ने बी.डी.ओ. लोगों की चमचई और ठीकेदारी के अलावा किया ही क्या था? उनके सेवा किए हुए साहब लोग अब जिला के मालिक हो गए थे। इसीलिए जलछाजन की मोटी रकम संस्था को मिल रही है यह पता करना कौन कठिन काम था। जैसे दूध की गंध बिलार को लग जाती है वैसे ही पैंतीस लाख के आबंटन की गंध रामाशीष झा को लग गई थी। बेलागंज में बड़ा बेटा ओमनाथ की ठेकदारी जम ही गई थी। ई पैंतीस लाख में कुछो भेटा जाए तो क्या हर्ज?

इन्हीं लक्षणों से सोमनाथ ने पिता से एक तरह से संबंध तोड़ ही लिया था। पॉलिटेकनिक की पढ़ाई ट्यूशन करके पूरी की। डिप्लोमा पाए भी नहीं थे कि बेचने की तैयारी मुकम्मल। चुपके से घर से निकला सीधा अण्णा हजारे के यहाँ रायलसिंधे गाँव। वहाँ से गया, सब दो में सरिता–महेश के साथ काम करते आनंद भगत से भेंट हुई। उन्हीं के साथ महुआटोली। लगभग सात–आठ साल की दूरी को पैंतीस लाख की गंध ने मिनटों में पाट दिया।

आल–जाल, गुलेल–तीर, लस्सा–पिंजरा सबकी एकदम टंच व्यवस्था बहेलिया

कामेश्वर सिंह ने कर ली। इस बार कोयलवा को तो फँसना ही था। ठीक 'सरना सेवा संस्थान' से सटे नाला पर अट्ठाइस लाख के डैम का काम शुरू। मेठ–मुंश नवाटोली का ही दो ठो मनबढ लड़का। जो होगा समझ लेंगे। सिंहजी का पीठ पर पूरा हाथ। इधर संस्था के ऑफिस में खलबली। स्वीकृत जलछाजन क्षेत्र में मनमाना काम कैसे? जिला प्रशासन के साथ एग्रीमेंट है। खुद डीडीसी और बीडीओ ने भी साईन किया है।

दौड़े–दौड़े ब्लॉक आफिस। पहले बीडीओ साहब से समझा जाए। राजा साहब दूसरी दिशा में शिकार पर। भेंट नहीं होगी। टीम आगे बढ़ी। जिला में डीडीसी के चैंबर में। योजना स्वीकृति की लिस्ट से मिलान। न, नहीं है कोई भी योजना नवाटोली गाँव के नाम से स्वीकृत। डैम वह भी अट्ठाइस लाख का। हाँ! आपके ही ब्लॉक में दूसरे मौजे के लिए यह अठाइस लाख का डैम पास है लेकिन वह तो रामपुरहाट के नाला पर है। नवाटोली में कैसे बन सकता है?

दूसरे दिन फोटो के साथ कलक्टर के दुआर पर। यह गोविंदपुर बीडीओ कुछ भी कर सकता है। रोज चार शिकायतें उसके खिलाफ मिलती रहती है। इस बार कुछ करना होगा। एक जाँच टीम जाएगी।

बाघावतार भारी नाराज। क्या बूझ लिया है ई एन.जी.ओ. कि हम झुक जाएँगे। अरे! एक स्कीम पर आज झुकने का मतलब है कल सत्रह स्कीम पर झुकने के लिए तैयार रहना। तब तो हो चुकी बीडीओ गिरी। कमा लिए कमीशन। लड़ लिए अगला चुनाव। और खाली चुनाव की ही बात तो नहीं है, एक ठो भितरिया बात भी है। जी.टी. रोडवाली कोल्ड ड्रिंक की बड़की कंपनी को मीठे पानी का डैम चाहिए। वह भी सड़क से नजदीक। महुआ टोली के इस फुलझर नाला से नजदीक और कहाँ डैम बनता? एक सैन्ट्रो गिफ्ट में। चुनाव हारने पर एक्सक्यूटिव की नौकरी की सँभावना। ई गेम में दोनों हाथ में लड्डू।

एक तो बाघावतार को पूरा भरोसा था कि गोविंदपुर नक्सल प्रभावित एरिया के डर से कोई टीम आएगी ही नहीं, अगर आ भी गई तो उसका भी इंतजाम–बात हो जाएगा।

गोविंदपुर में नक्सली आतंक का एक अलग फंडा। अब यह ब्लॉक तीन जिला और दो–दो राज्यों के सीमाने को छूता था। और ईजूवन–बीजूवन जैसे ढेर सारे घने–घने वन। सो कॉमरेड भाई इस ब्लॉक को कोरीडोर बनाए हुए थे। सही मानें में 1989 से अब तक दो ऐक्शन किए थे। एक सिवाना पंचायत के जालिम मुखिया का रायफल–

बंदूक छीनना। दूसरे मंगरा कच्छप क्रिमनल की मुड़ी छोपाई जो पार्टी के नाम पर लेवी वसूल रहा था। लेकिन थाना को तो मौज–हो गई। सारा बड़ा क्राईम नक्सलियों के खाते में। जाँच से छुटकारा। ड्यूटी खत्म। डॉक्टर–अफसर–स्टाफ को फील्ड जाने से मुक्ति। बिना फोर्स के कैसे जाएँ? जिंदगी की गारंटी लीजिएगा? पेशेवर अपराधियों ने भी खाकी वर्दी सिलवा ली। एम.सी.सी. जिंदाबाद। करते घूमने लगे। नक्सल के नाम पर सबको आनंद–आनंद।

गोविंदपुर की सीमा में घुसते ही बीच जंगल में कटहल मोड़ पर जीप रोक दी गई जाँच टीम की। रोड पर बड़ा–बड़ा बोल्डर। ठीक पुलिया के पास। कहते हैं उस नाले में आज भी बाघ पानी पीने उतरते हैं। पूरी टीम को उतारकर जंगल में। गिन गिनकर हल्की–भारी पाँच–पाँच लाठियों की मार। जाते–जाते मुँह पर कपड़ा लपेटे गिरोह ने कट्टे से आसमानी फायरिंग की। एम.सी.सी. जिंदाबाद के नारे लगाए और घने जंगल में उतर लिए।

जीप पर जैसे–तैसे लदफद कर टीम वापस जिला मुख्यालय। दुहाई सरकार, दुहाई माई–बाप कहते कलक्टर साहब के पैरों पर। उधर आनंद दा और रमेशजी के कहने पर रात में नावाटोली अखड़ा में जुटान। बर्दाश्त करने को कोई तैयार नहीं। बरसती चाँदनी ने लड़कों को उन्मत्त कर दिया। भीड़ ज्वार–सी उठी और अट्ठाइस लाख डैम के एक–एक पत्थर को उखाड़ घर ले गईं। नींव भी भर दी गई। बालू भी चुटकी–चुटकी गायब। काम का कोई निशान ही नहीं बचा।

दूसरे दिन भोर–भोर अमित और महेंद्र ने सोमनाथ को यह खबर दी। अमित उराँव–महेंद्र भगत, गाँव के स्नातक लड़के। संस्था के कार्यकर्त्ता। यह ठीक नहीं हुआ। सोमनाथ नाराज। हमलोग फौजदारी करने यहाँ आए नहीं है। वैसे भी ताकत दिखा कर हम बीडीओ और कामेश्वर सिंह जैसे लोगों पर बीस नहीं पड़ सकते। सौ–सौ मन का बोझा माथा मन पर। क्या हो सकता है? क्या करना चाहिए? सब उसी में डूबे। लेकिन रात में कहाँ कोई उपाय काम आया? एम.सी.सी. जिंदाबाद के नारों के साथ फायङ्करग करती भीड़ सोमनाथ, आनंद भगत और रमेश उराँव सबको उठा ले गई। सबसे पहले सोमा को रस्सियों से बाँधा गया। आनंद–रमेश देर रात तक मींटिंग चलने के कारण आफिस में ही सोए थे। अमित–महेंद्र को गाँव से उठाया गया था। और वह हादसा हो गया। ऐसी चरम वारदात कि कोई सोच भी नहीं सका था। पलक झपकते घुप्प अँधेरा। पाँच–पाँच विधवाओं के विलाप से धरती काँप उठी। रात की आँखों में नींद कहाँ? गाँव–जवार से ठट्ठ–के–ठट्ठ भीड़ जुटने लगी। सब ठकमकाए। औरत बच्चे फूट–

फूटकर रोतेक हुए। अनर्थ हो गया।

सोमा तो बार-बार बेहोश हो जा रही थी। माँ बननेवाली थी। देह कमजोर हो चली थी।

कलेक्टर को नक्सलियों द्वारा की गई हत्याओं, उग्रभीड़ द्वारा प्रखंड कार्यालय में की गई तोड़-फोड़, आगलगी ओर लाठीचार्ज की खबर एक साथ मिली। झलझलाए हुए एस.पी. को फोन लगाया, सबसे पहले बीडीओ गोविंदपुर पर एफ.आई.आर. करवाइये। जाँच टीम पर अटैक उसी के इशारे पर हुआ था। आपने भी कन्फर्म किया था। यह घटना भी उसी डैम से जुड़ी है। तुरंत एक्शन लीजिए। गोविंदपुर थाना प्रोसिड कीजिए। मैं भी पहुँचता हूँ।

लेकिन प्रोमोटिव एस.पी. साहब ने गोविंदपुर थाना के बदले आई.जी. साहब को फोन किया। वे उनके उपकारों के भार से दबे थे और गोविंदपुर बीडीओ, आई.जी. साहब के रिलेटिव। सो कुछ तो नमक का हक अदा करना था।

उसे बाद तो कलेक्टर साहब के फोन ने चुप होने का नाम ही नहीं लिया। ऐसे-ऐसे फोन राजधानी से आने लगे कि लगा आसमान टूट पड़ा हो। हर फोन के बाद वे कमर से झुकते जा रहे थे। आखिर हार कर गाड़ी निकलवाई और अपने पुराने अड्डे, फाॅरेस्ट डाकबंगला की ओर बढ़ गए। आज विरह गीत सुनने थे।

सोमा की आँखें खुली तो अपने को माँ के घर में पाया। दो दिन बीत चुके थे। नहीं, तबाही की दो रातें। ससुर खटिया पर लदवाकर पहुँचा गए थे। धमका भी गए थे कि उसके हीरे जैसे बेटे को खा गई है ई डायन। दुबारा दिखी तो उनसे बुरा कोई नहीं होगा। सोमा तक बातें पहुँची भी या नहीं, क्या मालूम? वह तो सूनी आँखों से आकाश निहार रही थी। शायद उसका कोयल दिख जाए। क्यों अकेला छोड़ कर चला गया? जिंदगी राख दिख रही थी। अब जीने का कोई मतलब ही नहीं था। यह गभ्र भी भार। कोयल ने जाते-जाते उसके पिंजरे का भी दरवाजा खोल दिया था।

भाभी ने अखबार लाया तो थोड़ी सचेत हुई। नक्सलियों द्वारा की गई हत्या, लेवी वसूली का मामला बताया जा रहा था। मृतकों में सोमनाथ के अविवाहित होने पर भी जोर दिया गया था। गुस्से की एक लहर। अगर सोमनाथ क्वाँरा था तो वह क्या थी? यह जो भीतर पल रहा था उसकी हैसियत क्या थी? वह बहू-बहू कहकर सास का आगे-पीछे डोलना। अपने हाथों हलुआ बना-बनाकर खिलाना सब नाटक था?

गर्भवती बहू को घर से निकालने की उनके यहाँ पुरानी परंपरा थी। उनके भगवान

राम को जब शर्म ही नहीं आई तो इन्हें क्या ग्लानि।

तब तक टोला के लोग जुटने लगे। खबर मिली कि उसके जेठ ओमनाथ ने आकर संस्था पर कब्जा कर लिया है। ससुर घूम-घूमकर आवेदन दे रहे हैं। हत्या की जाँच, नौकरी, मुआवजा के साथ यह भी जोड़ा गया था कि एक गलत औरत पीछे पड़ी है जो अपने को स्वर्गीय बेटे की पत्नी बता रही है।

ससुर शंतरंज खेलने को कमर कसे तैयार। सोमा कलक्टर के दुआर, तो वे बूढ़ी संग राजधानी-शहीद इंजीनियर सोमनाथ झा के बूढें-लाचार माँ-बाप का दुख तो सबको बताना ही होगा। ...बताने को साथ में जिला के चार-चार मातवर नेता। पाकिट जितना गरम, दुख का साईज उतना ही बड़ा। राज्यपाल-मुख्यमंत्री से लेकर सांसद-विधायक तक हर मंदिरा में माथा नेवाई।

राजधानी से शेरछाप चिट्टियों की ऐसी आँधी चली कि ढंक गई सोमा कुजूर।

कुछ माह बाद चुनाव की घोषणा हुई। पुराने कई अफसर विदा हुए। नई कलेक्टर मैडम उत्साह से भरी। आए नामी आदिवासी-ऑफिसर डी.एस.पी. प्रेम प्रकाश पन्ना।

माँ बनी सोमा की गोद में दो माह की बच्ची। कोने की बेंच पर बैठी गुमसुम सोमा की उदासी अब गूँजने लगी। पन्ना साहब जब भी सोमा को देखते कुछ घुमड़ने लगता भीतर, आँखों को रूमाल की जरूरत पड़ती। सोमा के संगी-साथी, हित-कुटुम्ब भी सक्रिय हुए। कहाँ-कहाँ से प्रमाण जुटाए पन्ना साहब ने। कलक्टर मैडम की जबरदस्त मुहर। अनुकम्पा समिति की अनुशंसा मिली। लगा मुआवजा और नौकरी मिली ही मिली। संस्था की लड़ाई भी लड़ लेगी सोमा। वर्षा-बूँद सहेजने के स्वप्न फिर जगेंगे।

लेकिन शाम होते-होते बूढ़ा झा कोर्ट का आर्डर ले आया। चूँकि विवाह ही वैध नहीं तो सोमा कुजूर मृत्तक की उत्तराधिकारिण कैसे? आदिवाासी विवाह प्रथाओं को अभी तक कानूनी मान्यताएँ प्राप्त नहीं। सप्तपदी का कोई प्रमाण नहीं। अत: मुआवजा और नौकरी वैध उत्तराधिकारी भाई ओमनाथ को।

पाला मार गया। सब ठंढा। सोमा की तरफ ताकने-बतियाने में लोग डरने लगे। न जाने कौन-सी बात कंटेंप्ट ऑफ कोर्ट मान ली जाए।

सोमा के अंदर की आग भी अब बुझने लगी। रेत के बगूले अब साफ उड़ते दिखाई दे रहे थे। जीने का कोई मकसद नहीं रहा। बच्ची की छूअन भी पुलक नहीं जगाती। खाना-पीना छूट गया। लगा पिंजरे का दरवाजा पूरे खुल गया।

चुनाव के दिन नजदीक आने लगे। कलक्टर मैडम भी दूसरी बिल्डिंग के कन्ट्रोल रूप में बैठने लगीं। सारा ऑफिस निर्वाचन-शाखा की कोनेवाली कोठरी में सिमट गया। इतनी गहमा-गहमी। इतना काम। सोमा सबके ध्यान से ही उतर गई। सब आपाधापी में। ड्यूटी जंगल एरिया में न पड़े। लैंड माइंस का खतरा कौन ले? इस हड़बोंग में सोमा के संगी-साथी, हित-कुटुम्ब भी गुम। सब सोमा को भूल गए। सोमा भी सोमा को भूलने लगी।

लगातार दो रात सोमा घर नहीं लौटी तो मुँह अँधेरे, घबड़ाएँ भाई-भाभी पहुँचे। गरम-गरम भात पका कर लाई थी भाभी। खा लो बुच्ची। बस एक कौर बेटा। हारना नहीं है। देह-समांग बचाकर रखना है। सिनगी दीदी के वंशज है हम। तीन-तीन बार मुगलों को हरा रोहतास किला बचानेवाले। छोटी-सी हार को जी से मत लगाओ बुच्ची। हम सब साथ हैं। कौर-कौर खिलाना चाहा। किंतु गले के नीचे उतरा ही नहीं। सब बाहर। ठीक-ठीक होश नहीं। गोद में बच्ची की हालत खराब। सोमा को साथ ले चलने की कोशिश भी सफल नहीं। पहचान ही नहीं पा रही। आभासा अब ज्यादा दिनों का साथ नहीं है। छाती लगा कर फूट-फूट कर रो पड़ी भाभी। लेकिन जाना पड़ा। बच्ची को हर हाल में बचाना था। लोगों को जुटा सोमा को भी हॉस्पीटल ले जाना...।

पास के महुआ पेड़ ने सुनी रूलाई। धीरे-धीरे सखुआ, सेमल, पलाश, गुलईंची सबको मालूम हो गई कि धरती माँ की बेटी बिंदी पाताल लौटने की तैयारी में। पखेरूओं ने सरना माई को खबर दी। हूक-सी उठी धरती माई के सीने में। ले ले एक करवट नष्ट-भ्रष्ट कर दे सब। ...अपनी बेटी को अंकवारी में भरने को कसमसाने लगी सरना माई।

सोमा मन-ही-मन माफी माँग रही थी अपनी शंख दीदी....कोयल दीदी से। दीदी हमने भी बहुत कोशिश की तुम्हारी तरह नदी बनने की...नहीं बन पाई बनते-बनते रह गई। अब यह खाली रेत...इसका क्या करें? हो सके तो माफ कर देना।

विदाई का समय पास आ रहा था। पेड़ों के पत्ते झड़ गए। पत्ते बेसब्री से सोमा की देह को ढँकने की कोशिश कर रहे थे। मानो पंछी को उड़ने से रोक लेंगे। उधर मतपत्रों की उछाल से अनिल लकड़ा आकाश तक पहुँचे। जिंदाबाद की आवाज गूँजी। इधर सखुआ पत्तों ने सोमा की पथराई आँखों को ढँक लिया।

सोमा कुजूर...एक आदिवासी स्त्री...एक संस्कृति...एक आदिम सभ्यता...खत्म हो गई...जैसे...रेड इंडियंस...जैसे डोडो पंछी...जैसे एक नदी।

कहते हैं वहाँ उस बेंच पर सखुआ पत्तों के नीचे बस धूल थी।

रणेन्द्र

युवा लेखक रणेन्द्र ने कविताएं और कहानियां समान रूे लिखी हैं। कथादेश कहानी प्रतियोगिता 26 में प्रथम स्थान। झारखण्ड एनसाइक्लोपीडिया का चार खण्डों में सम्पादन। 'रात बाकी' (कहानी संग्रह) के अतिरिक्त एक उपन्यास 'गलोबल गांव के देवता' प्रकाशित है। एक कविता संग्रह शीघ्र प्रकाश्य है। आदिवासी समाज का विशेष अध्ययन।

पेड़ों के पत्ते झड़ गए, पत्ते बेसब्री से सोमा की देह को ढंकने की कोशिश कर रहे हैं मानो पंछी को उड़ने से रोक लेंगे। उधर मतपत्रों की उछाल से अनिल लकड़ा आकाश तक पहुँचे, जिदाबाद की आवाज गूँजी। इधर सखुआ पत्तों ने सोमा की पथराई आँखों को ढंक लिया, सोमा कुजूर...एक आदिवासी स्त्री ...एक संस्कृति...एक आदिम सभ्यता...खत्म हो गई...जैसे रेड इंडियंस...जैसे डोडो पंछी...जैसे एक नदी...कहते हैं वहां से बेंच पर सखुआ पत्तों के नीचे धूल थी।